जैनतत्त्वमीमांसा

लेखक और सम्पादक

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन मन्दिर

२/३८ भदैनी, वाराणसी

आत्म-निवेदन

लगभग तीन वर्ष पूर्व जबलपुर अधिवेशनके समय अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषदने एक प्रस्ताव पारित कर निश्चय-व्यवहार और निमित्त-उपादान आदि विषयोंके सांगोपांग विशद विवेचनको लिए हुए एक निबन्ध लिखे जानेकी आवश्यकता प्रतिपादित की थी। पहले तो मेरा इस ओर विशेष ध्यान नहीं गया था किन्तु इसके कुछ ही दिन बाद जब कलकत्तानिवासी प्रियबन्धु वंशीधरजी शास्त्री, एम०ए० ने मेरा ध्यान इस ओर पुनः पुनः विशेषरूपसे आकृष्ट किया तब अवश्य ही मुझे इस विषयपर विचार करना पड़ा। प्रस्तुत पुस्तक उसीका फल है।

पुस्तक लिखे जानेके बाद अपना कर्तव्य समझकर सर्वप्रथम मैंने इसकी सूचना विद्वत्परिषदको दी। फलस्वरूप मेरे ही नगर बीना इटावामें सब विद्वानोंकी सम्मति पूर्वक विद्वद्गोष्ठीका जो प्रसिद्ध आयोजन हुआ उसमें समाजके लगभग ४२ विद्वानोंने और कतिपय प्रमुख त्यागी महानुभावोंने भाग लिया। उनमेंसे कुछ प्रमुख त्यागी और विद्वानोंके नाम इस प्रकार हैं—१ श्रद्धेय पं० वंशीधरजी न्यायालंकार, २ श्रीमान् ब्र० हुकमचन्दजी सलावा, ३ श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी, ४ श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी, ५ श्रीमान् पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ इन्दौर, ६ श्रीमान् पं० दयाचन्दजी शास्त्री सागर, ७ श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, ८ श्रीमान् प्रो० खुशहालचन्दजी एम० ए०, साहित्याचार्य वाराणसी, ९ श्रीमान् पं० नाथूलालजी संहितासूरि इन्दौर, १० श्रीमान् पं० लालबहादुर जी एम०ए०, साहित्याचार्य दिल्ली, ११ श्रीमान् पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना, १२ श्रीमान् पं० बालचंदजी शास्त्री सोलापुर, १३ श्रीमान्

डा० राजकुमारजी एम० ए०, साहित्याचार्य आगरा, और १८ श्रीमान् पं० अभयचन्द्रजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य विदिशा आदि।

विद्वद्गोष्ठीका कार्यक्रम प्रसिद्ध श्रुततिथि श्रुतपंचमीसे प्रारम्भ होकर लगभग एक सप्ताहका रखा गया था। उसमें प्रस्तुत पुस्तकके वाचनके साथ विविध विषयोंपर सांगोपांग चर्चा होकर अन्तमें विद्वत्परिषदकी कार्यकारिणीने इस सम्बन्धमें सर्वसम्मतिसे एक प्रस्ताव पारित किया। प्रस्ताव पं० दयानन्दजी शास्त्री सागरवालोंने उपस्थित किया था। तथा उसका समर्थन और अनुमोदन श्रीमान् पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ और ब्र० हुकमचंदजीने किया था। पूरा प्रस्ताव इन शब्दोंमें है—

'भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के जबलपुर अधिवेशनके प्रस्ताव संख्या २ से प्रेरणा पाकर माननीय पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसीने निमित्त-उपादान आदि विषयोंपर शोधपूर्ण स्वतन्त्र पुस्तक लिखी है। शास्त्रीजीकी इच्छा थी कि इस पुस्तकपर भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् के द्वारा आयोजित विद्वद्गोष्ठीमें विचार विनिमय हो। तदनुसार दि० जैन समाज बीना सागरने श्रुतपंचमीसे ज्येष्ठ शुक्ला १२ (३० मईसे ६ जून तक) अपने यहाँ विद्वद्गोष्ठीका उत्तम आयोजन किया। दि० जैन समाजके वर्तमान इतिहासमें यह पहला अवसर था जब इतने समय तक ५ घंटे प्रतिदिन सब विचारोंके विद्वानोंने मतभेद होनेपर भी महत्त्वपूर्ण विषयोंपर गम्भीरता, तत्परता तथा सौहार्दपूर्वक विवेचन दिये और उस अवसरपर अनेक सुझावोंका आदान-प्रदान किया गया। यह कार्यकारिणी शास्त्रीजी द्वारा पुस्तक लेखनमें किये गये अथक परिश्रमकी सराहना करती है।

प्रस्तुत पुस्तकका नाम बहुत कुछ सोच विचारकर और श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रभृति विद्वानोंसे सम्मति मिलाकर 'जैनतत्त्व-मीमांसा' रखा है जो उसमें प्रतिपादित विषयके अनुरूप है। इसका

'प्राक्कथन' समाजमान्य प्रसिद्ध विद्वान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीने लिखा है। मेरी समझसे अपने प्राक्कथनमें उन्होंने बड़े ही व्यवस्थित ढंगसे नपे-तुले शब्दोंमें उन सभी विषयोंकी चरचा कर दी है जिनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत पुस्तकमें किया गया है। प्राक्कथनमें पण्डितजीने और भी अनेक विषयोंकी प्रासंगिक चरचा की है। प्रसंगसे मेरे विषयमें भी दो शब्द लिखे हैं। मैं उनका किन शब्दोंमें आभार मानूँ यह समझके बाहर है। पण्डितजीके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हुआ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वस्तुतः मुझमें प्रशंसाके योग्य एक भी गुण नहीं है। दूसरेको बढ़ावा देना इसे उनकी सहज प्रकृति ही कहनी चाहिए। उनकी ओरसे हमें प्रायः प्रत्येक कार्यमें प्रोत्साहन और सहयोग मिलता आ रहा है। उसका यह भी एक उदाहरण है।

यहाँ इतनी बात विशेषरूपसे उल्लेखनीय है कि 'अशोक प्रकाशन मन्दिर' इस नामसे प्रस्तुत पुस्तकके प्रकाशनका भार मैंने स्वयं वहन किया है। यदि अनुकूलता रही और उचित सहयोग मिल सका तो कविवर बनारसीदासजी, कविवर दौलतरामजी, कविवर भूधरदासजी, कविवर भैया भगवतीदासजी, कविवर भागचंदजी आदि प्रौढ़ अनुभवी विद्वानोंने अध्यात्मके रहस्यको प्रकाशमें लानेवाला जो भी साहित्य लिखा है उसे संकलित करके योग्य सम्पादन और टिप्पण आदिके साथ इस नामसे प्रकाशित करनेका मेरा विचार है। तथा इसी प्रकारका जो भी संस्कृत प्राकृत साहित्य होगा उसे भी इसी नामके अन्तर्गत यथावसर प्रकाशित किया जायगा। इतना अवश्य है कि यह स्वयं कोई संस्था नही है और न इसे संस्थाका रूप देनेका मेरा विचार है, अतएव जिन महानुभावोंके सहयोगसे यह साहित्य प्रकाशित होगा वह प्रकाशित होनेके बाद उनके स्वाधीन करता जाऊँगा। अध्यात्म जैनधर्मका प्राण है और ऐसे साहित्य से उसके रहस्यके प्रकाशमें आनेमें सहायता मिलती है तथा साहित्यका यह प्रमुख अंग पूरा होना चाहिए मात्र इसी पुनीत अभिप्रायसे मेरी इसे

व्यवस्थित सम्पादन संशोधनके साथ प्रकाशित करनेकी भावना है, अन्य कोई हेतु नहीं है। तथा इसी भावनावश यह पुस्तक अति स्वल्प मूल्यमें सर्व-साधारणके लिए सुलभ रहे इसलिए मैंने इसका मूल्य मात्र १) रखा है। इससे लागतमें जो भी कमी होगी उसकी भविष्यमें पूर्ति हो जानेकी आशा है।

इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तकका प्रारम्भसे लेकर उसके प्रकाशित होने तकका यह संक्षिप्त इतिहास है। इसमें पूर्वमें उल्लिखित विद्वान्, त्यागी तथा अन्य प्रगट और अप्रगट जिन-जिन पुण्य पुरुषोंका हाथ है उन सबका मैं आभारी ही नहीं कृतज्ञ भी हूँ। अब तो यह पुस्तक प्रकाशित होकर सबके समक्ष आ ही रही है। हमें भरोसा है कि मार्गप्रभावनाके लिए प्रवचन भक्तिसे प्रेरित होकर किये गये इस मंगल कार्यमें अबतक हमें सबका जो उत्साह पूर्ण सहयोग मिला है, उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होगी। मोक्षमार्गमें जो मेरी अनन्य अभिरुचि है यह उसीका फल है। निश्चयसे इसमें मेरा कर्तृत्व नामको भी नहीं है। इसलिए उसी अभिप्रायसे तत्त्वजिज्ञासु इसे स्वीकार करें।

२/३८ भदैनी,
वाराणसी

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
२०–८–६०

प्राक्कथन

जैनधर्म 'जिन' का धर्म है। जिन वे हैं जिन्होंने अपने विकारों पर पुरुषार्थ द्वारा विजय प्राप्त कर निज स्वरूप प्राप्त कर लिया है। जैनधर्म का मुख्य नाम आत्मधर्म है। यह तो आगम, अनुभव और युक्तिसे ही सिद्ध है कि संसारमें जड़ और चेतन जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वतन्त्र हैं। जो शरीर संसारी जीवके साथ बाह्य दृष्टिसे एकक्षेत्रावगाही हो रहा है वह भी पृथक् है। वस्तुतः इस सनातन सत्यका बोध न होनेसे ही यह जीव अपने को भूला हुआ है। उसके दुखका निदान भी यही है। यद्यपि यह संसारी जीव दुखसे मुक्ति चाहता है, परन्तु जब तक आत्मा-अनात्माका भेदविज्ञान होकर इसे ठीक तरहसे अपने आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती तब तक इसका दुखसे निवृत्त होना असम्भव है। सबसे पहले इसे यह जानना जरूरी है कि मेरे ज्ञान-दर्शनस्वभाव आत्मासे भिन्न अन्य जितने जड़-चेतन पदार्थ हैं वे पर हैं। उनका परिणमन उनमें होता है और आत्माका परिणमन आत्मामें होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको बलात् नहीं परिणमा सकता। यद्यपि काकतालीय न्यायसे कभी ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाता है कि हम पदार्थका जैसा परिणमन चाहते हैं और उसके लिए प्रयत्न करते हैं, पदार्थका वैसा परिणमन होता हुआ देखा जाता है, इसलिए हम मान लेते हैं कि इसे हमने परिणमाया, अन्यथा इसका ऐसा परिणमन न होता। किन्तु यह मानना कोरा भ्रम है और यही भ्रम संसारकी जड़ है। अतएव सबसे पहले इस संसारी जीवको अपने आत्मस्वरूपकी पहिचानके साथ इसी भ्रम को दूर करना है। इसके दूर होते ही इसके स्वावलम्बनका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। स्वावलम्बनका मार्ग कहो या मुक्तिका मार्ग कहो, दोनों कथनों का एक ही अभिप्राय है। अतीत कालमें जो तीर्थंकर सन्त महापुरुष हो

गये हैं वे स्वयं इस मार्गपर चलकर मुक्तिके पात्र तो हुए ही। दूसरे संसारी प्राणियोंको भी उन्होंने अपनी चर्या और उपदेश द्वारा इस सन्मार्ग के दर्शन कराये।

यह तो अतीत कालकी बात हुई। वर्तमान युगकी दृष्टिसे यदि विचार करते हैं तो इस युगमें भी ऐसे अगणित सन्त महामुनि हो गये हैं जो स्वयं तीर्थंकरोंके मार्गपर चलकर अपने उपदेशद्वारा उसका दर्शन कराते आ रहे हैं। उनमें परम पूज्य कुन्दकुन्द आचार्य प्रमुख हैं। उनके द्वारा प्रणीत समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और नियमसार आदि ग्रन्थ संसारकी चालू परिपाटीसे भिन्न आत्मस्वरूपका दर्शन कराते हैं। उनके इन उपदेशोंसे लौकिक जन बिचकते हैं। उन्हें ऐसा मालूम पड़ता है कि जिन आधारों पर हम अपना अस्तित्व मानते आरहे हैं वे खिसक रहे हैं। उनके खण्डित हो जाने पर हम निराधार हो जावेंगे और हमारे अस्तित्वका लोप हो जावेगा। पर उनका यह भय वृथा है। वास्तविक खतरा तो परके आश्रयमें ही है। उसे तो अनादिकालसे उठाते आये। अब तो 'स्व' की भूमिका पर आनेकी बात है। आत्मामें स्वाधीन सुखका विकाश उसीसे होगा। यह हम मानते हैं कि इस जीवकी अनादिकालसे परावलम्बनकी वासना बनी हुई है, इसलिए उसे छोड़नेमें दुख होता है। परन्तु स्वाधीन सुखको प्राप्त करनेके लिए पराधीनताका त्याग करना ही होगा। स्वाधीन सुखको प्राप्त करनेका अन्य कोई मार्ग नहीं है। इस दृष्टिसे आचार्य महाराजने अपने ग्रन्थमें जो तात्त्विक विवेचन किया है वह जैनधर्मका प्राणभूत है। अन्य समस्त आचार्यो ने जैनधर्मके सिद्धान्तों, आचारों और विचारोंके विषयमें जो कुछ भी लिखा है उसकी आधार शिला आचार्य कुन्दकुन्दकी तत्त्वप्ररूपणा ही है। इस संसारी जीवको शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि उनके बताये हुए मार्गपर चलनेसे ही होगी, इसकी प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। इस दृष्टिसे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस विषयका

सरल सुबोध भाषामें स्पष्टीकरण करनेके लिए तथा अन्य अनुयोगोंके शास्त्रोंमें प्रतिपादित विषयोंका अध्यात्मशास्त्रके साथ कैसे मेल बैठता है इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए एक पुस्तक लिखी जाय। प्रसन्नताकी बात है कि भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ और उसने अपने जबलपुरके अधिवेशनमें इस आशयका एक प्रस्ताव पारित कर विद्वानोंका इस पुनीत कार्यके लिए आह्वान किया।

उक्त आधारपर सिद्धान्तशास्त्रके मर्मज्ञ वेत्ता श्रीमान् पण्डित फूलचन्द्रजी सि० शा० वाराणसीने इस ओर ध्यान देकर यह 'जैनतत्त्वमीमांसा' पुस्तक की रचना की है। पण्डितजी जैन सिद्धान्तके मननीय उच्चकोटिके विद्वानों में गणनीय विद्वान हैं! इन्होंने दिगम्बर जैनाचार्योंद्वारा लिखित मूल सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागमका अनेक वर्षोतक अध्ययन मनन किया है। तथा ग्रन्थराजका हिन्दी भाषामें भाषान्तर सम्पादन किया है। अलभ्य दर्शनशास्त्रके योग्य माने जानेवाले ग्रन्थोंको और उनकी महान् विस्तृत गम्भीर संस्कृत-प्राकृत टीकाओंको हिन्दी भाषामें सुगम सुबोध शैलीमें प्रतिपादन करना सरल कार्य नहीं है। इस समय भी इनके द्वारा कसाय-पाहुड (जयधवला) और मूलाचारके भाषान्तरका कार्य हो रहा है। ऐसे अनुभवी ज्ञानी विद्वान्की लेखनीसे लिखा जाकर प्रस्तुत ग्रन्थ जनताके सामने आ रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें १२ अधिकार हैं। उनके नाम ये हैं—१ विषयप्रवेश, २ वस्तुस्वभावमीमांसा ३ निमित्तकी स्वीकृति, ४ उपादान-निमित्तकारण-मीमांसा, ५ कर्तृकर्ममीमांसा, ६ षट्कारकमीमांसा, ७ क्रमनियमित-पर्यायमीमांसा, ८ सम्यक् नियतिस्वरूपमीमांसा ९ निश्चय-व्यवहारमीमांसा १० अनेकान्त-स्याद्वादमीमांसा, ११ सर्वज्ञस्वभावमीमांसा और १२ उपादान-निमित्तसंवाद।

प्रत्येक अध्यायमें वर्णित विषय अपनेमें पूर्ण है। विषय प्रतिपादन

अनेक उच्चकोटिके आगम, दर्शन, न्याय आदि ग्रन्थोंके प्रमाण देकर किया गया है। अनेक महान् ग्रन्थोंके जो प्रमाण प्रस्तुत किए गए है और उनके आधारसे जो तत्त्व फलित किये गये हैं वे मेरी श्रद्धानुसार वर्तमानमें तत्त्वजिज्ञासुओंके वहुतसे उलझे हुए विचारोंके सुलझानेमें मार्गदर्शन करते हैं। साथ ही अनेक धर्मग्रन्थोंमें कहाँ किस दृष्टिकोणसे तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है इसे समझनेमें सहायता करते हैं। इस दृष्टिसे इस ग्रन्थकी रचना वहुत ही उपयोगी हुई है।

इस वर्ष वीना इटावा (सागर) की जैन समाजके आमन्त्रण पर विद्वत्परिषदने श्रुतपञ्चमीके पुण्य अवसर पर विद्वद्गोष्ठी (ज्ञानगोष्ठी) का आयोजन किया था। उसमें एक सप्ताह तक इस पुस्तकका सांगोपांग वाचन हुआ जिसमें सव विषयोंके जानकार प्रौढ़ विद्वानों व त्यागियोंने भाग लिया था। चरचा होते समय अनेक नगरोंके अन्य गण्यमान्य सज्जन भी उपस्थित रहते थे। प्रसन्नता है कि गोष्ठीके समय दर्शन और न्याय शैलीसे विविध दृष्टिकोण एक दूसरेके सामने आये। उन्हें विद्वानोंने समीपसे समझा और उनका परस्परमें आदान-प्रदान किया। परस्पर वात्सल्य की भावनाको वढ़ाते हुए वीतराग कथाके रूपमें जिस स्नेह और श्रद्धापूर्ण वातावरणमें यह गोष्ठी हुई उसका वहुत वड़ा मूल्य है। परस्पर तत्त्व-चरचाका वीतराग प्रतिपादित मार्ग क्या हो सकता है यह उसका सम्यक् उदाहरण है। हमने अपने जीवनकालमें विद्वानोंकी इस प्रकारकी चरचा कभी न देखी और न सुनी। मैं समझता हूँ कि सैकड़ों वर्ष पूर्व भी कभी ऐसा संगठित धार्मिक चरचा सम्मेलन हुआ होगा यह हमारी जानकारीमें नहीं आया। सव विद्वानोंका योगदान इसका मुख्य कारण रहा है यह तो है ही साथ ही इस सम्वन्धमें वीना इटावा (सागर) की जैन समाजको आन्तरिक सद्भावना और सहयोग भी सराहनीय है। उसने आगत सव विद्वानोंकी सव प्रकारकी सुख सुविधा व सम्मानका ध्यान रखते हुए इस महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक धार्मिक कार्यमें अपना वहुत वड़ा योगदान दिया

है। उक्त कार्यके सुन्दरता और प्रशस्त वातावरणमें सम्पन्न होनेका यह भी एक कारण है।

पुस्तक वाचनके समय उपादान-निमित्तमीमांसाके प्रसंगसे एक बातकी ओर पण्डितजीका ध्यान आकर्षित किया गया था। वह यह कि जिस कथन पद्धतिकी मुख्यतासे यह पुस्तक लिखी गई है उसे आप अवश्य ही स्पष्ट कर दें। इससे प्रस्तुत ग्रन्थको समझनेमें सरलता तो जायगी ही। साथ ही जिनागममें प्रतिपादित स्वातन्त्र्यमार्ग (मोक्षमार्ग) का रहस्य क्या है यह समझनेमें भी सहायता मिलेगी। और यह आवश्यक भी था, क्योंकि जब पण्डितजी पुस्तकका वाचन करते थे तब चर्चित विषय पर विवाद खड़ा होने पर उनसे विषयको स्पष्ट करनेके लिए पृच्छा करनी पड़ती थी और जब वे चर्चित विषयके गर्भमें क्या रहस्य है यह बतलाते थे तब अनेक विवाद समाप्त हो जाते थे। प्रसन्नता है कि पण्डितजीने उक्त सुझावको मान देकर पुस्तकके प्रारम्भमें एक नया प्रकरण जोड़ दिया है जिसका नाम 'विषयप्रवेश' है। इस प्रकरणके जोड़ देनेसे आगममें कहाँ किस दृष्टिकोणसे कथनपद्धति स्वीकार की गई है यह स्पष्ट होनेमें पूरी सहायता मिलती है। साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थका विषय स्पष्ट हो जाता है।

पण्डितजीने डेढ़ दो वर्ष लगकर अनवरत परिश्रम और एकाग्रतापूर्वक तत्त्वका मननकर साहित्यसृजनका यह श्लाघनीय कार्य किया है। इस प्रसंग-से हम अन्य विद्वानोंका ध्यान भी इस बातकी ओर विशेषरूपसे आकर्षित करना चाहते हैं कि विद्वान् केवल समाजके मुख नहीं हैं। वे आगमके रहस्योद्घाटनके जिम्मेदार हैं। अतः उन्हें, हमारे अमुक वक्तव्यसे समाज में कैसी प्रतिक्रिया होती है, वह अनुकूल होती है या प्रतिकूल, यह लक्ष्यमें रखना जरूरी नहीं है। यदि उन्हें किसी प्रकारका भय हो भी तो सबसे बड़ा भय आगमका होना चाहिए। विद्वानोंका प्रमुख कार्य जिनागमकी सेवा है और यह तभी सम्भव है जब वे समाजके भयसे मुक्त होकर सिद्धान्तके

रहस्यको उसके सामने रख सकें। कार्य बड़ा है। इस कालमें इसका उनके ऊपर उत्तरदायित्व है, इसलिए उन्हें यह कार्य सब प्रकारकी मोह-ममताको छोड़कर करना ही चाहिए। समाजका संधारण करना उनका मुख्य कार्य नहीं है। यदि वे दोनों प्रकारके कार्योंका यथास्थान निर्वाह कर सकें तो उत्तम है। पर समाजके संधारणके लिए आगमको गौण करना उत्तम नहीं हैं। हमें भरोसा है कि विद्वान् मेरे इस निवेदनको अपने हृदयमें स्थान देंगे और ऐसा मार्ग स्वीकार करेंगे जिससे उनके सद्प्रयत्नस्वरूप आगमका रहस्य और विशदताके साथ प्रकाशमें आवे।

संसारी प्राणीके सामने मुख्य प्रश्न दो हैं—प्रथम तो यह कि वह वर्तमानमें परतन्त्र क्यों हो रहा है? क्या वह अपनी कमजोरीके कारण परतन्त्र हो रहा है या कर्मोंकी बलवत्ताके कारण परतन्त्र हो रहा है। दूसरा प्रश्न है कि वह इस परतन्त्रतासे छुटकारा पाकर स्वतन्त्र कैसे होगा। अन्य निमित्त कारण उसे स्वतन्त्र करेंगे या वह निमित्तोंकी उपेक्षा कर स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वतन्त्र होगा। ये दो प्रश्न हैं जिनका जैन-दर्शनके सन्दर्भमें उसे उत्तर प्राप्त करना है।

यह तो प्रत्येक विचारक जानता है कि जैनदर्शनमें जितने भी जड़-चेतन द्रव्य स्वीकार किये गये हैं वे सब अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्वको लिए हुए प्रतिष्ठित हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको अपना कुछ भी अंश प्रदान करता हो या जिस द्रव्यका जो व्यक्तित्व अनादिकालसे प्रतिष्ठित है उसमें कुछ भी न्यूनाधिकता करता हो ऐसा नहीं है। ये दो जैनदर्शनके अकाट्य नियम हैं। अतः इनके सन्दर्भमें प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद-व्ययरूप कार्यके सम्बन्धमें विचार करने पर विदित होता है कि जिस द्रव्यमें जो भी स्वभाव या विभावरूप कार्य होता है वह अपने परिणमन स्वभावके कारण उपादानशक्तिके बलसे ही होता है। अन्य कोई द्रव्य उसमें उसे उत्पन्न करता हो और तब उसका वह स्वभाव-विभावरूप कार्य होता हो

ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्यसे उसकी उत्पत्ति मानने पर न तो द्रव्यके परिणमन स्वभावकी ही सिद्धि होती है और न ही 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको अपना कुछ भी अंश प्रदान नहीं करता' इस तथ्यका ही समर्थन किया जा सकता है। अतएव जहाँ तक प्रत्येक द्रव्यके परिणमन स्वभावका प्रश्न है और जहाँ तक उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्वका प्रश्न है वहाँ तक तो यही मानना उचित है कि प्रत्येक द्रव्यमें जो उत्पाद-व्ययरूप कार्य होता है उसमें वह स्वाधीन है। ऐसा मानना परमार्थ सत्य और वस्तुस्वभावके अनुरूप है। इसमें किसी भी प्रकारकी 'ननु, न च' करना प्रत्येक द्रव्यके परिणामस्वभाव और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्वकी अवहेलना करना होगा जो उचित नहीं है, क्योंकि इन तथ्योंकी अवहेलना करनेपर छह द्रव्यों और उनके भेदोंकी पूरी व्यवस्था गड़बड़ा जायगी। फिर भी जैनदर्शनमें प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तोंको स्वीकार किया गया है सो उसका कारण अन्य है।

बात यह है कि प्रत्येक द्रव्यके अपने अपने समर्थ उपादानके अनुसार प्रत्येक समयमें कार्य होते समय अन्य द्रव्यकी पर्याय उसके बलाधानमें स्वयं निमित्त होती है। बलका आधान कर कार्यको (अपने परिणमन स्वभाव और स्वतन्त्र व्यक्तित्वके कारण) स्वयं उपादान उत्पन्न करता है। यह कार्य निमित्तका नहीं है। किन्तु कार्यको उत्पन्न करनेके लिए उपादान जो बलका आधान करता है उसमें अन्य द्रव्यकी पर्याय स्वयं निमित्त हो जाती है यह वस्तुस्थिति है। इसके रहते हुए भी लोकमें निमित्तकी मुख्यतासे कुछ इस प्रकारके तर्क उपस्थित किये जाते हैं—

१. उपादान हो और निमित्त न हो तो कार्य नहीं होगा।

२. समर्थ उपादान हो और बाधक सामग्री आ जाय तो कार्य नहीं होगा।

३. समर्थ उपादान हो, निमित्त हो पर बाधक कारण आ जाय तो कार्य नहीं होगा।

ये तीन तर्क हैं। इन पर विचार करनेसे विदित होता है कि प्रथम दोनों तर्क तीसरे तर्कमें ही समाहित हो जाते हैं, अतः तीसरे तर्क पर समुचित विचार करनेसे शेष दो तर्कोंका उत्तर हो ही जायगा, अतः तीसरे तर्कके आधारसे आगे विचार करते हैं—

सर्वप्रथम विचार इस बातका करना है कि जब समर्थ उपादान और लोकमें निमित्तके रहते हुए भी कार्यकी लोकमें कही जानेवाली बाधक सामग्री आ जाती है तब विवक्षित द्रव्य उसके कारण क्या अपने परिणमन स्वभावको छोड़ देता है ? यदि कहो कि द्रव्यमें परिणमन तो तब भी होता रहता है। वह तो उसका स्वभाव है। उसे वह कैसे छोड़ सकता है तो हम पूछते हैं कि जिसे आप बाधक सामग्री कहते हो वह किस कार्यकी बाधक मानकर कहते हो। आप कहोगे कि जो कार्य हम उससे उत्पन्न करना चाहते थे वह कार्य नहीं हुआ, इसलिए हम ऐसा कहते हैं। तो विचार कीजिए कि वह सामग्री विवक्षित द्रव्यके आगे होनेवाले कार्यकी बाधक ठहरी कि आपके संकल्प की ? विचार करने पर विदित होता है कि वस्तुतः वह विवक्षित द्रव्यके कार्यकी बाधक तो त्रिकालमें नहीं है। हाँ आप आगे उस द्रव्यका जैसा परिणमन चाहते थे वैसा नहीं हुआ, इसलिए आप उसे कार्यकी बाधक कहते हो सो भाई ! यही तो भ्रम है। इसी भ्रमको दूर करना है। वस्तुतः उस समय द्रव्यका परिणमन ही आपके संकल्पानुसार न होकर अपने उपादानके अनुसार होनेवाला था, इसलिए जिसे आप अपने मनसे बाधक सामग्री कहते हो वह उस समय उस प्रकारके परिणमनमें निमित्त हो गई। अतः इन तर्कोंके समाधानस्वरूप यही समझना चाहिए कि प्रत्येक समयमें कार्य तो अपने उपादानके अनुसार ही होता है और उस समय जो बाह्य सामग्री उपस्थित होती है वही उसमें निमित्त हो जाती है। निमित्त स्वयं अन्य द्रव्यके किसी कार्यको करता हो ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ दीपकके प्रकाशमें एक मनुष्य पढ़ रहा है। अब विचार कीजिए कि वह मनुष्य

स्वयं पढ़ रहा है या दीपक पढ़ा रहा है? दीपक पढ़ा रहा है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर दीपकके रहने तक उसका पढ़ना नहीं रुकना चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि दीपकके सद्भावमें भी कभी वह पढ़ता है और कभी अन्य कार्य भी करने लगता है। इससे मालूम पड़ता है कि दीपक तो निमित्तमात्र है, वस्तुतः वह स्वयं पढ़ता है, दीपक वलात उसे पढ़ाता नहीं। इस प्रकार जो नियम दीपकके लिए है वही नियम सब निमित्तोंके लिए जान लेना चाहिए। निमित्त चाहे क्रियावान् द्रव्य हो और चाहे निष्क्रिय द्रव्य हो, कार्य होगा अपने उपादानके अनुसार ही। अतः निमित्तका विकल्प छोड़कर प्रत्येक संसारी जीवको अपने उपादानकी ही सम्हाल करनी चाहिए। जो संसारी जीव अपने उपादानकी सम्हाल करता है वह अपने मोक्षरूप इष्ट प्रयोजनकी सिद्धिमें सफल होता है और जो संसारी जीव उपादानकी उपेक्षा कर अपने अज्ञानके कारण निमित्तोंके मिलानेके विकल्प करता रहता है वह अज्ञानी हुआ संसारका पात्र वना रहता है।

कार्योत्पत्तिमें निमित्तोंका स्थान है इसका निषेध नहीं और इसलिए बाह्य दृष्टिसे विवेचन करते समय शास्त्रोंमें निमित्तोंके अनुसार कार्य होता है यह भी कहा गया है। परन्तु यह सब कथन उपचरित ही जानना चाहिए। व्यवहारनय पराश्रित होनेसे ऐसे ही कथनको स्वीकार करता है, इसलिए मोक्षमार्गमें उसे गौण कर स्वाधीन सुखके कारणभूत निश्चय-नयका आश्रय लेनेका उपदेश दिया गया है। संसार अवस्थामें निश्चयके साथ जहाँ जो व्यवहार होता है, होओ। पर इस जीवकी यदि ऐसी श्रद्धा हो जाय कि जहाँ जो व्यवहार होता है वह पराश्रित होनेसे हेय है और निश्चय स्वाश्रित होनेसे उपादेय है तो ऐसे व्यवहारसे उसका बिगाड़ नहीं। बिगाड़ तो व्यवहारको उपादेय मानकर उससे मोक्षकार्यकी सिद्धि माननेमें है। अतः मोक्षेच्छुक प्रत्येक प्राणीको यही श्रद्धा करनी चाहिए कि मोक्षकार्यकी सिद्धि मात्र निश्चयका आश्रय लेनेसे ही होगी,

प्रत्येक कार्यका उपादान अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य होता है अतएव अगले समयमें कार्य भी उसीके अनुरूप होगा। कार्यकी उत्पत्तिके समय निमित्त उसे अन्यथा नहीं परिणमा सकेगा, इसलिए जो उपादानकी अपेक्षा कथन है वह यथार्थ है और जो निमित्तकी अपेक्षा कथन है वह यथार्थ तो नहीं है परन्तु वहाँ पर निमित्त क्या है यह दिखलानेके लिए वैसा कथन किया गया है। अतएव ऐसे स्थलोंपर भी जहाँ जिस अपेक्षासे कथन हो उसे समझकर वस्तुको स्वीकार करना चाहिए।

इसी प्रकार और भी बहुतसे विषय हैं जिनमें वस्तुका निर्णय करते समय और उनका व्याख्यान करते समय विचारकी आवश्यकता है। हमें प्रसन्नता है कि 'जैनतत्त्वमीमांसा' ग्रन्थमें पण्डितजीने उन सब विषयोंका समावेश कर लिया है जिनमें तत्त्वजिज्ञासुओंकी दृष्टि स्पष्ट होनेकी आवश्यकता है। इस दृष्टिसे यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी बन गई है। इसकी लेखनशैली सरल, सुस्पष्ट और सुबोध है। पण्डितजी के इस समयोपयोगी सांस्कृतिक साहित्यिक सेवाकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। हमें विश्वास है कि समाज इससे लाभ उठाकर अपनी ज्ञानवृद्धि करेगी।

जैन शिक्षा संस्था
कटनी

जगन्मोहनलाल शास्त्री

विषय-सूची

—:※:—

सूचना

पृष्ठ ४ पंक्ति २० में परिणमनान्निमित्तीभूते के स्थानमें परिणमनान्निमित्तीभूते सुधार लें। तथा पृष्ठ ११ पंक्ति १७ में 'व्यवहार' इसके स्थानमें 'व्याख्यान' यह पाठ सुधार लें। इसी प्रकार छोटी-मोटी जो अन्य अशुद्धि हों उन्हें सुधार कर पढ़ें।

जैनतत्त्वमीमांसा

जैनतत्त्वमीमांसा

विषय-प्रवेश

करि प्रणाम जिनदेवको मोक्षमार्ग अनुरूप ।
विविध अर्थ गर्भित महा कहिए तत्त्वस्वरूप ॥

है निमित्त उपचारविधि निश्चय है परमार्थ ।
तजि[१] व्यवहार निश्चय गहि साधो सदा निजार्थ ॥

इस लोकमें ऐसा एक भी प्राणी नहीं है जो दुखनिवृत्ति और सुखप्राप्तिका इच्छुक न हो। यही कारण है कि धर्मतीर्थके प्रवर्तक तीर्थंकर अनादिकालसे सुखप्राप्तिके प्रधान साधनभूत मोक्षमार्गका उपदेश देते आ रहे हैं। मोक्षमार्ग कहो, सुख प्राप्तिका मार्ग कहो या दुखसे निवृत्त होनेका मार्ग कहो इन सबका एक ही अर्थ है। जिस मार्गका अनुसरण कर यह जीव चतुर्गतिके दुखसे निवृत्त होता है वह मोक्षमार्ग है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। मोक्षमार्ग यह अन्तगर्भ निषेध परक वचन है। किन्तु जब किसी धर्मका निषेध किया जाता है तब उसकी प्रतिपक्षभूत विधि अपने आप फलित हो जाती है, अतएव जो

---

१. गौण करके ।

दुखनिवृत्तिका मार्ग है वही सुखप्राप्तिका भी मार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रसंगसे प्रकृतमे विचार यह करना है कि तीर्थंकरोंका जो उपदेश चारों अनुयोगोंमें संकलित है उसे वचनव्यवहारकी दृष्टिसे कितने भागोंमें विभक्त किया जा सकता है? विविध प्रमाणोंके प्रकाशमें विचार करनेपर विदित होता है कि उसे हम मुख्यरूपसे दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—उपचरित कथन और अनुपचरित कथन। जिस कथनका प्रतिपाद्य अर्थ तो असत्यार्थ है (जो कहा गया है पदार्थ वैसा नहीं है)। परन्तु उससे परमार्थभूत अर्थका ज्ञान हो जाता है उसे उपचरित कथन कहते हैं और जिस कथनसे जो पदार्थ जैसा है उसका उसी रूपमें ज्ञान होता है उसे अनुपचरित कथन कहते हैं। इस विषयको स्पष्ट करते हुए अपनी सुबोध भाषामें पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी मोक्षमार्गप्रकाशकमें लिखते हैं—

तहाँ जिन आगम विषै निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। तिन विषै यथार्थका नाम निश्चय है, उपचारका नाम व्यवहार है।

[अधिकार ७ पृ० २८७]

व्यवहार अभूतार्थ है। सत्य स्वरूपकों न निरूपै है। किसी अपेक्षा उपचार करि अन्यथा निरूपै है। बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है सो भूतार्थ है जैसा वस्तुका स्वरूप है तैसा निरूपै है।

[अधिकार ७ पृ० ३६६]

एक ही द्रव्यके भावकों तिस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चय-नय है। उपचारकरि तिस द्रव्यके भावकों अन्य द्रव्यके भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है।

[अधिकार ७ पृ० ३६६]

यह परिडतप्रवर टोडरमलजीका वक्तव्य है।

है कि जिन आगममें वचनव्यवहारकी दृष्टिसे दो प्रकारको कथन उपलब्ध होता है। उसमें सर्वप्रथम उपचरित कथनके प्रकृतमें उपयोगी कतिपय उदाहरण उपस्थित कर वे उपचरित क्यों हैं इसकी मीमांसा करते हैं।

उपचरित कथनके कतिपय उदाहरण—

१. एक द्रव्य अपनी विवक्षित पर्याय द्वारा दूसरे द्रव्यका कर्ता है और दूसरे द्रव्यकी वह पर्याय उसका कर्म है।

२. अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यको परिणमाता है या उसमें अतिशय उत्पन्न करता है।

३. अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायके होनेमें हेतु है। उसके बिना वह कार्य नहीं होता।

४ शरीर मेरा है तथा देश, धन और स्त्री-पुत्रादि मेरे हैं आदि।

ये उपचरित कथनके कुछ उदाहरण हैं। इनके आश्रयसे केवल दर्शन और न्यायके ग्रन्थोंमें ही नहीं, किन्तु अन्य अनुयोगों के ग्रन्थोंमें भी बहुलतासे कथन किया गया है। तथा जो प्रमुखतासे अध्यात्मका प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ हैं उनमें भी जहाँ प्रयोजन विशेषवश उपचार कथनकी मुख्यतासे प्रतिपादन करना इष्ट रहा है वहाँ भी यह पद्धति स्वीकार की गई है। इसलिए इस प्रकारके कथनको चारों अनुयोगोंके शास्त्रोंमें स्थान नहीं मिला है यह तो कहा नहीं जा सकता। फिर भी यह कथन असत्यार्थ क्यों है इसकी यहाँ मीमांसा करनी है।

यह द्रव्यगत स्वभाव है कि किसी कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान

मुख्य (अनुपचरित) हेतु होता है और अन्य द्रव्य व्यवहार (उपचरित) हेतु[1] होता है। तदनुसार जिसने अपनी बुद्धिमें यह निर्णय किया है कि जो उपादान है वह कर्ता है और जो कार्य है वह उसका कर्म है उसका वैसा निर्णय करना परमार्थरूप है, क्योंकि जीवादि प्रत्येक द्रव्यमें सदाकाल छह कारकरूप शक्तियाँ तादात्म्यभावसे विद्यमान रहती हैं जिनके आधारसे उस उस द्रव्यमें कर्तृत्व आदि धर्मोंकी अपने ही आश्रयसे सिद्धि होती है। फिर भी अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायके होनेमें व्यवहार हेतु है यह देखकर अनादि रूढ़ लोकव्यवहारवश पृथक् सत्ताक दो द्रव्योंमें कर्ता-कर्म आदिरूप व्यवहार किया जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृतमें कहते हैं—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवके निमित्त होनेपर बन्धके परिणामको देखकर जीवने कर्म किया यह उपचारमात्रसे कहा जाता है ॥१०५॥

इसी अर्थको स्पष्ट करते हुए उक्त गाथाकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात्पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपराणां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः ॥ १०५ ॥

---

1. पञ्चा० गा० ८९ और ९६ की टीका।

इस लोकमें आत्मा निश्चयतः स्वभावसे पुद्गलकर्मका निमित्तभूत नहीं है तो भी अनादिकालीन अज्ञानवश उसके निमित्तभूत अज्ञान भावरूप परिणमन करनेसे पुद्गलकर्मका निमित्तरूप होनेपर पुद्गलकर्मकी उत्पत्ति होती है, इसलिए आत्माने कर्मको किया ऐसा विकल्प उन जीवोंके होता है जो निर्विकल्प विज्ञानघनसे भ्रष्ट होकर विकल्पपरायण हो रहे हैं। परन्तु आत्माने कर्मको किया यह उपचार ही है परमार्थ नहीं ॥१०५॥

यह आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्रका कथन है। किन्तु उन्होंने इसे उपचरित क्यों कहा, इसका कोई हेतु तो होना ही चाहिए, अतः इसीका यहांपर साङ्गोपाङ्ग नयदृष्टिसे विचार करते हैं—

शास्त्रोंमें लौकिक व्यवहारको स्वीकार करनेवाले ज्ञाननयकी अपेक्षा (श्रद्धामूलक ज्ञाननयकी अपेक्षा नहीं) असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण करते हुए लिखा है कि जो अन्य द्रव्यके गुणोंको अन्य द्रव्यके कहता है वह असद्भूत व्यवहारनय है। नयचक्रमें कहा भी है—

अण्णेसिं अण्णगुणो भणइ असब्भूद.... ॥२२३॥

इसके मुख्य भेद दो हैं—उपचरित असद्भूत व्यवहारनय और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय। बृहद्रव्यसंग्रहमें 'पुग्गलकम्मादीणं कत्ता' इस गाथाके व्याख्यानके प्रसंगसे उदाहरण पूर्वक इन नयोंका खुलासा करते हुए लिखा है—

मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्नुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां 'आदि' शब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघट-पटादीनां च कर्ता भवति।

मन, वचन और कायके व्यापारसे होनेवाली क्रियासे रहित ऐसा जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसकी भावनासे रहित हुआ यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका, आदि शब्दसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक-रूप तीन शरीर और आहार आदि छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल पिण्डरूप नोकर्मोंका तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा बाह्य विषय घट-पट आदिका कर्ता होता है

उक्त कथनका तात्पर्य है कि परमार्थसे कर्म, नोकर्म और घट-पट आदिका जीव कर्ता हो और वे उसके कर्म हों ऐसा नहीं है। परन्तु जैसा कि नयचक्रमें बतलाया है उसके अनुसार एक द्रव्यके गुणोंको दूसरे द्रव्यका कहनेवाला जो उपचरित या अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है उस अपेक्षासे यहांपर जीवको पुद्गलकर्मों, नोकर्मों और घट-पट आदिका कर्ता कहा गया है तथा पुद्गलकर्म, नोकर्म और घट-पट आदि उसके कर्म कहे गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि जहाँ शास्त्रोंमें भिन्न कर्तृ-कर्म आदिका व्यवहार किया गया है वहाँ उसे उपचरित (अयथार्थ) ही जानना चाहिए, क्योंकि किसी एक द्रव्यके कर्तृत्व और कर्मत्व आदि छह कारकरूप धर्मोंका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्त अभाव है और यह ठीक भी है, क्योंकि जहाँ एक द्रव्यकी विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्यकी विवक्षित पर्यायमें निमित्त है' यह कथन भी व्यवहार-नयका विषय है[1] वहाँ भिन्न कर्तृ-कर्म आदि रूप व्यवहारको

---

१. व्यवहारनयस्थापितौ उदासीनौ पञ्चा० गा० ८९ टीका। व्यवहारेण गति-स्थित्यवगाहनरूपेण। पञ्चा० गा० ९६ टीका।

वास्तविक कैसे माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्ता-कर्म आदि रूप व्यवहार करते हैं वहाँ जिसमें कर्तृत्व आदि धर्मोंका उपचार किया गया है वह स्वतन्त्र द्रव्य है और जिसमें कर्मत्व आदि धर्मोंका उपचार किया गया है वह स्वतन्त्र द्रव्य है, उन दोनों द्रव्योंका परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध न होनेसे व्याप्य-व्यापकभाव भी नहीं है तथा उनमें एक-दूसरेके कर्तृत्व और कर्मत्व आदि रूप धर्म भी नहीं उपलब्ध होते। फिर भी लोकानुरोधवश उनमें यह इसका कर्ता है और यह इसका कर्म है इत्यादि रूप व्यवहार होता हुआ देखा जाता है। इससे विदित होता है कि शास्त्रोंमें ऐसे व्यवहारको जो असद्भूत व्यवहारनयका विषय कहा है वह ठीक ही कहा है। स्पष्ट है कि यह व्यवहार उपचरित ही है परमार्थभूत नहीं। इसी तथ्यको दूसरे शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए श्री आ० देवसेन भी अपने श्रुतभवनदीपक नयचक्रमें 'ववहारोऽभूयत्थो' इत्यादि गाथाओंके व्याख्यानके प्रसंगसे क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

उपनयोपजनितो व्यवहारः प्रमाण-नय-निक्षेपात्मा। भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः। कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत् ? सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तु उपचारोत्पादकत्वात् उपचरितासद्भूतस्तु उपचारादपि उपचारोत्पादकत्वात्। योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थः।.... अतएव व्यवहारोऽपरमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थः।

प्रमाण, नय और निक्षेपात्मक जितना भी व्यवहार है वह सब उपनयसे उपजनित है। भेद द्वारा और उपचार द्वारा वस्तु व्यवहारपदवीको प्राप्त होती है, इसलिए इसकी व्यवहार संज्ञा है।

शंका—इस व्यवहारका उपनय जनक है यह कैसे ?

समाधान—भेदका उत्पादक सद्भूत व्यवहार है, उपचारका उत्पादक असद्भूत व्यवहार है और उपचारसे भी उपचारका उत्पादक उपचरित असद्भूत व्यवहार है। और जो यह भेद-लक्षणवाला तथा उपचार लक्षणवाला अर्थ है वह अपरमार्थ है। ···अतः व्यवहार अपरमार्थका प्रतिपादक होनेसे अपरमार्थरूप है।

यह आ० देवसेनका कथन है। इस द्वारा इन्होंने जब कि एक अखण्ड द्रव्यमें गुण-गुणी आदिके आश्रयसे होनेवाले सद्भूत व्यवहारको ही अपरमार्थभूत बतलाया है ऐसी अवस्थामें दो द्रव्योंके आश्रयसे कर्ता-कर्म आदि रूप जो उपचरित और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार होता है उसे परमार्थभूत कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जा सकता यह स्पष्ट ही है।

यहाँपर कोई प्रश्न करता है कि यदि भिन्न कर्तृ-कर्म आदि रूप व्यवहार उपचरित ही है तो शास्त्रोंमें उसका निर्देश क्यों किया गया है ? समाधान यह है कि एक तो निमित्त (व्यवहार-हेतु) का ज्ञान कराना इसका मुख्य प्रयोजन है, इसलिए यह कथन किया गया है। आलापपद्धतिमें कहा भी है—

सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते।

निमित्त और प्रयोजनके होनेपर उपचार प्रवृत्त होता है।

दूसरे उपचरित अर्थके प्रतिपादन द्वारा अनुपचरित अर्थका बोध हो जाता है, इसलिए इसका कथन किया गया है। नयचक्रमें कहा भी है—

तह उवयारो जाणह साहणहेऊ अणुवयारे ॥२८८॥

उसी प्रकार अनुपचारकी सिद्धिका हेतु उपचारको जानो।

यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि जो वचन स्वयं असत्यार्थ होकर भी इष्टार्थका ज्ञान करानेमें हेतु है वह लोकव्यवहारमें असत्य नहीं माना जाता। उदाहरणस्वरूप 'चन्द्रमुखी' शब्दको लीजिए। यह शब्द ऐसी नारीके लिए प्रयुक्त होता है जिसका मुख मनोज्ञ और आभायुक्त होता है। यह इष्टार्थ है। 'चन्द्रमुखी' शब्दसे इस अर्थका ज्ञान हो जाता है, इसलिए लोक-व्यवहारमें ऐसा वचनप्रयोग होता है तथा इसी अभिप्रायसे शास्त्रोंमें भी इसे स्थान दिया गया है। परन्तु इसके स्थानमें यदि कोई इस शब्दके अभिधेयार्थको ग्रहण कर यह मानने लगे कि अमुक स्त्रीका मुख चन्द्रमा ही है तो वह असत्य ही माना जायगा, क्योंकि किसी भी स्त्रीका मुख न तो कभी चन्द्रमा हुआ है और न हो सकता है।

यह एक उदाहरण है। प्रकृतमें इस विषयको और भी स्पष्ट-रूपसे समझनेके लिए हम भारतीय साहित्यमें विशेषतः अलंकार शास्त्रमें लोकानुरोधवश विविध वचनप्रयोगोंको ध्यानमें रखकर निर्दिष्ट की गई तीन वृत्तियोंकी ओर विचारकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। वे तीन वृत्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। माना कि शास्त्रोंमें ऐसे वचनप्रयोग उपलब्ध होते हैं जहाँ मात्र अभिधेयार्थकी मुख्यता होती है। जैसे 'जो चेतनालक्षण भावप्राणसे जीता है वह जीव' इस वचन द्वारा जो कहा गया, जीवनामक पदार्थ ठीक वैसा ही है, अन्यथा नहीं है, इसलिए यह वचन मात्र अभिधेयार्थका कथन करनेवाला होनेसे यथार्थ है। परन्तु इसके साथ शास्त्रोंमें ऐसे वचन भी बहुलतासे उपलब्ध होते हैं जिनमें अभिधेयार्थकी मुख्यता न होकर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थकी ही मुख्यता रहती है। इसे ठीक तरहसे समझनेके लिए उदाहरणस्वरूप 'गङ्गायां घोषः, मञ्चाः क्रोशन्ति, धनुर्धावति' ये वचनप्रयोग लिए जा सकते हैं। 'गङ्गायां घोषः' इसका अभि-

धेयार्थ है—गंगाकी धारमें घोष, लक्ष्यार्थ है—गंगाके निकटवर्ती प्रदेशमें घोष और व्यंग्यार्थ है—गंगाके निकट शीतल वातावरणमें घोष। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' का अभिधेयार्थ है—मंच चिल्लाते हैं, लक्ष्यार्थ है—मंचपर बैठे हुए पुरुष चिल्लाते हैं। तथा 'धनुर्धावति' का अभिधेयार्थ है—धनुष दौड़ता है और लक्ष्यार्थ है—धनुष युक्त पुरुष दौड़ता है[1]। इस प्रकार एक-एक शब्द प्रयोगके ये क्रमशः तीन और दो-दो अर्थ हैं। परन्तु उनमेंसे प्रकृतमें इन शब्द प्रयोगोंका अभिधेयार्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि न तो गंगाकी धारमें घोषका होना सम्भव है और न ही मञ्चका चिल्लाना या धनुषका दौड़ना ही सम्भव है। फिर भी व्यवहारमें ऐसे वचन प्रयोग होते हुए देखे जाते हैं अतएव साहित्यमें भी इन्हें स्थान दिया गया है। फलस्वरूप जहाँ भी ऐसे वचनप्रयोग उपलब्ध हों वहाँ उनका अभिधेयार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ही लेना चाहिए। यही बात प्रकृतमें भी जाननी चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि आगममें व्यवहारनयकी अपेक्षा एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता आदि कहा गया है। परन्तु वहाँ पर वह कथन अभिधेयार्थको ध्यानमें रखकर किया गया है या लक्ष्यार्थको ध्यानमें रखकर किया गया है इसे समझकर ही इष्टार्थका निर्णय करना चाहिए। प्रकृतमें इष्टार्थ (लक्ष्यार्थ) दो

---

१. लक्षणा दो प्रकारकी होती है—रूढ़िमूला और प्रयोजनवती। रूढ़िमूला लक्षणामें कोई प्रयोजन व्यंग्य नहीं होता। किन्तु प्रयोजनवती लक्षणामें प्रयोजन व्यंग्य अवश्य रहता है। यहाँ जो तीन उदाहरण दिये हैं उनमेंसे 'गङ्गायां घोषः' यह प्रयोजनवती लक्षणाका उदाहरण है तथा शेष दो उदाहरण रूढ़िमूला लक्षणाके हैं। यहाँ पर अन्तिम दो उदाहरणों का व्यंग्यार्थ नहीं दिया उसका यही कारण है।

हैं—ऐसे कथन द्वारा निश्चयार्थका ज्ञान कराना यह मुख्य इष्टार्थ है, क्योंकि यह वास्तविक है और इस द्वारा निमित्त (व्यवहार हेतु) का ज्ञान कराना यह उपचरित इष्टार्थ है, क्योंकि इस कथन द्वारा कहाँ कौन निमित्त है इसका ज्ञान हो जाता है। यदि इन दो अभिप्रायोंको ध्यानमें रखकर उक्त प्रकारका वचन प्रयोग किया जाता है तो उसका अभिधेयार्थ असत्य होनेपर भी व्यवहारमें (लक्ष्यार्थकी दृष्टिसे) वह असत्य नहीं माना जाता। आचार्य कुन्दकुन्द प्रभृति आचार्योंने ऐसे शब्द प्रयोगोंको असत्य शब्द द्वारा व्यवहृत न कर जो उपचरित कहा है वह इसी अभिप्रायसे कहा है। साथ ही आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें जो 'जह ण वि सक्कमणज्जो' इत्यादि गाथा निबद्ध की है और पण्डितप्रवर आशाधरजीने अनगारधर्मामृतमें जो 'कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्नाः' (१–१०२) इत्यादि श्लोक निबद्ध किया है वह इस गर्भित अर्थ-को सूचित करनेके लिए ही निबद्ध किया है। पण्डितप्रवर टोडर-मल्लजी इस तथ्यका उद्‌घाटन करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक (अ० ७, पृ० ३७२) में कहते हैं—

जिनमार्गविषै कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता लिए व्यवहार है। ताकौं तो सत्यार्थ 'ऐसैं ही है' ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लिए व्याख्यान है ताकौं ऐसैं है नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना।

इस प्रकार एक द्रव्यकी विवक्षित पर्याय दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायका कर्ता आदि है और वह पर्याय उसका कर्म आदि है यह कथन परमार्थभूत अर्थका प्रतिपादक न होकर उपचरित (अयथार्थ) क्यों है इसकी संक्षेपमें मीमांसा की। इसी न्यायसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको परिणमाता है या उसमें

अतिशय उत्पन्न करता है इस प्रकारका जितना भी कथन शास्त्रोंमें उपलब्ध होता है उसे भी उपचरित ही जानना चाहिए, क्योंकि प्रकृतमें एक द्रव्यकी विवक्षित पर्याय अन्य द्रव्यके परिणमनमें निमित्त (व्यवहार हेतु) है, केवल इस बातका ज्ञान करानेके लिए उसे अन्य द्रव्यको परिणमानेवाला या उसे अन्य द्रव्यमें अतिशय उत्पन्न करनेवाला कहा गया है। यह कथन परमार्थभूत है इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर नहीं। तात्पर्य यह है कि शास्त्रोंमें यह कथन निमित्तकी अपने क्रिया परिणाम द्वारा निमित्तताका ज्ञान करानेके लिए किया गया है। अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। विशेष खुलासा हम आगेके प्रकरणोंमें करनेवाले हैं ही।

इस प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता आदि है या उसे परिणमाता है या उसमें अतिशय उत्पन्न करता है यह कथन परमार्थभूत न होकर उपचरित कैसे है इसकी मीमांसा की। साथ ही शास्त्रोंमें जितना भी निमित्त कथन उपलब्ध होता है वह भी व्यवहार (उपचरित) हेतुको ध्यानमें रखकर ही किया गया है इसका भी प्रसंगसे विचार किया।

अब शरीर मेरा, धन मेरा, देश मेरा इत्यादि रूपसे जितना भी व्यवहार होता है वह उपचरित कैसे है इसका विचार करना है। यह तो आगम, गुरु उपदेश, युक्ति और स्वानुभव प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है कि 'अहम्' पद वाच्य आत्मा नामक पदार्थ स्वतन्त्र द्रव्य है और धन आदि पदार्थ स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इसलिए इससे यह अपने आप फलित हो जाता है कि अत्यन्त भिन्न दो द्रव्योंमें सम्बन्ध या एकत्वका ज्ञान करानेवाला जितना भी कथन उपलब्ध होता है वह परमार्थभूत त्रिकालमें नहीं हो सकता। अतएव शरीर मेरा, धन मेरा इत्यादि रूप जितना भी व्यवहार होता है

उसे भी पूर्वोक्त उपचरित कथनके समान असत्य ही जानना चाहिए। इस प्रकार शरीर मेरा, धन मेरा, देश मेरा इत्यादि रूपसे जितना भी कथन उपलब्ध होता है वह भी उपचरित क्यों है इसकी संक्षेपमें मीमांसा की।

अब प्रसंगसे उपचरित कथनपर विस्तृत प्रकाश डालनेके लिए नैगमादि कतिपय नयोंका विषय किस प्रकार उपचरित है इसकी संक्षेपमें मीमांसा करते हैं— यह तो सुविदित है कि आगममें नैगमादि नयोंकी परिगणना सम्यक् नयोंमें की गई है, इसलिए प्रश्न होता है कि जो इनका विषय है वह परमार्थभूत है, इसलिए इनकी परिगणना सम्यक् नयोंमें की गई है या इसका कोई अन्य कारण है। समाधान यह है कि जो इनका विषय है उसे दृष्टिमें रखकर ये सम्यक् नय नहीं कहे गये हैं किन्तु फलितार्थ (लक्ष्यार्थ) की दृष्टिसे ही ये सम्यक् नय कहे गये हैं।

उदाहरणस्वरूप पर संग्रहनयके विषय महासत्ताकी दृष्टिसे विचार कीजिए। यह तो प्रत्येक आगमाभ्यासी जानता है कि जैनदर्शनमें स्वरूप सत्ताके सिवा ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो सब द्रव्योंमें तात्त्विकी एकता स्थापित करती हो। फिर भी अभिप्राय विशेषसे सादृश्य सामान्यरूप महासत्ताको जैनदर्शनमें स्थान मिला हुआ है। इस द्वारा यह बतलाया गया है कि यदि कोई कल्पित युक्तियों द्वारा जड़-चेतन सब पदार्थोंमें एकत्व स्थापित करना चाहता है तो वह उपचरित महासत्ताको स्वीकार करके उसके द्वारा ही ऐसा कर सकता है, परमार्थभूत स्वरूपास्तित्वके द्वारा नहीं। इस प्रकार आगममें इस नयको स्वीकार करनेसे विदित होता है कि जो इस नयका विषय है वह भले ही परमार्थभूत न हो पर उससे फलितार्थरूपमें स्वरूपास्तित्वका बोध

हो जाता है। इसी प्रकार नैगम, व्यवहार और स्थूल ऋजुसूत्र नयका विषय क्यों उपचरित है इसका व्याख्यान कर लेना चाहिए। तथा इसी प्रकार अन्य नयोंके विषयमें भी जान लेना चाहिए।

यह उपचरित कथनकी सर्वांग मीमांसा है। अब इस दृष्टिसे एक ही प्रश्न यहाँपर विचारके लिए और शेष रहता है। वह यह कि शास्त्रोंमें अखण्डस्वरूप एक वस्तुमें भेद व्यवहार करनेको भी उपचार कहा गया है। नयचक्रमें कहा भी है—

जो चिय जीवसहावो णिच्छयदो होइ सव्वजीवाणं।
सो चिय भेदुवयारा जाण फुडं होइ ववहारो ॥२३६॥

जो निश्चयसे सब जीवोंका स्वभाव है उसमें भेदरूप उपचार करना व्यवहार है ऐसा स्पष्ट जानो ॥२३६॥

यहाँ अखण्ड एक वस्तुमें भेद करनेको उपचार या व्यवहार कहा है। इसलिए प्रश्न होता है कि क्या प्रत्येक द्रव्यमें जो गुण-पर्यायभेद परिलक्षित होता है वह वास्तविक नहीं है और यदि वह वास्तविक नहीं है तो प्रत्येक द्रव्यको भेदाभेदस्वभाव क्यों माना गया है। और यदि वास्तविक है तो उसे उपचरित नहीं कहना चाहिए। एक ओर तो भेद करनेको वास्तविक कहो और दूसरी ओर उसे उपचरित भी मानो ये दोनों बातें नहीं बन सकतीं। समाधान यह है कि प्रत्येक द्रव्यकी उभयरूपसे प्रतीति होती है, इसलिए वह उभयरूप ही है इसमें सन्देह नहीं। यदि इस दृष्टिसे देखते हैं तो जिस प्रकार वस्तु अखण्ड एक है यह कथन वास्तविक ठहरता है उसी प्रकार वह गुण-पर्यायके भेदसे भेदरूप है यह कथन भी वास्तविक ही ठहरता है। फिर भी यहाँ पर जो भेद करनेको उपचरित कहा गया है सो वह अखण्ड एक

वस्तुको प्रतीतिमें लानेके अभिप्रायसे ही कहा गया है। आशय यह है कि यह जीव अनादि कालसे भेदको मुख्य मानकर प्रवृत्ति करता आ रहा है जिससे वह संसारका पात्र बना हुआ है। किन्तु यह संसार दुखदायी है ऐसा समझकर उससे निवृत्त होनेके लिए उसे भेदको गौण करनेके साथ अभेदस्वरूप अखण्ड एक आत्मापर अपनी दृष्टि स्थिर करनी है। तभी वह संसार बन्धनसे मुक्त हो सकेगा। वर्तमानमें इस जीवका यह मुख्य प्रयोजन है और यही कारण है कि इस प्रयोजनको ध्यानमें रखकर प्रकृतमें भेदकथनको उपचरित या व्यवहार कथन कहकर इससे मोक्षेच्छुक जीवकी दृष्टिको परावृत्त कराया गया है। स्पष्ट है कि यहाँपर (भेद कथनमें) उपचाररूप व्यवहार भिन्न प्रयोजनसे किया गया है, इसलिए इसकी भिन्न कर्तृ-कर्म आदि रूप उपचार व्यवहारसे तुलना नहीं की जा सकती। एक अखण्ड वस्तुमें भेद व्यवहार जहाँ वास्तविक (परमार्थभूत) है वहाँ भिन्न कर्तृ-कर्म आदि रूप व्यवहार वास्तविक (परमार्थभूत) नहीं है। वह वास्तविक क्यों नहीं है इसका स्पष्टीकरण हम पहले कर ही आये हैं, इसलिए दोनों स्थलोंपर उपचार शब्दका व्यवहार किया गया है मात्र इस शब्द साम्यको देखकर उनकी परिगणना एक कोटिमें नहीं करनी चाहिए। मोक्षमार्गमें भेदव्यवहार गौण होनेसे त्यजनीय है और भिन्न कर्तृ-कर्म आदि रूप व्यवहार अवास्तविक होनेसे त्यजनीय है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इसप्रकार आगममें उपचरित कथन कितने प्रकारसे किया गया है और वह कहाँ किस आशयसे किया गया है इसका विचारकर अब अनुपचरित कथनकी संक्षेपमें मीमांसा करते हैं—

यह तो स्पष्ट बात है कि प्रत्येक द्रव्य परिणमनस्वभाव है,

इसलिए वह अपने इस परिणमनस्वभावके कारण ही परिणमन करता है। अन्य कोई परिणमन करावे तब वह परिणमन करे अन्यथा न करे ऐसा नहीं है। कार्य-कारणपरम्परामें यह सिद्धान्त परमार्थभूत अर्थका प्रतिपादन करनेवाला है। इससे ये तथ्य फलित होते हैं—

१. यह जीव अपने ही कारणसे स्वयं संसारी बना हुआ है और अपने ही कारणसे मुक्त होगा, इसलिए यथार्थरूपसे कार्य-कारणभाव एक ही द्रव्यमें घटित होता है। नयचक्रमें कहा भी है—

बंधे च मोक्ख हेऊ अण्णो ववहारदो य णायव्वो।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिओ खलु सव्वदरसीहिं ॥ २३५ ॥

व्यवहारसे (उपचारसे) बन्ध और मोक्षका हेतु अन्य पदार्थ (निमित्त) को जानना चाहिये। किन्तु निश्चय (परमार्थ) से यह जीव स्वयं बन्धका हेतु है और यही जीव स्वयं मोक्षका हेतु है ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है ॥२३५॥

२. जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है वह कर्ता है और कार्य उसका कर्म है। करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणके विषयमें भी इसी प्रकार जान लेना चाहिये।

३. प्रत्येक द्रव्यकी अपनी प्रत्येक समयकी पर्याय अपने परिणमन स्वभावके कारण होनेसे क्रमनियमित ही होती है। निमित्त स्वयं व्यवहार हेतु है, इसलिए उसके द्वारा वह आगे-पीछे की जा सके ऐसा नहीं है। उपादानको गौणकर उपचरित हेतुवश उसमें आगे-पीछे होनेका उपचार कर कथन करना अन्य बात है।

४. प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। इसमें उसके गुण और पर्याय भी उसी प्रकार स्वतन्त्र हैं यह कथन आ ही जाता है। इसलिए विवक्षित किसी एक द्रव्यका या उसके गुणों और पर्यायोंका अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायोंके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है। यह परमार्थ सत्य है। इसलिए एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ जो संयोगसम्बन्ध या आधार-आधेयभाव आदि कल्पित किया जाता है उसे अपरमार्थभूत ही जानना चाहिए। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए कटोरीमें रखा हुआ घी लीजिए। हम पूछते हैं कि उस घीका परमार्थभूत आधार क्या है—कटोरी है या घी ? आप कहोगे कि घीके समान कटोरी भी है तो हम पूछते हैं कि कटोरीको औंधा करनेपर वह गिर क्यों जाता है ? 'जो जिसका वास्तविक आधार होता है उसका वह कभी भी त्याग नहीं करता' इस सिद्धान्तके अनुसार यदि कटोरी भी घीका वास्तविक आधार है तो उसे कटोरीको कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। परन्तु कटोरीके औंधा करनेपर वह कटोरीको छोड़ ही देता है। इससे मालूम पड़ता है कि कटोरी घीका वास्तविक आधार नहीं है। उसका वास्तविक आधार तो घी ही है, क्योंकि वह उसे कभी भी नहीं छोड़ता। वह चाहे कटोरीमें रहे, चाहे भूमिपर रहे या चाहे उड़कर हवामें विलीन हो जावे, वह रहेगा सदा घी ही। यहाँपर यह दृष्टान्त घीरूप पर्यायको द्रव्य मानकर दिया है, इसलिए घीरूप पर्यायके बदलनेपर वह बदल जाता है यह कथन प्रकृतमें लागू नहीं होता। यह एक उदाहरण है इसीप्रकार कल्पित किये गये जितने भी सम्बन्ध हैं उन सबके विषयमें इसी दृष्टिकोणसे विचार कर लेना चाहिए। स्पष्ट है कि माने गये सम्बन्धोंमें एकमात्र तादात्म्य सम्बन्ध परमार्थभूत है। इसके सिवा निमित्तादिकी दृष्टिसे अन्य

जितने भी सम्वन्ध कल्पित किये गये हैं उन्हें उपचरित अतएव अपरमार्थभूत ही जानना चाहिए। वहुतसे मनीषी यह मानकर कि इससे व्यवहारका लोप हो जायगा ऐसे कल्पित सम्वन्धोंको परमार्थभूत माननेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु यही उनकी सबसे बड़ी भूल है, क्योंकि इस भूलके सुधरनेसे यदि उनके व्यवहारका लोप होकर परमार्थकी प्राप्ति होती है तो अच्छा ही है। ऐसे व्यवहारका लोप भला किसे इष्ट नहीं होगा। इस संसारी जीवको स्वयं निश्चयस्वरूप वननेके लिए अपनेमें अनादिकालसे चले आ रहे इस अज्ञानमूलक व्यवहारका ही तो लोप करना है। उसे और करना ही क्या है। वास्तवमें देखा जाय तो यही उसका परम (सम्यक्) पुरुपार्थ है, इसलिए व्यवहारका लोप हो जायगा इस भ्रान्तिवश परमार्थसे दूर रहकर व्यवहारको ही परमार्थरूप समझनेकी चेष्टा करना उचित नहीं है।

५. जीवकी संसार और मुक्त अवस्था है और वह वास्तविक है इसमें सन्देह नहीं। पर इस आधारसे कर्म और आत्माके संश्लेष सम्वन्धको वास्तविक मानना उचित नहीं है। जीवका संसार उसकी पर्यायमें ही है और मुक्ति भी उसीकी पर्यायमें है। ये वास्तविक हैं और कर्म तथा आत्माका संश्लेपसम्वन्ध उपचरित है। स्वयं संश्लेप सम्बन्ध यह शव्द ही जीव और कर्मके पृथक् पृथक् होनेका ख्यापन करता है। इसीलिए यथार्थ अर्थका ख्यापन करते हुए शास्त्रकारोंने यह वचन कहा है कि जिस समय आत्मा शुभ भावरूपसे परिणत होता है उस समय वह स्वयं शुभ है, जिस समय अशुभ भावरूपसे परिणत होता है उस समय वह स्वयं अशुभ है और जिस समय शुद्ध भावरूपसे परिणत होता है उस समय वह स्वयं शुद्ध है। यह कथन एक ही द्रव्यके आश्रयसे किया गया है दो द्रव्योंके आश्रयसे नहीं,

इसलिए परमार्थभूत है और कर्मोंके कारण जीव शुभ या अशुभ होता है और कर्मोंका अभाव होनेपर शुद्ध होता है यह कथन उपचरित होनेसे अपरमार्थभूत है, क्योंकि जब ये दोनों द्रव्य स्वतन्त्र हैं और एक द्रव्यके गुण धर्मका दूसरे द्रव्यमें संक्रमण होता नहीं तब एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका कारणरूप गुण और दूसरे द्रव्यमें उसका कर्मरूप गुण कैसे रह सकता है, अर्थात् नहीं रह सकता। यह कथन थोड़ा सूक्ष्म तो है। परन्तु वस्तु-स्थिति यही है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम तत्त्वार्थ-सूत्रका एक वचन उद्धृत करना चाहेंगे। तत्त्वार्थसूत्रके १० वें अध्यायके प्रारम्भमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति कैसे होती है इसका निर्देश करते हुए कहा है—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१०–१॥

मोहनीय कर्मके क्षयसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मके क्षयसे केवलज्ञान होता है ॥१०–१॥

यहाँपर केवलज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु क्या है इसका निर्देश करते हुए बतलाया है कि वह मोहनीय कर्मके क्षयके बाद ज्ञानावरणादि तीन कर्मोंके क्षयसे होता है। यहाँपर क्षयका अर्थ प्रध्वंसाभाव है, अत्यन्ताभाव नहीं, क्योंकि किसी भी द्रव्यका पर्यायरूपसे ही नाश होता है, द्रव्यरूपसे नहीं। अब विचार कीजिए कि ज्ञानावरणादिरूप जो कर्मपर्याय है उसके नाशसे उसकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय प्रकट होगी कि जीवकी केवल-ज्ञान पर्याय प्रगट होगी। एक बात और है वह यह कि जिस समय केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है उस समय तो ज्ञाना-वरणादि कर्मोंका अभाव ही है और अभावको कार्योत्पत्तिमें कारण माना नहीं जा सकता। यदि अभावको भी कार्योत्पत्तिमें

कारण माना जाय तो खरविषाणको या आकाशकुसुमको भी कार्योत्पत्तिमें कारण मानना पड़ेगा। यदि कहो कि यहाँपर अभावसे सर्वथा अभाव नहीं लिया गया है। किन्तु भावान्तर स्वभाव अभाव लिया गया है तो हम पूछते हैं कि वह भावान्तर स्वभाव अभाव क्या वस्तु है ? उसका नाम निर्देश करना चाहिए। यदि कहो कि यहाँ पर भावान्तर स्वभाव अभावसे ज्ञानावरणादि कर्मोंकी अकर्मरूप उत्तर पर्याय ली गई है तो हम पूछते हैं कि यह आप किस आधारसे कहते हैं ? उक्त सूत्रसे तो यह अर्थ फलित होता नहीं, अतः इसे निमित्त कथनपरक वचन न मान कर हेतुपरक वचन मानना चाहिए। स्पष्ट है कि यहाँ पर जीवकी केवलज्ञान पर्याय प्रगट होनेका जो मुख्य हेतु उपादान कारण है उसे तो गौण कर दिया गया है और जो ज्ञानकी मतिज्ञान आदि पर्यायोंका उपचरित हेतु था उसके अभावको हेतु बनाकर उसकी मुख्यतासे यह कथन किया गया है। यहाँ दिखलाना तो यह है कि जब केवलज्ञान अपने उपादानके लक्ष्यसे प्रगट होता है तब ज्ञानावरणादि कर्मरूप उपचरित हेतुका सर्वथा अभाव रहता है। परन्तु इसे (अभावको) हेतु बनाकर यों कहा गया है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रगट होता है। यह व्याख्यानकी शैली है जिसके शास्त्रोंमें पद पदपर दर्शन होते हैं।[1] परन्तु यथार्थ बातको समझे बिना इसे ही कोई यथार्थ मानने लगे तो उसे क्या कहा जाय ? यह तो हम मानते हैं कि व्यवहारकी मुख्यतासे कथन करनेवाले जितने भी शास्त्र हैं उनमें प्रायः उपादानको गौण करके कहीं निमित्तकी मुख्यतासे कथन किया गया है, कहीं

१ सिद्धिं गतिमनन्तचतुष्टयं प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति लोकाग्रमिति। मूलाचार समयसार अधिकार गाथा १०, टीका।

लौकिक व्यवहारको मुख्यतासे कथन किया गया है और कहीं अन्य प्रकारसे कथन किया गया है। पर ऐसे कथनका प्रयोजन क्या है इसे तो समझे नहीं और उसे ही यथार्थ कथन मानकर श्रद्धान करने लगे तो उसकी इस श्रद्धाको यथार्थ कहना कहाँ तक उचित होगा इसका विचक्षण पुरुष स्वयं विचार करें। वास्तवमें निमित्त यह उपचरित हेतु है, मुख्य हेतु नहीं। मुख्य हेतु तो सर्वत्र अपना उपादान ही होता है, क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति उसीसे होती है। फिर भी वह बाह्य हेतु (उपचरित हेतु) होनेसे उस द्वारा सुगमतासे इष्टार्थका ज्ञान हो जाता है, इसलिए आगममें और दर्शनशास्त्रमें बहुलतासे उसकी मुख्यतासे कथन किया गया है। इसलिए जहाँ जिस दृष्टिकोणसे कथन किया गया हो उसे समझकर ही तत्त्वका निर्णय करना चाहिए।

ये उपचरित और अनुपचरित कथनके कुछ उदाहरण हैं जो गौण-मुख्यभावसे यथा प्रयोजन शास्त्रोंमें स्वीकार किये गये हैं। उदाहरणार्थ जो दर्शनशास्त्रके ग्रन्थ हैं उनकी रचनाका प्रयोजन ही भिन्न है, इसलिए वहाँ पर मोक्षमार्गकी दृष्टिसे मात्र स्वसमयके प्रतिपादनकी मुख्यता न होकर स्वसमयके साथ पर समयकी भी समान भावसे मीमांसा की गई है। फलस्वरूप उनमें कहीं तो उपचरित अर्थकी मुख्यतासे कथन किया गया है, कहीं अनुपचरित अर्थकी मुख्यतासे कथन किया गया है और कहीं उपचरित और अनुपचरित दोनों अर्थोंकी मुख्यतासे कथन किया गया है। किन्तु साक्षात् मोक्षमार्गकी दृष्टिसे स्वसमयका विवेचन करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्रके ग्रन्थ हैं उनकी स्थिति इनसे भिन्न है[1]। यदि

१. सर्वस्यागमस्य स्वसमय-परसमयानाञ्च सारभूतं समयसाराख्यमधिकारम्......। मूलाचार समयसार अधिकारकी प्रारम्भकी उत्थानिका।

विचार कर देखा जाय तो इनकी रचनाका प्रयोजन ही जुदा है। इन द्वारा प्रत्येक जीवको अपनी उस शक्तिका ज्ञान कराया गया है जो उसकी संसार और मुक्त अवस्थाका मुख्य हेतु है, क्योंकि जबतक इस जीवको अपनी उपादान शक्तिका ठीक तरहसे ज्ञान नहीं होता और वह निमित्तोंकी जोड़-तोड़में लगा रहता है तबतक उसका संसार बन्धनसे मुक्त होना तो दूर रहा वह मोक्षमार्गका भी पात्र नहीं हो सकता। अतः इन शास्त्रोंमें हेयोपादेयका ज्ञान करानेके लिए उपचरित कथनको और भेदरूप व्यवहारको गौण करके अनुपचरित (निश्चय) कथनको मुख्यता दी गई है और उस द्वारा निश्चय स्वरूप आत्माका ज्ञान कराते हुए एकमात्र उसीका आश्रय लेनेका उपदेश दिया गया है।

यह तो सुनिश्चित बात है कि जितना भी व्यवहार है वह पराश्रित होनेसे हेय है, क्योंकि यह जीव अनादिकालसे अपने उपादानकी सम्हाल किये बिना परका आश्रय लिए हुए है, अतएव संसारका पात्र बना हुआ है। अब इसे जिसमें पराश्रयपनेका लेश भी नहीं है ऐसे अपने स्वाश्रयपनेको अपनी श्रद्धा, ज्ञान और चर्याके द्वारा अपनेमें ही प्रगट करना है तभी वह अध्यात्मवृत्त होकर मोक्षका पात्र बन सकेगा। यह तो है कि प्रारम्भिक अवस्थामें ऐसे जीवका अपनी पर्यायमेंसे पराश्रयपना सर्वथा छूट जाता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि उसमेंसे पराश्रयपनेकी अन्तिम परिसमाप्ति विकल्पज्ञानके निवृत्त होनेपर ही होती है। फिर भी सर्वप्रथम यह जीव अपनी श्रद्धा द्वारा पराश्रयपनेका त्याग करता है। उसके बाद वह चर्याका रूप लेकर विकल्प ज्ञानसे निवृत्त होता हुआ क्रमशः निर्विकल्प समाधिदशामें परिणत हो जाता है। जीवकी यह स्वाश्रय वृत्ति अपनी श्रद्धा, ज्ञान और चर्यामें किस

प्रकार उदित होती है इसका निर्देश करते हुए छहढालामें कहा भी है—

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डार अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं निज भावको न्यारा किया॥
निजमांहि निजके हेत निजकरि आपको आपे गह्यौ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मझार कछु भेद न रह्यौ॥

इस छन्दमें सर्वप्रथम उत्तम बुद्धिरूपी छैनीके द्वारा अन्तरको भेदकर वर्णादिक और रागादिकसे निज भाव (ज्ञायक स्वभाव आत्मा) को जुदा करनेका जो उपदेश दिया गया है और उसके बाद जो निज भाव है उसको अपनेमें ही अपने द्वारा अपने लिए ग्रहणकर यह गुण है, यह गुणी है, यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है और यह ज्ञेय है इत्यादि विकल्पोंसे निवृत्त होनेका जो उपदेश दिया गया है सो इस कथन द्वारा भी उसी स्वाश्रयपनेका निर्देश किया गया है जिसका हम पूर्वमें उल्लेख कर आये हैं। इस द्वारा बतलाया गया है कि सर्वप्रथम इस जीवको यह जान लेना आवश्यक है कि वर्णादिकका आश्रयभूत पुद्गल द्रव्य भिन्न है और ज्ञायक स्वभाव आत्मा भिन्न है। किन्तु उसका इतना जानना तभी परिपूर्ण समझा जायगा जब उसकी परको निमित्त कर होनेवाले रागादि भावोंमें भी पर बुद्धि हो जाय, इसलिए इस जीवको ये रागादिक भाव ज्ञायक स्वभाव आत्मासे भिन्न हैं यह जान लेना भी आवश्यक है। अब समझो कि किसी जीवने यह जान भी लिया कि मेरा ज्ञायक स्वभाव आत्मा इन वर्णादिकसे और रागादिक भावोंसे भिन्न है तो भी उसका इतना जानना पर्याप्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि जबतक इस जीवकी यह बुद्धि बनी रहती है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति निमित्तसे होती है तब-

तक उसके जीवनमें निमित्तका अर्थात् परके आश्रयका ही बल बना रहनेसे उसने पराश्रयवृत्तिको त्याग दिया यह नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जो वर्णादिक और रागादिकसे अपने ज्ञायकस्वभाव आत्माको भिन्न जानता है वह यह भी जानता है कि प्रत्येक द्रव्यकी प्रति समयकी पर्याय निमित्तसे उत्पन्न न होकर अपने उपादानसे ही उत्पन्न होती है। यद्यपि यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब कि प्रत्येक द्रव्यकी प्रति समयकी पर्याय निमित्तसे उत्पन्न न होकर अपने उपादानसे ही उत्पन्न होती है तब रागादि भाव परके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं यह क्यों कहा जाता है ? समाधान यह है कि रागादि भावोंकी उत्पत्ति होती तो अपने उपादानसे ही है, निमित्तोंसे त्रिकालमें नहीं होती, क्योंकि अन्य द्रव्यमें तद्भिन्न अन्य द्रव्यके कार्य करनेकी शक्ति ही नहीं पाई जाती। फिर भी रागादिभाव परके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं यह परकी ओर झुकावरूप दोष जतानेके लिए ही कहा जाता है। वे परसे उत्पन्न होते हैं इसलिए नहीं। स्व-परकी एकत्व बुद्धिरूप मिथ्या मान्यताके कारण ही यह जीव संसारी हो रहा है। जीव और देहमें एकत्व बुद्धिका मुख्य कारण भी यही है। इस जीवको सर्वप्रथम इस मिथ्या मान्यताका ही त्याग करना है। इसके त्याग होते ही वह जिनेश्वरका लघुनन्दन बन जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी आगेकी स्वातन्त्र्य मार्गकी प्रक्रिया सुगम हो जाती है। अतएव जैनदर्शन या व्यवहारनयकी मुख्यतासे कथन करनेवाले शास्त्रोंकी कथनशैलीसे अध्यात्मशास्त्रोंकी कथन शैलीमें जो दृष्टि भेद है उसे समझकर ही प्रत्येक मुमुक्षुको उनका व्याख्यान करना चाहिए। लोकमें जितने प्रकारके उपदेश पाये जाते हैं उनकी स्वमतके अनुसार किस प्रकार संगति बिठलाई जा सकती है यह दिखलाना जैनदर्शनका मुख्य प्रयोजन है, इसलिए

उसमें कौन उपचरित कथन है और कौन अनुपचरित कथन है ऐसा भेद किये विना नय-प्रमाणदृष्टिसे दोनोंको स्वीकार किया गया है। किन्तु अध्यात्मशास्त्रके कथनका मुख्य प्रयोजन जीवको स्व-परका विवेक कराते हुए संसार वन्धनसे छुड़ानेका साक्षात् उपाय वतलाना है, इसलिए इसमें उपचरित कथनको गौण करके अनुपचरित कथनको ही मुख्यता दी गई है। इसप्रकार तीर्थंकरोंका समग्र वाङ्मय उपचरित कथन और अनुपचरित कथन इन दो भागोंमें कैसे विभाजित है इसकी विषय-प्रवेशकी दृष्टिसे संक्षेपमें मीमांसा की।

वस्तुस्वभावमीमांसा

उपजे विनशे थिर रहे एक काल त्रयरूप।
विधि-निषेधसे वस्तु यों वरते सहज स्वरूप॥

जीवन संशोधनमें तत्त्वनिष्ठाका जितना महत्त्व है, कार्यकारण भावकी मीमांसाका उससे कम महत्त्व नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दने भूतार्थरूपसे अवस्थित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्षके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहकर जीवा-जीवाधिकारके वाद कर्तृकर्मअधिकार लिखा है। उसका कारण यही है। तथा आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें 'सदसतोः' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए मिथ्यादृष्टिके स्वरूपविपर्यास और भेदाभेदविपर्यासके समान कारणविपर्यास होता है यह उल्लेख इसी अभिप्रायसे किया है।

यह तो मानी हुई बात है कि विश्वमें जितने भी दर्शन प्रचलित हैं उन सबने तत्त्वव्यवस्थाके साथ कार्यकारणका जो क्रम स्वीकार किया है उसमें पर्याप्त मतभेद है। प्रकृतमें प्रत्येक दर्शनके आधारसे उनकी मीमांसा नहीं करनी है। वह इस पुस्तकका विषय भी नहीं है। यहाँ तो मात्र जैनदर्शनके आधारसे विचार करना है। तत्त्वार्थसूत्रमें द्रव्यका लक्षण सत् करके उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाव बतलाया गया है। गुण अन्वयस्वभाव होनेसे ध्रौव्यके अविनाभावी हैं और पर्याय व्यतिरेकस्वभाव होनेसे उत्पाद और व्ययके अविनाभावी हैं, इसलिए प्रकारान्तरसे वहांपर द्रव्यको गुण-पर्यायवाला भी कहा गया है। चाहे द्रव्यको गुण-पर्यायवाला कहो और चाहे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव कहो दोनों कथनोंका अभिप्राय एक ही है।

यों तो जातिकी अपेक्षा अपने अपने विशेष लक्षणके अनुसार सब द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। उसमें भी जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं, पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य असंख्यात हैं। फिर भी द्रव्यके इन सब भेद-प्रभेदोंमें द्रव्यका पूर्वोक्त एक लक्षण घटित हो जानेसे वे सब एक द्रव्य शब्द द्वारा अभिहित किये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि लोकमें अपनी अपनी स्वतन्त्र सत्ताको लिए हुए चेतन और जड़ जितने भी पदार्थ हैं वे सब शक्तिकी अपेक्षा ध्रौव्यस्वभाववाले होकर भी पर्यायकी अपेक्षा स्वयं उत्पन्न होते हैं और स्वयं विनाशको प्राप्त होते हैं। कर्मने जीवको बांधा है या जीव स्वयं कर्मसे बन्धको प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार कर्म जीवको क्रोधादिरूपसे परिणमाता है या जीव स्वयं क्रोधादि-

रूपसे परिणमन करता है। इन दोनों पक्षोंमें कौन-सा पक्ष जैनधर्ममें तत्त्वरूपसे ग्राह्य है इस विषयकी आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें स्वयं मीमांसा की है। उनका कहना है कि जीव द्रव्य यदि स्वयं कर्मसे नहीं बंधा है और स्वयं क्रोधादिरूपसे परिणमन नहीं करता है तो वह अपरिणामी ठहरता है और इस प्रकार उसके अपरिणामी हो जानेपर एक तो संसारका अभाव प्राप्त होता है दूसरे सांख्यमतका प्रसंग आता है। यह कहना कि जीव स्वयं तो अपरिणामी है परन्तु उसे क्रोधादि भावरूपसे क्रोधादि कर्म परिणमा देते हैं उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जीवको स्वयं परिणमन स्वभाववाला नहीं माननेपर क्रोधादि कर्म उसे क्रोधादि भावरूपसे कैसे परिणमा सकते हैं? यदि इस दोषका परिहार करनेके लिए जीवको स्वयं परिणमनशील माना जाता है तो क्रोधादि कर्म जीवको क्रोधादि भावरूपसे परिणमाते हैं यह कहना तो मिथ्या ठहरता ही है। साथ ही इस परसे यही फलित होता है कि जब यह जीव स्वयं क्रोधरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं क्रोध है, जब स्वयं मानरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं मान है, जब स्वयं मायारूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं माया है और जब स्वयं लोभरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं लोभ है।[1] आचार्य कुन्दकुन्दने यह मीमांसा केवल जीवके आश्रयसे ही नहीं की है। कर्मवर्गणाऐं ज्ञानावरणादि कर्म-रूपसे कैसे परिणमन करती हैं इसकी मीमांसा करते हुए भी उन्होंने इसका मुख्य कारण परिणामस्वभावको ही बतलाया है।[2] एक द्रव्य अन्य द्रव्यको क्यों नहीं परिणमा सकता इसके

१. समयप्राभृत गाथा १२१ से १२५ तक। २. समयप्राभृत गाथा ११६ से १२० तक।

कारणका निर्देश करते हुए वे इसी समयप्राभृतमें कहते हैं:—

> जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
> सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो जिस द्रव्य या गुणमें रह रहा है उसे छोड़कर वह अन्य द्रव्य या गुणमें कभी भी संक्रमित नहीं होता। वह जब अन्य द्रव्य या गुणमें संक्रमित नहीं होता तो वह उसे कैसे परिणमा सकता है, अर्थात् नहीं परिणमा सकता ॥१०३॥

तात्पर्य यह है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं वे सब अपने उपादानके अनुसार ही होते हैं। यह नहीं हो सकता कि उपादान तो घटका हो और उससे पटकी निष्पति हो जावे। यदि घटके उपादानसे पटकी उत्पत्ति होने लगे तो लोकमें न तो पदार्थोंकी ही व्यवस्था बन सकेगी और न उनसे जायमान कार्योंकी ही। 'गणेशं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' जैसी स्थिति उत्पन्न हो जावेगी।

जिसे जैनदर्शनमें उपादान कारण कहते हैं उसे नैयायिक-दर्शनमें समवायीकारण कहा गया है। यद्यपि नैयायिकदर्शनके अनुसार जड़-चेतन प्रत्येक कार्यका कर्ता इच्छावान्, प्रयत्नवान् और ज्ञानवान् सचेतन पदार्थ ही हो सकता है, समवायीकारण नहीं। उसमें भी वह सचेतन पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे प्रत्येक समयमें जायमान सब कार्योंके अदृष्टादि कारकसाकल्यका पूरा ज्ञान हो। इसीलिए उस दर्शनमें सब कार्योंके कर्तारूपसे इच्छावान्, प्रयत्नवान् और ज्ञानवान् ईश्वरकी स्वतन्त्र रूपसे स्थापना की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस दर्शनमें सब कार्योंके कर्तारूपसे ईश्वरपर इतना बल दिया गया है वह दर्शन ही जब कार्योत्पत्तिमें समवायी कारणोंके सद्भावको स्वीकार

करता है। अर्थात् अपने अपने समवायीकारणोंसे समवेत होकर ही जब वह घटादि कार्योंकी उत्पत्ति मानता है ऐसी अवस्थामें अन्य कार्यके उपादानसे अन्य कार्यकी उत्पत्ति होजाय यह मान्यता तो त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने जहाँ भी किसी कार्यका कारणकी दृष्टिसे विचार किया है वहां उन्होंने उसके कारणरूपसे उपादान कारणको ही प्रमुखता दी है। वह कार्य चाहे संसारी आत्माका शुद्धि सम्बन्धी हो और चाहे घट-पटादिरूप अन्य कार्य हो, होगा वह अपने उपादानके अनुसार ही यह उनके कथनका आशय है। जैनदर्शनमें प्रत्येक द्रव्यको परिणामस्वभावी माननेकी सार्थकता भी इसीमें है।

प्रश्न यह है कि जब प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है तो वह प्रत्येक समयमें बदलकर अन्य-अन्य क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि प्रथम समयमें जो द्रव्य है वह जब दूसरे समयमें बदल गया तो उसे प्रथम समयवाला मानना कैसे संगत हो सकता है ? इसलिए या तो यह कहना चाहिए कि कोई भी द्रव्य परिणमनशील नहीं है या यह मानना चाहिए कि जो प्रथम समयमें द्रव्य है वह दूसरे समयमें नहीं रहता। उस समयमें अन्य द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे समयमें जो द्रव्य है वह तीसरे समयमें नहीं रहता, क्योंकि उस समयमें अन्य नवीन द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। यह क्रम इसी प्रकार अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। प्रश्न मार्मिक है। जैन दर्शन इसकी महत्ताको स्वीकार करता है। तथापि इसकी महत्ता तभी तक है जबतक जैनदर्शनमें स्वीकार किये गये 'सत्' के स्वरूप निर्देशपर ध्यान नहीं दिया जाता। वहाँ यदि 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी माना गया होता तो यह आपत्ति

अनिवार्य होती। किन्तु वहाँ 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी न मानकर यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वय रूप धर्मके कारण ध्रुवस्वभाव है तथा उत्पाद-व्ययरूप धर्मके कारण परिणामस्वभावी है। इसलिए 'सत्' को केवल परिणाम-स्वभावी मानकर जो आपत्ति दी जाती है वह प्रकृतमें लागू नहीं होती। हम 'सत्' के इस स्वरूपपर तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार पहले प्रकाश डाल ही आये हैं। इसी विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारमें क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए:—

समवेदं खलु दव्वं संभव-ठिदि-णाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्हि चेव समए तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०॥

द्रव्य एक ही समयमें उत्पत्ति, स्थिति और व्यय संज्ञावाली पर्यायोंसे समवेत है अर्थात् तादात्म्यको लिए हुए है, इसलिए द्रव्य नियमसे उन तीनमय है ॥३०॥

इसी विषयका विशेष खुलासा करते हुए वे पुनः कहते हैं:—

पादुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥११॥

द्रव्यकी अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और अन्य पर्याय व्ययको प्राप्त होती है। तो भी द्रव्य स्वयं न तो नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही हुआ है ॥११॥

यद्यपि यह कथन थोड़ा विलक्षण प्रतीत होता है कि द्रव्य स्वयं उत्पन्न और विनष्ट न होकर भी अन्य पर्यायरूपसे कैसे उत्पन्न होता है और तद्भिन्न अन्य पर्यायरूपसे कैसे व्ययको प्राप्त होता है। किन्तु इसमें विलक्षणताकी कोई बात नहीं है। स्वामी

समन्तभद्रने इसके महत्त्वको अनुभव किया था। वे आप्तमीमांसामें इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं:—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

हे भगवन्! आपके मतमें सत् अपने सामान्य स्वभावकी अपेक्षा न तो उत्पन्न होता है और न अन्वय धर्मकी अपेक्षा व्ययको ही प्राप्त होता है। फिर भी उसका उत्पाद और व्यय होता है सो यह पर्यायकी अपेक्षा ही जानना चाहिए, इसलिए सत् एक ही वस्तुमें उत्पादादि तीनरूप है यह सिद्ध होता है॥ ५७॥

आगे उसी आप्तमीमांसामें उन्होंने दो उदाहरण देकर इस विषयका स्पष्टीकरण भी किया है। प्रथम उदाहरण द्वारा वे कहते हैं:—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

घटका इच्छुक एक मनुष्य सुवर्णकी घट पर्यायका नाश होने पर दुखी होता है, मुकुटका इच्छुक दूसरा मनुष्य सुवर्णकी मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होने पर हर्षित होता है और मात्र सुवर्णका इच्छुक तीसरा मनुष्य घट पर्यायका नाश और मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होने पर न तो दुखी होता है और न हर्षित ही होता है किन्तु माध्यस्थ्य रहता है। इन तीन मनुष्योंका एक सुवर्णके आश्रयसे होनेवाला यह कार्य अहेतुक नहीं हो सकता। इससे सिद्ध है कि सुवर्णकी घट पर्यायका नाश और मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होने पर भी सुवर्णका न तो नाश होता है और

न उत्पाद ही। सुवर्ण अपनी घट, मुकुट आदि प्रत्येक अवस्थामें सुवर्ण ही बना रहता है ॥५९॥

दूसरे उदाहरण द्वारा इसी विषयको स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं :—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

जिसने दूध पीनेका व्रत लिया है वह दही नहीं खाता, जिसने दही खानेका व्रत लिया है वह दूध नहीं पीता और जिसने गोरसके सेवन नहीं करनेका व्रत लिया है वह दूध और दही दोनोंका उपयोग नहीं करता। इससे सिद्ध है कि तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनरूप है ॥६०॥

सर्वार्थसिद्धिमें इस विषयका और भी विशदताके साथ स्पष्टीकरण किया गया है। उसमें आचार्य पूज्यपाद कहते हैं :—

चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशाद्[1] भावन्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्। तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः। यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः। अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः। ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः। तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्तं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।

[तत्वार्थसू० अ० ५ सू० ३०]

---

१. यहाँ पर निमित्त शब्द कारणवाची है। तदनुसार उभय निमित्तसे उपादान और निमित्त दोनोंका ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि अपने अपने उपादानके अनुसार कार्यकी उत्पत्तिके समय निमित्त बलाधानमें हेतु होता है, इसलिए टीकामें उभयनिमित्तके वशसे उत्पन्न होना उत्पाद है ऐसा कहा है।

अपनी अपनी जातिको न छोड़ते हुए चेतन और अचेतन द्रव्यका उभय निमित्तके वशसे अन्य पर्यायका प्राप्त करना उत्पाद है। जैसे मिट्टीके पिण्डका घटपर्यायरूपसे उत्पन्न होना उत्पाद है। पूर्व पर्यायका नाश होना व्यय है। जैसे घटकी उत्पत्ति होने पर पिण्डरूप आकृतिका नाश होना व्यय है। तथा अनादि कालसे चले आ रहे अपने पारिणामिक स्वभावरूपसे न व्यय होता है और न उत्पाद होता है। किन्तु वह स्थिर रहता है। इसीका नाम ध्रुव है। तथा ध्रुवका भाव या कर्म ध्रौव्य है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पिण्ड और घटादि अवस्थाओंमें मिट्टीका अन्वय बना रहता है, इसलिए एक मिट्टी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाव है उसी प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त अर्थात् तादात्म्यको लिए हुए सत् है।

इस प्रकार इतने निवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि चेतन और अचेतन द्रव्यका प्रत्येक समयमें जो पर्यायरूपसे परिणमन होता है वह अन्य किसीका कार्य न होकर[1] उसकी अपनी विशेषता है। तथा पर्यायरूपसे परिणमन करते हुए भी जो वह अपने अनादिकालीन पारिणामिक स्वभावरूपसे स्थिर रहता है। उसका वह परम पारिणामिक भाव न उत्पन्न होता है और न व्ययको ही प्राप्त होता है यह भी उसकी अपनी विशेषता है। इन दोनों विशेषताओंका समुच्चयरूप (मिलित स्वभावरूप) द्रव्य या सत् है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

---

१. एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको नहीं परिणमाता है, अन्यथा प्रत्येक द्रव्यका परिणमन करना स्वभाव है यह सिद्ध नहीं होता। यही कारण है कि प्रकृतमें प्रत्येक द्रव्यका परिणमन करना तद्भिन्न अन्य द्रव्यका कार्य नहीं है यह कहा गया है। विशेष खुलासा पहले कर ही आये हैं।

निमित्तकारणकी स्वीकृति

उपादान निज गुण जहाँ तहँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोय॥

[पण्डितप्रवर बनारसीदासजी]

पिछले प्रकरणमें हम युक्ति और आगमसे यह सिद्ध कर आये हैं कि चेतन और अचेतन प्रत्येक द्रव्यका पर्यायरूपसे उत्पन्न होना और नाशको प्राप्त होना तथा परम पारिणामिक स्वभावमय अन्वयरूपसे उत्पन्न और विनष्ट हुए बिना स्थिर रहना उसका अपना स्वभाव है, वह अन्य किसीका कार्य नहीं है। आगममें छह द्रव्य और उनके कार्यरूप लोकको अकृत्रिम और अनादिनिधन कहनेका तथा उसके कर्तारूपसे ईश्वरके निषेधका तात्पर्य भी यही है। इसलिए यह प्रश्न होता है कि क्या यह एकान्त है कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप स्वभाव से अवस्थित है, वह अन्य किसीका कार्य नहीं है उसी प्रकार परिणमन करना उसका स्वभाव होनेसे मात्र वह अपने इस स्वभावके कारण ही परिणमन करता है या उसे अपने इस परिणमनरूप कार्यमें उससे भिन्न दूसरे कारण भी अपेक्षित रहते हैं। जहाँ तक आगमका सम्बन्ध है उसमें द्रव्यके उक्त स्वभावको स्वीकार करनेके बाद भी प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त कारणों-का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रमें एक द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यका क्या उपकार करता है इसका निर्देश करते हुए कहा गया है कि जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें निमित्त होना

धर्म द्रव्यका उपकार है। जीवों और पुद्गलोंकी स्थितिमें निमित्त होना अधर्म द्रव्यका उपकार है। सब द्रव्योंको अवकाश देनेमें निमित्त होना आकाश द्रव्यका उपकार है। शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासकी रचना करके उस द्वारा संसारी जीवोंके लिए निमित्त होना पुद्गलोंका उपकार है। सुख, दुख, जीवन और मरणमें जीवोंके लिए निमित्त होना यह भी पुद्गलोंका उपकार है। जीवोंके सुख, दुख, जीवन और मरणके साथ अन्य कार्योंमें निमित्त होना जीवोंका उपकार है। तथा सब द्रव्योंके यथासम्भव वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्वमें निमित्त होना कालद्रव्यका उपकार है[1]। यहां पर परत्व और अपरत्वसे कालनिमित्तक परत्व और अपरत्व लिये गये हैं।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि कोई विवक्षित द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यका भला करता है इस अर्थमें यहाँ उपकार शब्द नहीं आया है। किन्तु प्रत्येक द्रव्यका विवक्षित कार्य होते समय किस कार्यमें कौन द्रव्य किस रूपमें निमित्त होता है इस अर्थमें यह उपकार शब्द आया है। यही कारण है कि प्रकृतमें हमने उपकार शब्दका अर्थ निमित्त किया है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यमें निमित्त ही हो सकता है, वास्तवमें भला बुरा तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर ही नहीं सकता ऐसा नियम है[2]।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यमें निमित्त ही होता है इस तथ्यको आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें स्पष्टरूपसे स्वीकार किया है। वे कहते हैं :—

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सू० १७ से २२ तक। २. देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार ३।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

जीवके राग-द्वेष आदि परिणामोंको निमित्त करके पुद्गल वर्गणाऐं कर्मरूपसे परिणमन करती हैं और पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी उसी प्रकार राग-द्वेष आदिरूपसे परिणमन करता है ॥ ८० ॥

कार्यका उत्पाद सहेतुक होता है इस तथ्यको 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः' इन शब्दों द्वारा आप्तमीमांसामें स्वामी समन्तभद्रने भी स्वीकार किया है। द्रव्यकी पूर्व पर्यायका क्षय और उत्तर पर्यायका उत्पाद एक हेतुक है यह इसका तात्पर्य है। यहाँ 'एक हेतुक है' इसका अर्थ उपादानहेतुक है यह भी हो सकता है और निमित्त-हेतुक है यह भी हो सकता है। इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी विद्यानन्द अष्टसहस्री (पृ० २१०) में कहते हैं :—

ततो नेदमनुमानं बाधकम्, कपालोत्पादस्य घटविनाशस्य चैकहेतुत्व-नियमप्रतीतेः। एकस्मादेव मृदाद्युपादानात्तद्भावस्य सिद्धेरेकस्माच्च मुद्गरादिसहकारिकलापात्तत्संप्रत्ययात् ।

इसलिए यह अनुमान बाधक नहीं है, क्योंकि कपालोत्पाद और घटविनाशमें एक हेतुपनेका नियम देखा जाता है। एक ही मिट्टी आदिरूप उपादानसे घटविनाश और कपालोत्पादरूप कार्यकी सिद्धि होती है तथा एक ही मुद्गरादिरूप सहकारी कलापसे घटविनाश और कपालोत्पादरूप कार्यका ज्ञान होता है।

विद्यानन्द स्वामीके इस कथनसे स्पष्ट है कि प्रकृतमें 'एक हेतु' पदसे उपादानके साथ निमित्तका भी ग्रहण इष्ट रहा है।

आगे कार्यकी सिद्धि न केवल दैवनिमित्तक होती है और न

केवल पौरुषनिमित्तक ही होती है इस तथ्यका निर्देश करते हुए उसी आप्तमीमांसामें स्वामी समन्तभद्र पुनः कहते हैं :—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

यद्यपि संसारी जीवोंके प्रत्येक कार्यमें दैव और पौरुष दोनों ही निमित्त हैं, परन्तु जो इष्ट और अनिष्ट कार्य अबुद्धिपूर्वक होते हैं उनमें दैवकी मुख्यता होनेसे वे दैवनिमित्तक कहे जाते हैं तथा जो इष्ट और अनिष्ट कार्य बुद्धिपूर्वक होते हैं उनमें पौरुषकी मुख्यता होनेसे वे पौरुषनिमित्तक कहे जाते हैं।

यहाँ पर यद्यपि दैवका अर्थ योग्यता और पौरुषका अर्थ अपना बल वीर्य करके उक्त श्लोकका अर्थ उपादान परक भी हो सकता है पर इस प्रकरणका प्रयोजन आगममें निमित्तको स्वीकार किया है यह दिखलानामात्र है, इसलिए प्रकृतमें हमने उसका अर्थ निमित्तपरक किया है।

इस सम्बन्धमें भट्टाकलंकदेवका अभिप्राय भी यही है। उन्होंने इसपर जो टीका लिखी है वह इस प्रकार है:—

ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतम्। तद्विपरीतं पौरुषापादितम्, अपेक्षाकृतत्वात्तद्व्यवस्थायाः।

षट्खंडागम जीवस्थान चूलिकामें प्रत्येक गतिमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके बाह्य साधनोंका निर्देश करते हुए स्पष्ट लिखा है कि नारकियोंमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाभिभव ये तीन बाह्य साधन होते हैं। यह व्यवस्था तीसरे नरक तक ही है। आगेके नरकोंमें धर्मश्रवण साधन नहीं है। तिर्यञ्चोंमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके जातिस्मरण धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन

ये तीन साधन होते हैं। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके ये ही तीन साधन मनुष्योंमें भी होते हैं। देवोंमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन और देवर्धिदर्शन ये चार साधन होते हैं। ये चार साधन भवनवासियोंसे लेकर सहस्रारकल्प तकके देवोंमें होते हैं। आगेके चार कल्पोंमें देवर्धिदर्शनको छोड़कर तीन साधन होते हैं। तथा नौ ग्रैवेयकके देवोंमें जातिस्मरण और धर्म-श्रवण ये दो ही साधन होते हैं।[1] यहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके ये बाह्य साधन बतलाये हैं। इसी प्रकार उसी चूलिकामें क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका बाह्य साधन केवली या श्रुत-केवलीका सान्निध्य बतलाया है।

जीवस्थान चूलिकाके इस कथनसे भी ज्ञात होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यमें निमित्त होता है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके उक्त साधनोंका निर्देश सर्वार्थसिद्धि[2] आदि शास्त्रोंमें भी किया गया है। उससे भी उक्त अभिप्रायकी पुष्टि होती है।

सर्वार्थसिद्धिमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका अन्तरंग हेतु क्या है इसका निर्देश करते हुए उसे दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप ही बतलाया गया है। यह हेतु निसर्गज और अधिगमज दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंकी उत्पत्तिमें समान है। मात्र इन दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें यदि कोई भेद है तो वह बाह्य उपदेशके निमित्तसे होने और न होनेकी अपेक्षासे ही है। तात्पर्य यह है कि अन्तरंग हेतुके सद्भावमें जो बाह्य उपदेशको निमित्त किये बिना होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है और जो बाह्य उपदेशको निमित्त करके होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन

---

१. जीवस्थान चूलिका ९, सूत्र ६ से ४२ तक। २. तत्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र ७ की टीका।

है। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके अन्तरंग और बहिरंग जिन हेतुओंका निर्देश सर्वार्थसिद्धिमें किया है उन्हींका निर्देश तत्त्वार्थवार्तिकमें भी किया है।[1]

सामान्य नियम यह है कि जो द्रव्य जिस समय जिस रूप परिणमन करता है वह उस समय तन्मय होता है। जैसे धर्मरूप परिणत आत्मा धर्म होता है, शुभरूप परिणत आत्मा शुभ होता है और अशुभरूप परिणत आत्मा अशुभ होता है।[2] अन्यथा प्रत्येक द्रव्यका अपनी वर्तमान पर्यायके साथ तादात्म्य नहीं बन सकता है। आत्माके संसारी और मुक्त ये दो भेद इसी कारण से होते हैं। तथा संसारी आत्माके नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, उपशमसम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि आदि भेद भी इसी कारणसे होते हैं। ये सब भेद आत्माके हैं। इन्हें नोआगमभावरूप कहनेका कारण यही है। इसलिए इनमेंसे जिस समय आत्मा जिस भावरूपसे परिणत होता है उस समय वह तन्मय होता है। इस स्थितिके सद्भावमें इन सब नारक आदि भावोंको परभाव क्यों कहा जाता है ? इसका कारण यह नहीं है कि वे पर्यायदृष्टिसे भी अभूतार्थ हैं या वस्तुतः पौद्गलिक हैं। किन्तु इसका कारण मात्र इनका नैमित्तिकपना ही है। इससे भी यही सूचित होता है कि जीवके इन भावोंकी उत्पत्तिमें अन्य पुद्गलकर्म और दूसरे द्रव्यादि पदार्थ निमित्त

१. तत्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र ३ की सर्वार्थसिद्धि व तत्वार्थवार्तिक टीका। २. प्रवचनसार गाथा ७।

होते हैं, इसलिए ये नैमित्तिक होनेसे मोक्षमार्गमें परभाव कहे गये हैं।

कर्म आत्माके रागादि भावोंको निमित्त करके आत्मासे बंधते हैं और इस बन्धदशामें उनकी बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्त्व, उपशम, क्षयोपशम, क्षय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, निधत्ति और निकाचित आदिरूप विविध अवस्थाएँ होती हैं। माना कि कर्मोंमें इन सब अवस्थाओंरूप परिणत होनेकी योग्यता होती है, इसलिए वे उन अवस्थाओंरूप परिणत होते हैं। फिर भी ये सब कार्य होते हैं जीवके रागादि भावरूप निमित्तोंके सद्भावमें ही, इसलिए इससे भी एक द्रव्यके कार्यमें अन्य द्रव्य निमित्त होता है यह सिद्ध होता है।

लोकमें भी घट-पटादि कार्योंकी उत्पत्ति निमित्तोंके सद्भावमें देखी जाती है। जिससे सर्वत्र यह व्याप्ति बनाई जा सकती है कि लोकमें सूक्ष्म और स्थूल जितने भी कार्य होते हैं उनकी उत्पत्तिमें निमित्त होते हैं। यदि हम थोड़ा और विचार करते हैं तो हमें यह भी ज्ञात होता है कि जो शुद्ध अवस्था विशिष्ट द्रव्यका कार्य है। जैसे सिद्ध आत्माका लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन या पुद्गल परमाणुकी सीमित क्षेत्र तक गति या लोकान्तप्रापिणी गति तो उसमें भी धर्मद्रव्य निमित्त है। यद्यपि इन द्रव्योंकी यह गतिक्रिया अपने अपने उपादानके अनुसार होती है फिर भी इनकी गति-क्रियाके समय अन्य द्रव्य निमित्त होता है ऐसा सूत्रकारोंका कथन है।

अधिकतर स्थलोंमें जीवको ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला कहा है। लोकान्तगमन स्वभाववाला नहीं कहा। इसलिए यह प्रश्न होता है कि जब जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला है तो वह लोकके

अन्तमें ही क्यों स्थित हो जाता है। अपने ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण वह लोकान्तको उल्लंघन कर आगे क्यों नहीं चला जाता ? यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर नियमसार गाथा १८३ में उपादान की मुख्यतासे दिया गया है। वहाँ बतलाया गया है कि कर्मोंसे मुक्त हुआ आत्मा लोकान्त तक ही जाता है। यद्यपि मूल गाथामें कारणका निर्देश नहीं किया है। पर समर्थ उपादानकी दृष्टिसे विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि उसकी योग्यता ही उतनी है, इसलिए वह लोकान्त तक ही गमन करता है। उससे आगे नहीं जाता। जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिके देवोंमें सातवें नरक तक जानेकी शक्ति मानी गई है परन्तु उनके समर्थ उपादानकी व्यक्ति अपने नियमित क्षेत्र तक ही होती है इसी प्रकार प्रत्येक जीवको ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला माना गया है परन्तु जिस कालमें जिस जीवकी जितने क्षेत्र तक गमन करनेकी योग्यता होती है उस कालमें उस जीवका वहीं तक गमन होता है[1]। उस क्षेत्रको उल्लंघन कर उसका गमन नहीं होता। यह वस्तुस्थिति है। इसके रहते हुए भी इस प्रश्नका निमित्तकी मुख्यतासे व्यवहारनयसे तत्त्वार्थ सूत्रमें यह समाधान किया गया है कि लोकके आगे धर्मद्रव्य नहीं है, इसलिये मुक्त जीवका उससे ऊपर गमन नहीं होता[2]।

---

१. स्वभाव और समर्थ उपादानमें फरक है। स्वभाव सार्वकालिक होता है इसीका दूसरा नाम नित्य उपादान है और समर्थ उपादान जिस कार्यका वह उपादान होता है उस कार्यके एक समय पूर्व होता है। कार्य समर्थ उपादानके अनुसार होता है। मात्र स्वभाव या नित्य उपादान उसमें अनुस्यूत रहता है इतना अवश्य है। समर्थ उपादान प्रत्येक समयका अन्य-अन्य होता है इसलिए इसे क्षणिक उपादान भी कहते हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्र अ० १०, सू० ८।

उपादान और निमित्तमीमांसा

उपादान विधि निरवचन है निमित्त उपदेश ।
वसै जु जैसे देशमें धरै सु तैसे भेष ॥

[पण्डितप्रवर बनारसीदासजी]

पिछले प्रकरणमें यद्यपि हम निमित्त कारणके विषयमें लिख आये हैं। परन्तु उसका स्वरूप क्या है, उसके भेद कितने हैं इन बातोंका वहां विचार नहीं किया और न इस बातकी ही गवेषणा की कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तका क्या स्थान है। परन्तु इन सब बातोंका विचार उपादान कारणका स्वरूप और उसका कार्यकी उत्पत्तिमें क्या स्थान है इस बातका विचार किए बिना नहीं हो सकता, इसलिए निमित्तका सांगोपांग विचार करनेके साथ उपादानका भी विचार करना होगा। प्रकृतमें इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम सर्व प्रथम घटका उदाहरण लेते हैं। घट मिट्टीकी पर्याय है, क्योंकि घटमें मिट्टीका अन्वय देखा जाता है। इसलिए घटका उपादान मिट्टी कही जाती है। परन्तु यदि केवल मिट्टीसे ही घट बनने लगे तो मिट्टीके बाद घटकी ही उत्पत्ति होनी चाहिए। मिट्टी और घटके बीचमें जो पिण्ड, स्थास, कोश और कुशूल आदि रूप विविध सूक्ष्म और स्थूल पर्यायें होती हैं वे नहीं होनी चाहिए। माना कि ये सब पर्यायें मिट्टीमय हैं। परन्तु जो मिट्टी खानसे लाई जाती है वह पूर्वोक्त अन्य पर्यायोंको प्राप्त हुए बिना घट पर्यायरूपसे परिणत नहीं हो सकती। इससे मालूम पड़ता है कि केवल मिट्टीको घटका उपादान कारण कहना

द्रव्यार्थिक नयका कथन है। वस्तुतः घटकी उत्पत्ति अमुक पर्याय विशिष्ट मिट्टीसे होती है, जिस अवस्थामें मिट्टी खानसे आती है उस अवस्था विशिष्ट मिट्टीसे नहीं। अतएव इस अपेक्षासे घटका उपादान कारण विवक्षित अवस्था विशिष्ट मिट्टी ही होती है, अन्य अवस्था विशिष्ट मिट्टी नहीं[1]।

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए दूसरा उदाहरण हम जीवका ले सकते हैं। मुक्त अवस्था जीवकी पर्याय है, क्योंकि मुक्त अवस्थामें जीवका अन्वय देखा जाता है। इसलिए द्रव्यार्थिक नयसे मुक्त अवस्थाका उपादान कारण जीव कहा जाता है। परन्तु यदि केवल जीवसे मुक्त अवस्था उत्पन्न होने लगे तो निगोदिया जीवको भी उस पर्यायके बाद मुक्त अवस्था उत्पन्न हो जानी चाहिए। निगोद जीव और मुक्त अवस्थाके बीचमें जो दूसरी अनेक पर्यायें दृष्टिगोचर होती हैं वे नहीं होनी चाहिए। माना कि इन दोनों अवस्थाओंके बीच कम या अधिक जो दूसरी पर्यायें होती हैं वे सब जीवमय हैं। परन्तु जो जीव निगोदसे निकलता है वह पूर्वोक्त अन्य पर्यायोंको प्राप्त हुए बिना मुक्त अवस्थाको नहीं प्राप्त होता। इससे मालूम पड़ता है कि केवल जीवको मुक्त अवस्थाका उपादान कारण कहना द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य है। वस्तुतः मुक्त अवस्थाकी उत्पत्ति अन्तिम क्षणवर्ती अयोगिकेवली अवस्था विशिष्ट जीवसे ही होती है। इसके पूर्व क्रमसे सयोगिकेवली,

---

१. इसके लिए देखो अष्टसहस्री श्लोक १० की टीका। यहाँ पर व्यवहारनयसे (द्रव्यार्थिक नय) से मिट्टीको घटका उपादान कहा है, ऋजुसूत्रनयसे पूर्व पर्यायको घटका उपादान कहा है तथा प्रमाणसे पूर्व पर्याय विशिष्ट मिट्टीको घटका उपादान कहा है।

क्षीणकषाय, सूक्ष्मसाम्पराय, अनिवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अप्रमत्तसंयत अवस्थागर्भ प्रचुर अवस्थाएँ नियमसे होती हैं। अप्रमत्तसंयत अवस्थाके पूर्व कौन कौन अवस्थाएँ हों इनका नाना जीवोंकी अपेक्षा एक नियम नहीं है। अपने अपने उपादानके अनुसार दूसरी दूसरी अवस्थाएँ यथासम्भव होती हैं। जिस प्रकार सब पुद्गल घट नहीं बनते उसी प्रकार यह भी नियम है कि सब जीव इन अवस्थाओंको प्राप्त नहीं होते। जो भव्य हैं वे ही अपने अपने उपादानके अनुसार यथासमय इन अवस्थाओं को प्राप्तकर मुक्त होते हैं। इतना स्पष्ट है कि मुक्त होनेके अनन्तर पूर्व अयोगी अवस्था नियमसे होती है। अतएव उपादान कारण और कार्यके ये लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं :—

नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम्, नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्[1]।

नियत पूर्वसमयमें रहना कारणका लक्षण है और नियत उत्तर क्षणमें रहना कार्यका लक्षण है।

यद्यपि इसमें जो नियत पूर्व समयमें स्थित है उसे कारण और जो नियत उत्तर समयमें स्थित है उसे कार्य कहा गया है पर इससे उपादान कारण और उसके कार्यका सम्यक् बोध नहीं होता, क्योंकि नियत पूर्व समयमें द्रव्य और पर्याय दोनों अवस्थित रहते हैं, इसलिए इतने लक्षणसे कौन किसका उपादान कारण है और किस उपादानका कौन कार्य है यह बोध नहीं होता। फिर भी उक्त कथनसे उपादान कारण और कार्यमें एक समय पूर्व और बादमें होनेका नियम है यह बोध तो हो ही जाता है।

---

१. अष्टसहस्री टिप्पण पृ० २११।

उपादान कारणका अव्यभिचारी लक्षण क्या है इसका स्पष्ट उल्लेख अष्टसहस्री (पृ० २१०) में एक श्लोक उद्धृत करके किया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

> त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते ।
> कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥

जो द्रव्य तीनों कालोंमें अपने रूपको छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ पूर्वरूपसे और अपूर्वरूपसे वर्त रहा है वह उपादान कारण है ऐसा जानना चाहिए।

यहाँ पर द्रव्यको उपादान कहा गया है। उसके विशेषणों पर ध्यान देनेसे विदित होता है कि द्रव्यका न तो केवल सामान्य अंश उपादान होता है और न केवल विशेष अंश उपादान होता है। किन्तु सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य ही उपादान होता है। द्रव्यके केवल सामान्य अंशको और केवल विशेष अंशको उपादान माननेमें जो आपत्तियाँ आती हैं उनका निर्देश स्वयं आचार्य विद्यानन्दने एक दूसरा श्लोक उद्धृत करके कर दिया है। वह श्लोक इस प्रकार है :—

> यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा ।
> तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥

जो अपने स्वरूपको छोड़ता ही है वह (पर्याय) और जो अपने स्वरूपको सर्वथा नहीं छोड़ता वह (सामान्य) अर्थ (कार्य) का उपादान नहीं होता। जैसे क्षणिक और शाश्वत ॥

यद्यपि सर्वथा क्षणिक और सर्वथा शाश्वत कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु जो लोग पदार्थको सर्वथा क्षणिक मानते हैं उनके यहाँ जैसे सर्वथा क्षणिक पदार्थ कार्यका उपादान नहीं हो सकता

और जो लोग पदार्थको सर्वथा शाश्वत मानते हैं उनके यहाँ जैसे सर्वथा शाश्वत पदार्थ कार्यका उपादान नहीं हो सकता उसी प्रकार द्रव्यका केवल सामान्य अंश कार्यका उपादान नहीं होता और न केवल विशेप अंश कार्यका उपादान होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इसी विषयको स्पष्ट करते हुये स्वामी कार्तिकेय भी स्वरचित द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं:—

> जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेइ णियमेण ।
> बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसए लोए ॥२२५॥

जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है वही नियमसे कार्यकारी होती है, क्योंकि बहुत धर्मोंसे युक्त अर्थ ही लोकमें कार्यकारी देखा जाता है ॥२२५॥

> एयंतं पुण दव्वं कज्जं ण करेदि लेसमित्तं पि ।
> जं पुण ण कोरदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥२२६॥

किन्तु एकान्तरूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता और जब वह कार्य नहीं कर सकता तो उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है, अर्थात् नहीं कहा जा सकता ॥२२६॥

आगे एकान्तस्वरूप द्रव्य कार्यकारी कैसे नहीं होता इसका युक्तिपूर्वक समर्थन करते हुए वे कहते हैं :—

> परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेय ।
> णो उप्पज्जदि य सदा एवं कज्जं कहं कुणइ ॥२२७॥
>
> पज्जयमित्तं तच्चं खणे खणे वि अण्णण्णं ।
> अण्णाइदव्वविहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि ॥२२८॥

अपने परिणामसे हीन नित्य द्रव्य सर्वदा न तो विनाशको

ही प्राप्त होता है और न उत्पन्न ही होता है, इसलिए वह कार्यको कैसे कर सकता है। तथा पर्यायमात्र तत्त्व क्षण क्षणमें अन्य अन्य होता रहता है, इसलिए अन्वयी द्रव्यसे रहित वह किसी भी कार्यको नहीं साध सकता ॥२२७-२२८॥

इसलिए स्वामी कार्तिकेय ने फलितार्थरूपमें उपादान कारण और कार्यका जो लक्षण किया है वह इस प्रकार है :—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३०॥

अनन्तर पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य कारणरूपसे प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्य होता है ॥ २३० ॥

स्वामी विद्यानन्दने भी उपादानकारण और कार्यका क्या स्वरूप है इसका बहुत ही संक्षेपमें समाधान कर दिया है। वे श्लोक ५८ की अष्टसहस्री टीकामें कहते हैं :—

उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव, हेतोर्नियमात्।

उपादानका पूर्वाकारसे क्षय कार्यका उत्पाद ही है, क्योंकि ये दोनों एक हेतुसे होते हैं ऐसा नियम है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अनन्तर पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्य है उसकी उपादान संज्ञा है और जो अनन्तर उत्तर पर्यायविशिष्ट द्रव्य है उसकी कार्य संज्ञा है। उपादान-उपादेयका यह व्यवहार अनादि कालसे इसी प्रकार चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम पहले एक उदाहरण घट कार्यका दे आये हैं। उससे स्पष्ट है कि खानसे प्राप्त हुई

मिट्टीसे यदि घट बनेगा तो उसे क्रमसे उन पर्यायोंमेंसे जाना होगा जिनका निर्देश हम पूर्वमें कर आये हैं। कितना ही चतुर निमित्तकारणरूपसे उपस्थित कुम्हार क्यों न हो वह खानकी मिट्टीसे घट पर्याय तककी निष्पत्तिका जो क्रम है उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। खानसे लाई गई मिट्टी जैसे-जैसे एक-एक पर्याय रूपसे निष्पन्न होती जाती है तदनुकूल कुम्हारके हस्त-पादादिका क्रिया व्यापार भी बदलता जाता है और उसी क्रमसे उपयोगमें भी परिवर्तन होता जाता है। अन्तमें मिट्टीमेंसे घट पर्यायकी निष्पत्ति इसी क्रमसे होती है और जब मिट्टीमेंसे घट पर्यायकी निष्पत्ति हो जाती है तो कुम्हारका योग-उपयोगरूप क्रिया व्यापार भी रुक जाता है। उपादान-उपादेयसम्बन्धके साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धकी यह व्यवस्था है जो अनादि कालसे इसी क्रमसे एक साथ चली आ रही है और अनन्त काल तक इसी क्रमसे मिलकर चलती रहेगी।

यहां इतना विशेष समझना चाहिए कि निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार सर्वत्र एक ओरसे नहीं होता, किन्तु कहीं-कहीं दोनों ओरसे भी होता है। उदाहरण स्वरूप जब घट कार्यकी मुख्यता होती है तब विवक्षित योग और उपयोगसे युक्त कुम्हार उसका निमित्त कहा जाता है और घट कार्य नैमित्तिक कहा जाता है। किन्तु जब कुम्हारका विवक्षित योग और उपयोगरूप क्रिया व्यापार किस बाह्य निमित्तसे हुआ इसका विचार किया जाता है तो जो मिट्टी घट पर्यायरूपसे परिणत हो रही है वह उसका निमित्त कहा जायगा और विवक्षित योग-उपयोगविशिष्ट कुम्हार उसका नैमित्तिक कहा जायगा। अनुभवमें तो यह बात आती ही है, आगमसे भी इसका समर्थन होता है। ऐसा नियम है कि

जिस उपशम सम्यग्दृष्टिके उपशम सम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छह आवलि काल शेष रहता है उसके अनन्तानुवन्धीचतुष्कमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदीरणा होने पर सासादन गुणस्थानकी प्राप्ति होती है। अब एक ऐसा उपशमसम्यग्दृष्टि जीव लीजिए जिसने अनन्तानुवन्धीचतुष्ककी विसंयोजना की है। ऐसे जीवको द्वितीय गुणस्थानकी प्राप्ति तव हो सकती है जव अनन्तानुवन्धीचतुष्कका सत्त्व होकर उसमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदीरणा हो और अनन्तानुवन्धीचतुष्कका सत्त्व और उसमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदीरणा तव हो सकती है जव उसे सासादन गुणकी प्राप्ति हो। स्पष्ट है कि यहाँ पर सासादन गुणकी प्राप्तिका निमित्त अनन्तानुवन्धीकी उदीरणा है और उसके सत्त्वके साथ उदीरणाका निमित्त अन्य परिणामोंके साथ सासादन गुण भी है। फिर भी ऐसे जीवको सासादन गुणकी प्राप्ति किस निमित्तसे होती है इतना दिखलाना प्रयोजन रहनेसे यह कहा जाता है कि अनन्तानुवन्धीचतुष्कमेंसे किसी एक प्रकृतिकी उदीरणाके निमित्तसे होती है। इस विषयको और भी स्पष्टरूपसे समझनेके लिए द्व्यणुकका उदाहरण पर्याप्त है, क्योंकि द्व्यणुकके दोनों परमाणु अपनी अपनी बन्धपर्यायकी उत्पत्तिके प्रति उपादान होकर भी परस्पर दोनोंमें निमित्त-नैमित्तिक भाव भी है।

यह निमित्त-नैमित्तिकव्यवहारकी व्यवस्था है। इसके रहते हुए भी कितने ही निमित्तके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले महानुभाव उपादान कारणके वास्तविक रहस्यको न स्वीकार कर ऐसी शंका करते हैं कि खानसे लाई गई मिट्टीसे यदि घटकी उत्पत्ति होगी तो इसी क्रमसे होगी इसमें सन्देह नहीं। परन्तु

खानसे लाई गई अमुक मिट्टी घटका उपादान होगा और अमुक मिट्टी सकोराका उपादान होगा यह मिट्टी पर निर्भर न होकर कुम्हार पर निर्भर है। कुम्हार जिस मिट्टीसे घट बनाना चाहता है उससे घट बनता है और जिससे सकोरा बनाना चाहता है उससे सकोरा बनता है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि कार्यकी उत्पत्ति अपने उपादानसे होकर भी निमित्तके अनुसार ही होती है। इतना ही नहीं यदि कोई विशिष्ट घट बनवाना होता है तो उसके लिए विशिष्ट कुम्हारकी शरण लेनी पड़ती है। यदि ऐसा हो कि केवल अमुक प्रकारकी मिट्टीसे ही विशिष्ट घट बन जाय, उसमें कुम्हारकी विशेषताको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता न पड़े तो फिर मात्र योग्य मिट्टीका ही संग्रह किया जाना चाहिए, विशिष्ट कारीगिरकी ओर ध्यान देनेकी क्या आवश्यकता ? यतः लोकमें योग्य उपादान सामग्रीके समान योग्य कारीगिरका भी विचार किया जाता है और ऐसा योग मिल जाने पर कार्य भी विशिष्ट होता है। इससे मालूम पड़ता है कि कार्यकी उत्पत्ति अपने उपादानसे होकर भी वह निमित्तके अनुसार ही होती है। तात्पर्य यह है कि किस समय किस द्रव्यकी क्या पर्याय हो यह उपादान पर निर्भर न होकर निमित्तके आधीन है। वास्तवमें निमित्तकी सार्थकता इसीमें है, अन्यथा कार्यमात्रमें निमित्तको स्वीकार करना कोई मायने नहीं रखता।

यह एक प्रश्न है जो निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध और उपादान-उपादेयसम्बन्धके वास्तविक रहस्यको न स्वीकार कर निमित्त-वादी महाशय उपस्थित किया करते है। यद्यपि इस प्रश्नका समाधान पहिले हम जो उपादान कारणका स्वरूप दे आये हैं

उससे हो जाता है, क्योंकि उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अनन्तर पूर्व समयमें जैसा उपादान होगा, अनन्तर उत्तर क्षणमें उसी प्रकारका कार्य होगा। निमित्त उसे अन्यथा नहीं परिणमा सकता। फिर भी निमित्तकी दृष्टिसे समाधान करनेके लिए हमें सब प्रकारके निमित्तोंका विचार करना होगा। यह तो स्पष्ट है कि लोकमें जितने प्रकारके निमित्त स्वीकार किये गये हैं उनका वर्गीकरण इन तीन प्रकारोंमें हो जाता है। यथा :—

१. वे निमित्त जो स्वयं निष्क्रिय होते हैं। जैसे धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य।

२. वे निमित्त जो सक्रिय होकर भी इच्छा, प्रयत्न और कारकसाकल्यके ज्ञानसे रहित होते हैं। जैसे मेघ, बिजली, वायु, कर्म और नोकर्म आदि।

३. वे निमित्त जो इच्छा, प्रयत्न और कारकसाकल्यके ज्ञानसे युक्त होते हैं। जैसे मनुष्य आदि।

अब ये तीनों प्रकारके निमित्त किस रूपमें कार्योत्पत्तिके समय निमित्त होते हैं इस बात पर क्रमसे विचार कीजिए।

१. जो निष्क्रिय पदार्थ हैं वे सब प्रकारके कार्योंमें निमित्त नहीं होते। किन्तु उनमें जिस प्रकारके कार्योंमें निमित्त होनेकी अपने गुणानुसार योग्यता होती है उन्हीं कार्योंमें निमित्त होते हैं। यथा धर्म द्रव्यमें गतिहेतुत्व गुण है, इसलिए वह गति-परिणत जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें निमित्त होता है। अधर्म द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व गुण है, इसलिए वह स्थित होते हुए जीवों और पुद्गलोंके ठहरनेमें निमित्त होता है। कालद्रव्यमें वर्तना गुण है, इसलिए वह परिणमन करते हुए जीवादि द्रव्योंके

उत्पाद-व्ययमें निमित्त होता है और आकाश द्रव्यमें अवगाहनत्व नामका गुण है, इसलिए वह अवगाहन करते हुए जीवादि द्रव्योंके अवगाहनमें निमित्त होता है। इस प्रकार ये द्रव्य निमित्त होकर भी इनके अनुसार कार्य होता है ऐसा नहीं है। किन्तु जब यथायोग्य जीवादि द्रव्योंकी गति आदि क्रिया होती है तब ये निमित्त होते हैं। इनकी निमित्तताके विषयमें सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है :—

ननु यदि निष्क्रियाणि धर्मादीनि, जीव-पुद्गलानां गत्यादिहेतुत्वं नोपपद्यते। जलादीनि हि क्रियावन्ति मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानीति ? नैष दोषः, बलाधाननिमित्तत्वाच्चक्षुर्वत्। यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्तमपि न व्याक्षिप्तमनस्कस्यापि भवति।

शंका :—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो वे जीवों और पुद्गलोंकी गति आदिमें हेतु नहीं हो सकते, क्योंकि जल आदि पदार्थ क्रियावान् होकर ही मछली आदिकी गति आदिमें निमित्त देखे जाते हैं ?

समाधान :—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि चक्षु इन्द्रियके समान ये बलाधानमें निमित्तमात्र हैं। जैसे रूपकी उपलब्धिमें चक्षु निमित्त है, तो भी जिसका मन व्याक्षिप्त है उसके चक्षु इन्द्रियके रहते हुए भी रूपका ग्रहण नहीं होता उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि कार्योत्पत्तिके समय बलका आधान स्वयं उपादान करता है किन्तु उसमें निमित्त अन्य द्रव्य होता है।

इस शंका-समाधानसे स्पष्ट है कि निष्क्रिय धर्मादि द्रव्योंके अनुसार गति आदि कार्य नहीं होते। किन्तु जब जीवों और

पुद्गलोंके गति आदि कार्य होते हैं तब ये धर्मादिक द्रव्य निमित्त होते हैं।

२ अब दूसरे प्रकारके जो निमित्त बतला आये हैं उनके सम्बन्धमें विचार कीजिये। माना कि वे इच्छा, प्रयत्न और कारकसाकल्यके ज्ञानसे रहित होकर भी क्रियावान् होते हैं परन्तु इतने मात्रसे उनकी क्रियाके अनुसार अन्य द्रव्योंका परिणमन होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। जल स्वयं क्रियावान् है और वह मत्स्यके गमनमें निमित्त है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जिस दिशामें जलका प्रवाह है उसी दिशामें मत्स्यका गमन होगा और न इसका यह ही अर्थ है कि जल मत्स्यके गमनमें निमित्त है, इसलिए जलमें सदाकाल मत्स्यका गमन होता ही रहेगा। किन्तु इसका इतना ही तात्पर्य है कि जब मत्स्य गमन करेगा तब जल उसकी गमन क्रियामें निमित्त हो जायगा। मत्स्य कब गमन करे और कब गमन न करे यह जल पर अवलम्बित न होकर मत्स्य पर अवलम्बित है।

जलके समान दूसरा उदाहरण छायाका लिया जा सकता है। छाया क्रियावान् पदार्थ है और वह पथिकको ठहरनेमें निमित्त है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि छायाके मिलने पर पथिकको ठहरना ही पड़ेगा। किन्तु इसका इतना ही अभिप्राय है कि यदि थका मादा कोई पथिक विश्रामकी इच्छासे ठहरता है तो उसमें छाया निमित्त हो जाती है।

इसलिए यही मानना उचित है कि कार्यकी उत्पत्ति होती तो है अपने उपादानके अनुसार ही पर उसमें जो क्रियावान् पदार्थ निमित्त होते हैं उनकी वह निमित्तता धर्मादि द्रव्योंके समान ही जाननी चाहिए। सक्रिय पदार्थ निष्क्रिय धर्मादि द्रव्योंके समान

ही निमित्त होते हैं यह तथ्य पूर्वोक्त दो उदाहरणोंसे तो स्पष्ट है ही। निष्क्रिय पदार्थोंकी निमित्तता किस प्रकारकी होती है इसका स्पष्टीकरण करते समय जो सर्वार्थसिद्धिका उद्धरण दे आये हैं उससे भी स्पष्ट है। उक्त उल्लेखमें जहां धर्मादि द्रव्योंकी निमित्तताको क्रियावान् चक्षुइन्द्रियकी निमित्तताके समान बतलाया गया है वहां उससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि क्रियावान् पदार्थोंकी निमित्तता भी धर्मादि द्रव्योंकी निमित्तताके समान होती है। आचार्य पूज्यपादने जिस प्रकार गतिमें धर्म द्रव्य निमित्त है उसी प्रकार अन्य सब निमित्त होते हैं इस तथ्यको स्वीकार करते हुए इष्टोपदेशमें कहा भी है :—

> नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।
> निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अज्ञ विज्ञताको नहीं प्राप्त हो सकता और विज्ञ अज्ञताको नहीं प्राप्त हो सकता, परन्तु इतना अवश्य है कि जिस प्रकार गतिक्रियाका निमित्त धर्मास्तिकाय होता है उसी प्रकार अन्य सब पदार्थ निमित्तमात्र होते हैं ॥३५॥

इसका आशय यह है कि जिस प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य जब स्वयं गति आदि परिणामसे परिणत होते हैं तब धर्मादि द्रव्य स्वयं उस गति आदि परिणाममें निमित्त होते हैं उसी प्रकार अन्य द्रव्य जब स्वयं क्रिया आदिरूप परिणामसे परिणत होते हैं तब तद्भिन्न अन्य द्रव्य स्वयं उसमें निमित्त होते हैं। आचार्य पूज्यपादके उक्त अभिप्रायका समर्थन करते हुए स्वामी कार्तिकेय भी द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

> णिय-णियपरिणामाणं णिय-णियदव्वं पि कारणं होदि ।
> अण्णं बाहिरदव्वं णिमित्तमत्तं वियाणेह ॥ २१७ ॥

सब द्रव्य अपने-अपने परिणमनके उपादान (मुख्य) कारण होत हैं। अन्य बाह्य द्रव्यको निमित्तमात्र जानो ॥ २१७ ॥

इस पर यह प्रश्न होता है कि यदि सभी सक्रिय पदार्थ निष्क्रिय धर्मादि द्रव्योंके समान ही निमित्त होते हैं, अर्थात् उनकी निमित्ततामें धर्मादि द्रव्योंकी निमित्ततासे अन्य कोई विशेषता नहीं पाई जाती है तो निमित्तकारणके प्रेरक निमित्तकारण और उदासीन निमित्तकारण ये भेद क्यों किये गये हैं? क्योंकि सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं जिनसे इन भेदोंकी पुष्टि होती है। इसकी पुष्टिमें सर्व प्रथम सर्वार्थसिद्धि-को ही लेते हैं :—

१. प्रकरण धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य क्या उपकार करते हैं यह दिखलानेका है। इस प्रसंगसे जब यह प्रश्न हुआ कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य तुल्यबल हैं और इन दोनोंका कार्य परस्परमें विरुद्ध है, अतः इनके कार्यरूप गतिका स्थितिसे और स्थितिका गतिसे प्रतिबन्ध होना चाहिए तब इस प्रश्नका समाधान दोनों द्रव्योंको अप्रेरक बतलाकर किया गया है। इससे विदित होता है कि लोकमें धर्मादि द्रव्योंसे विलक्षण प्रेरक निमित्त कारण भी होते हैं। सर्वार्थसिद्धिका वह उल्लेख इस प्रकार है :—

तुल्यबलत्वात्तयोर्गति-स्थितिप्रतिबन्ध इति चेत्? न, अप्रेरकत्वात्।

[त० सू०, अ० ५, सू० १७]

२. द्रव्यवचन पौद्गलिक क्यों हैं इसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि 'भाववचनरूप सामर्थ्यसे युक्त क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल द्रव्यवचनरूपसे परिणमन करते हैं, इसलिए द्रव्यवचन पौद्गलिग हैं।' इस उल्लेखमें स्पष्टरूपसे

प्रेरक निमित्तताको स्वीकार किया गया है। इससे भी प्रेरक निमित्तकी सिद्धि होती है। उल्लेख इस प्रकार है :—

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी।

[त० सू०, अ० ५; सू० १६]

३. तत्त्वार्थवार्तिकमें भी यह विवेचन इसी प्रकार किया है। इसके लिए देखो अध्याय ५, सूत्र १७ और १६।

४. इसी प्रकार पंचास्तिकायकी[1] संस्कृत टीका और बृहद्-द्रव्यसंग्रहमें[2] भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो उक्त कथनकी पुष्टिके लिये पर्याप्त हैं।

इस प्रकार ये कुछ उद्धरण हैं जिनके आधारसे प्रेरक निमित्तोंका समर्थन किया जाता है। इन उद्धरणोंके आधारसे कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यह तो सम्भव है कि सब सक्रिय पदार्थ प्रेरक निमित्त न हों। जैसे चक्षु क्रियावान् पदार्थ होकर भी रूपकी उपलब्धिमें प्रेरक निमित्त नहीं होता, परन्तु इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि जितने भी क्रियावान् द्रव्य हैं वे सब धर्मादि द्रव्योंके समान उदासीन कारण ही होते हैं तो यह कथन पूर्वोक्त आगम प्रमाणसे बाधित हो जाता है, युक्तिसे विचार करने पर भी इसकी सत्यता प्रमाणित नहीं होती। कारण कि लोकमें कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनके आधारसे प्रेरक निमित्तोंकी सिद्धि होती है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें वे वायुका उदाहरण उपस्थित कर कहते हैं कि जिस प्रकार वायुका वेगसे

---

१. गाथा ८५ व ८८ जयसेनीया टीका। २. गाथा १७ व २२ संस्कृत टीका।

संचार होने पर वह अन्य पदार्थोंके उड़नेमें प्रेरक निमित्त होता है उसी प्रकार सब प्रेरक निमित्तोंको जानना चाहिए। इस परसे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि लोकमें जितने भी क्रियावान् पदार्थ हैं उन्हें हम उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त इस प्रकार दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। इसलिए जहाँ पर निष्क्रिय पदार्थोंके समान सक्रिय पदार्थ उदासीन निमित्त होते हैं वहाँ तो कार्य अपने उपादानके अनुसार ही होता है और जहाँ पर सक्रिय पदार्थ प्रेरक निमित्त होते हैं वहाँ पर कार्य उपादानसे होकर भी निमित्तके अनुसार होता है। निमित्तके अनुसार होता है इसका यह तात्पर्य नहीं कि उपादान कारण अपने स्वभावको छोड़कर निमित्तरूप परिणम जाता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य है कि उस समय प्रेरक निमित्तमें जिस प्रकारके कार्यमें निमित्त होनेकी योग्यता होती है कार्य उसी प्रकारका होता है। अकाल-मरण या इसी प्रकारके जो दूसरे कार्य कहे गये हैं उनकी सार्थकता प्रेरक निमित्तोंका उक्त प्रकारका कार्य माननेमें ही है। आगममें अकालमरण, संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण जैसे कार्योंको इसी कारणसे स्थान दिया गया है।

यह प्रेरक निमित्तोंको माननेवालोंका कथन है। इस प्रकरणके प्रारम्भमें भी उनकी ओरसे ऐसी ही शंका उपस्थित कर आये हैं। किन्तु उनका यह कथन इसलिए ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्येक कार्यके प्रति उसके उपादानकी कोई नियामकता नहीं रह जाती। हम पहिले उपादान कारणका लक्षण करते समय यह बतला आये हैं कि अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य उपादान कारण होता है। अब देखना यह है कि उससे नियत कार्यको ही जन्म मिलता है या वह अनियत कार्योंका उपादान कारण होता है ?

यदि कहा जाय कि उससे नियत (जिस कार्यका वह उपादान है) उस कार्यको ही जन्म मिलता है तव जो यह कहा जाता है कि 'कहीं उपादानके अनुसार कार्य होता है और कहीं निमित्तके अनुसार कार्य होता है' इस कथनमें कोई स्वारस्य प्रतीत नहीं होता। तब यही निश्चित होता है कि निमित्त चाहे उदासीन हो या प्रेरक, कार्य उपादानके अनुसार ही होगा। कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त होता है इसमें सन्देह नहीं पर इतने मात्रसे निमित्तके अनुसार कार्य होता है ऐसा मानना उचित नहीं है। स्वामी समन्तभद्रने कार्यके प्रति उपादान कारणकी व्यवस्था करते हुए आप्तमीमांसामें कहा है:—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥

कार्य यदि सर्वथा असत् है तो आकाशकुसुमके समान उसकी उत्पत्ति मत होओ। उपादानका नियम भी मत वनो तथा कार्यकी उत्पत्तिमें आश्वास भी मत होओ ॥४२॥

नैयायिकदर्शन और बौद्धदर्शन सर्वथा असत् कार्यकी उत्पत्ति मानता है। प्रकृतमें उन्हींको लक्ष्य कर यह वचन कहा गया है और सिद्धान्तरूपमें यह बतलाया गया है कि कार्य कारणमें द्रव्यरूपसे है और पर्यायरूपसे नहीं है। तभी इस उपादानसे यह कार्य होगा यह नियम किया जा सकता है और उससे कार्यकी उत्पत्तिमें विश्वास भी किया जा सकता है।

इसकी व्याख्या करते हुए भट्टाकलंकदेवने यह वचन लिखा है :—

कथञ्चित्सतः कार्यत्वम्, उपादानस्य उत्तरीभवनात्।

आशय यह है कि जो कथंचित् सत् है उसीमें कार्यपना बनता है, क्योंकि उपादानकी उत्तरकालीन पर्याय ही कार्य है।

इस प्रकार इस पूरे प्रकरण पर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कार्यका नियामक उसका उपादान ही होता है निमित्त नहीं, अतः जो यह मानते हैं कि कहीं पर कार्य निमित्तके अनुसार भी होता है उनकी वह मान्यता उचित नहीं कही जा सकती।

अब थोड़ा इस विषय पर प्रागभावकी दृष्टिसे भी विचार कीजिए। कार्यके आत्मलाभ होनेके पहले नहीं होनेको प्रागभाव कहते हैं[1]। जैनदर्शनमें इसे सर्वथा अभाव रूप न मानकर भावान्तर स्वभाव माना गया है। कार्यकालके अनन्तर पूर्व समयमें भावान्तर स्वभाव अभाव कार्यका उपादान होता है जिसका विचार नयविवक्षामें दो दृष्टियोंसे किया गया है—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा विचार करते हुए इसे अनन्तर पूर्व पर्यायरूप बतलाया गया है[2]। तथा द्रव्यार्थिकनयसे विचार करते हुए इसे मिट्टी आदि द्रव्यरूप बतलाया गया है[3]। प्रमाणदृष्टिसे दोनों नयदृष्टियोंको मिलाकर देखनेपर इस कथनसे यह फलित होता है कि अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट जो द्रव्य

---

१. कार्यस्यात्मलाभात् प्रागभवनं प्रागभावः। स च तस्य प्रागनन्तरपरिणाम एव। अष्टसहस्री गाथा १० टीका। २. ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्राभभावस्तावत् कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोनन्तरात्मा। अष्ट स० गाथा १० टीका। ३. व्यवहारनयार्पणात्तु मृदादिद्रव्यं प्रागभावः। अष्ट स० गाथा १० टीका।

कार्यका उपादान होता है वही उसका प्रागभाव भी होता है। यद्यपि सन्तानकी अपेक्षा विचार करने पर प्रागभावका प्रागभाव इस प्रकार पूर्व पूर्व पर्यायको ग्रहण कर उसे अनादि माना गया है। परन्तु वस्तुतः वह अनन्तर पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्यरूप ही है ऐसा यहाँ समझना चाहिए[1]। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक कार्यका प्रागभाव (उपादान) पृथक् पृथक् होता है। ऐसा तो है नहीं कि जो एक कार्यका प्रागभाव है वही दूसरे कार्यका भी प्रागभाव हो जाय। शास्त्रकारोंने ऐसा माना भी नहीं है[2]। अतएव इस कथनसे भी यही फलित होता है कि जो जिस कार्य-का उपादान अथवा दूसरे शब्दोंमें प्रागभाव होता है उससे उसी कार्यकी उत्पत्ति होती है। भट्टाकलंकदेवने कार्यके प्रति 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' यह वचन कहा है सो उसकी सार्थकता तभी है जब प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उपादानके अनुसार मानी जाती है। फलस्वरूप यह नहीं हो सकता कि उपादान या प्रागभाव किसी अन्य कार्यका रहे और निमित्तके बलसे उसमें किसी दूसरे कार्यकी उत्पत्ति हो जावे। अतएव इस कथनसे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कार्यकी उत्पत्तिमें अन्य द्रव्य निमित्त है इतने मात्रसे उसकी उत्पत्ति निमित्तके अनुसार होती है यह मानना उचित नहीं है।

समयप्राभृत शास्त्र अबद्ध अस्पृष्ट और असंयुक्त आत्माका स्वरूप बोध करानेकी मुख्यतासे लिखा गया है, इसलिए उसमें निश्चयनयकी कथनीकी मुख्यता है। फिर भी उसमें 'जीवपरिणाम-

---

१. इस प्रकरणके लिए आप्तमीमांसा श्लोक १२ की अष्टसहस्री टीका देखो। २. इस प्रकरणके लिए आप्तमीमांसा श्लोक १० की अष्टसहस्री टीका देखो।

हेदुं' और 'पुग्गलकम्मणिमित्तं' इत्यादि वचनों द्वारा कार्यकी उत्पत्ति में निमित्तकी स्वीकृति दी गई है। निमित्तका किसीने कहीं निषेध किया हो ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया। कहीं पर निमित्तको गौण कर दिया गया है और कहीं पर उपादानको यह अन्य बात है। पर इतने मात्रसे न तो निमित्तका ही निषेध जानना चाहिये और न उपादानका ही। यह व्याख्यानकी शैली है, इसलिये जहाँ पर अभिप्राय विशेषसे किसी एकका प्रतिपादन किया गया हो वहाँ पर दूसरेका कथन समझ ही लेना चाहिये। इतना अवश्य है कि उपादान कारण स्वयं कार्यरूप परिणमता है और सहकारी सामग्री उसके बलाधानमें निमित्त होती है। तात्पर्य यह है कि कार्यकी उत्पत्ति उपादानसे ही होती है, निमित्तसे त्रिकालमें नहीं होती। फिर भी कार्योत्पत्तिमें निमित्त अवश्य होता है।

यह वस्तुस्थिति है जिसके होते हुए भी कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि उपादान कारण किस कार्यको जन्म देगा यह नियत नहीं है। उसमें अनेक प्रकारकी योग्यताएँ होती हैं, इसलिए जिस योग्यताके अनुसार कार्य होनेके लिए निमित्त मिलता है उस प्रकारका कार्य होता है। इस प्रकार वे लोग प्रत्येक उपादानमें अनेक प्रकारकी योग्यताओंका समर्थन कर उपादानकी अपेक्षा कार्यका अनियम बतलाकर उसकी व्यवस्था निमित्तके आधारसे करते हैं। विचार कर देखा जाय तो वे निमित्तके प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त ऐसे दो भेद करके प्रेरक निमित्तोंकी सार्थकता इसीमें देखते हैं, इसलिए ऐसा कथन करते हैं। किन्तु उनकी यह मान्यता यद्यपि शास्त्रानुकूल तो नहीं है फिर भी उसे विचारकी दृष्टिसे स्वीकार कर लेनेपर यह देखना होगा कि जिस कार्यकी उत्पत्तिमें प्रेरक निमित्त नहीं होगा उसकी उत्पत्ति कैसे

बनेगी, क्योंकि जो उपादान कारण है वह तो अनेक योग्यताओं-को लिए हुए है। उनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूपमें परिणित हो यह कार्य न तो उदासीन निमित्तका हो सकता है और न उपादान कारणका ही। उदासीन निमित्तका तो इसलिए नहीं हो सकता, क्योंकि उस कार्यको उदासीन निमित्तका मानने पर उसे उदासीन निमित्त कहना ही असंगत होगा। वह (अनेक योग्यताओंमेंसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणत हो वह) कार्य उपादान कारणका भी नहीं हो सकता, क्योंकि विवक्षित उदापानमें जितनी भी योग्यताएँ हैं वे सब कार्यरूपमें होनेकी अवस्थामें हैं। अतएव कौन योग्यता कार्यरूप परिणत हो यह कार्य स्वयं उपादान कैसे कर सकता है, अर्थात् नहीं कर सकता। परिणाम स्वरूप उपादानकी कौन योग्यता कार्यरूप परिणित हो यह कार्य प्रेरक निमित्तका ही मानना पड़ेगा। परन्तु प्रेरक निमित्त प्रत्येक कार्यके होते ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं है। अतएव जिस कार्यके समय प्रेरक निमित्त न होगा उस समय उसकी उत्पत्ति कैसे होगी यह विचारणीय हो जाता है। यह तो हो नहीं सकता कि जिस कालमें विवक्षित उपादानका प्रेरक निमित्त न हो उस कालमें उससे कार्यकी उत्पत्ति ही न हो, क्योंकि ऐसा माननेपर द्रव्यके प्रत्येक समयमें होनेवाले उत्पाद-व्ययस्वभावके व्याघातका प्रसंग आता है। साथ ही जितने शुद्ध द्रव्य है उनमें भी प्रत्येक समयमें होने-वाले परिणाम लक्षण कार्यका व्याघात न हो जाय इसलिए वहां पर भी प्रेरक निमित्तोंकी कल्पना करनी पड़ती है। यतः ये दोनों ही दोष इष्ट नहीं हैं, अतः 'उपादान कारण विवक्षित योग्यता-वाला होकर तन्निष्ठ कार्यको ही जन्म देता है' यह मान लेना ही उचित प्रतीत होता है। स्वामी समन्तभद्रने प्रत्येक उपादानमें जो शक्तिरूपसे कार्यका सत्त्व स्वीकार किया है उसे स्वीकार करनेका

उनका प्रयोजन भी यही है कि प्रत्येक उपादान उसमें जो शक्ति होती है उसीको जन्म देता है अन्यको नहीं। उनका 'उपादान अपने कार्यका नियामक होता है' यह कथन भी तभी बन सकता है, अन्यथा नहीं। इतना ही नहीं उपादानको उपादान संज्ञा भी तभी प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं।

साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें ये पांच कारण नियमसे होते हैं। स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म (पर पदार्थकी अवस्था)। यहां पर स्वभावसे द्रव्यकी स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है। पुरुषार्थसे उसका वल-वीर्य लिया गया है, कालसे स्वकालका ग्रहण किया है, नियतिसे समर्थ उपादान या निश्चयकी मुख्यता दिखलाई गई है और कर्मसे निमित्तका ग्रहण किया है। इन्हीं पांच कारणोंको सूचित करते हुए पंडितप्रवर वनारसीदासजी नाटकसमयसार सर्वशुद्धज्ञानाधिकारमें कहते हैं—

पद सुभाव पूरब उदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल ॥४१॥

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें पाँच प्रकारके एकान्तवादियोंका कथन आता है।[1] उसका आशय इतना ही है कि जो इनमेंसे किसी एकसे कार्यकी उत्पत्ति मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्यकी उत्पत्तिमें इन पाँचोंके समवायको स्वीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि है। पण्डितप्रवर वनारसीदासजीने उक्त पद द्वारा इसी तथ्यकी पुष्टि की है। अष्टसहस्री पृ० २५७ में भट्टाकलंकदेव-

---

१. देखो गाथा ८७९ से ८८३ तक।

ने एक श्लोक दिया है। उसका भी यही आशय है। श्लोक इस प्रकार है—

> ताहशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च ताहशः।
> सहायास्ताहशाः सन्ति याहशी भवितव्यता॥

जिस जीवकी जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकारका करने लगता है और उसे सहायक भी उसीके अनुसार मिल जाते हैं।

इस श्लोकमें भवितव्यताको मुख्यता दी गयी है। भवितव्यता क्या है? जीवकी समर्थ उपादान शक्तिका नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यताकी व्युत्पत्ति है—भवितुं योग्यं भवितव्यम्, तस्य भावः भवितव्यता। जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं उसीका दूसरा नाम भवितव्यता है। द्रव्यकी समर्थ उपादान शक्ति कार्यरूपसे परिणत होनेके योग्य होती है इसलिए समर्थ उपादान शक्ति, भवितव्यता और योग्यता ये तीनों एक ही अर्थको सूचित करते हैं। कहीं-कहीं अनादि या नित्य उपादानको भी भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित किया गया है सो प्रकरणके अनुसार इसका उक्त अर्थ करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यतासे उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। उक्त श्लोकमें भवितव्यताको प्रमुखता दी गयी है और साथमें व्यवसाय-पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्रीका भी सूचन किया है सो इस कथन द्वारा उक्त पाँचों कारणोंका समवाय होने पर कार्यकी सिद्धि होती है यही

सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादानकी विशेषता होनेसे भवितव्यतामें गर्भित है ही।

भवितव्यका समर्थन करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक (अधिकार ३, पृष्ठ ८१) में लिखते हैं—

"'सो इनकी सिद्धि होय तौ कषाय उपशमनेतैं दुःख दूरि होइ जाइ सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनकि किए उपायनिके आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातैं अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातैं अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिए है। बहुरि काकतालीय न्यायकरि भवितव्य ऐसी ही होइ जैसा आपका प्रयोजन होइ तैसा ही उपाय होइ अर तातैं कार्यकी सिद्धि भी होइ जाइ तौ तिस कार्यसंबंधी कोई कषायका उपशम होइ।

यह पण्डितप्रवर टोडरमल्लजीका कथन है। मालूम पड़ता है कि उन्होंने 'तादृशी जायते बुद्धिः' इस श्लोकमें प्रतिपादित तथ्यको ध्यानमें रखकर ही यह कथन किया है। इसलिए इसे उक्त अर्थके समर्थनमें ही जानना चाहिए।

इस प्रकार कार्योत्पत्तिके पूरे कारणों पर दृष्टिपात करनेसे भी यही फलित होता है कि जहाँ पर कार्योत्पत्तिके अनुकूल द्रव्यका स्ववीर्य और उपादान शक्ति होती है वहाँ अन्य साधनसामग्री स्वयमेव मिल जाती है, उसे मिलाना नहीं पड़ता।

वास्तवमें देखा जाय तो यह कथन जैनदर्शनका हार्द प्रतीत होता है। जैनदर्शनमें कार्यकी उत्पत्तिके प्रति जो उपादान-निमित्त सामग्री स्वीकार की गयी है उसमें द्रव्यके स्ववीर्यके साथ उपादान का प्रमुख स्थान है। उसके अभावमें निमित्तोंकी कथा करना ही व्यर्थ है। स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें जब यह

प्रतिपादन किया कि विविध प्रकारका कामादि कार्यरूप भावसंसार कर्मबन्धके अनुरूप होता है और वह कर्मबन्ध अपने कामादि हेतुओंसे होता है तब उनके सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि ऐसा मानने पर तो जीवके संसारका कभी भी अन्त नहीं होगा, क्योंकि कर्मबन्ध होनेके कारण यह जीव निरन्तर भावसंसारकी सृष्टि करता रहेगा और भावसंसारकी सृष्टि होनेसे निरन्तर कर्मबन्ध होता रहेगा। फिर इस परम्पराका अन्त कैसे होगा? आचार्य महाराजने स्वयं उठे हुए अपने इस प्रश्नके महत्त्वको अनुभव किया और उसके उत्तरस्वरूप उन्हें कहना पड़ा—'जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः।' अर्थात् वे जीव शुद्धि और अशुद्धि नामक दो शक्तियोंसे सम्बद्ध हैं। परन्तु इतना कहनेसे उक्त आपेक्षको ध्यानमें रखकर किये गये समाधान पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ता, इसलिए वे इन शक्तियोंके आश्रयसे स्पष्टीकरण करते हुए पुनः कहते हैं—

शुद्धयशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्तिके समान शुद्धि और अशुद्धि नामवाली दो शक्तियाँ हैं तथा उनकी व्यक्ति सादि और अनादि है। उनका स्वभाव ही ऐसा है जो तर्कका विषय नहीं है ॥१००॥

यहाँ पर जो ये दो प्रकारकी शक्तियां कही गयी हैं उन द्वारा प्रकारान्तरसे उपादान शक्तिका ही प्रतिपादन कर दिया गया है। जीवोंमें ये दोनों प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं। उनमेंसे अशुद्धि नामक शक्तिकी व्यक्ति तो अनादि कालसे प्रति समय होती आ रही है जिसके आश्रयसे नाना प्रकारके पुद्गल कर्मोंका बन्ध होकर कामादिरूप भावसंसारकी सृष्टि होती है। जो अभव्य-

जीव हैं उनके इस शक्तिकी व्यक्ति अनादि-अनन्त है और जो भव्य जीव हैं उनके इस शक्तिकी व्यक्ति अनादि होकर भी सान्त है। किन्तु जब इस जीवके शुद्धि शक्तिकी व्यक्तिका स्वकाल आता है तब यह जीव अपने स्वभाव सन्मुख होकर पुरुषार्थ द्वारा उसकी व्यक्ति करता है, इसलिए शुद्धि शक्तिकी व्यक्ति सादि है। यहाँ पर जो अशुद्धि शक्तिकी व्यक्तिको अनादि कहा गया है सो वह कथन द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे ही जानना चाहिए, पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा तो उसकी व्यक्ति प्रति समय होती रहती है। जिससे प्रत्येक संसारी जीवकी प्रति समयसम्बन्धी भावसंसाररूप पर्यायकी सृष्टि होती है[1]। यहां पर यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि ये दोनों शक्तियां जीवकी हैं तो इनमेंसे एककी व्यक्ति अनादि हो और एककी व्यक्ति सादि हो इसका क्या कारण है? समाधान यह है कि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है जो तर्कका विषय नहीं है। इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिये आचार्य महाराजने पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्तिको

---

१. यहाँपर जीवोंके सम्यग्दर्शनादिरूप परिणामका नाम शुद्धिशक्ति है और मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामका नाम अशुद्धिशक्ति है इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर यह व्याख्यान किया है। वैसे शुद्धिशक्तिका अर्थ भव्यत्व और अशुद्धि शक्तिका अर्थ अभव्यत्व करके भी व्याख्यान किया जा सकता है। भट्ट अकलङ्कदेवने अष्टशतीमें और आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्री में सर्वप्रथम इसी अर्थको ध्यानमें रखकर व्याख्यान किया है। इसी अर्थको ध्यानमें रखकर आचार्य अमृतचन्द्रने पञ्चास्तिकाय गाथा १२० की टीकामें यह वचन लिखा है—संसारिणो द्विप्रकाराः भव्या अभव्याश्च। ते शुद्धस्वरूपोपलम्भशक्तिसद्भावासद्भावाभ्यां पाच्यापाच्यमुद्गवदभिधीयन्त इति।

उदाहरणरूपमें उपस्थित किया है। आशय यह है कि जिस प्रकार वही उड़द अग्निसंयोगको निमित्त कर पकता है जो पाक्यशक्तिसे युक्त होता है। जिसमें अपाक्यशक्ति पाई जाती है वह अग्नि-संयोगको निमित्त कर त्रिकालमें नहीं पकता ऐसी वस्तुमर्यादा है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये। यहां पर पाक्यशक्ति युक्त उड़द और अपाक्यशक्ति युक्त उड़द ऐसा भेद किया गया है जो सब जीवोंपर पूरी तरहसे लागू नहीं होता, क्योंकि भव्य जीवोंमें शुद्धिशक्ति और अशुद्धिशक्तिका सद्भाव समानरूपसे उपलब्ध होता है सो प्रकृतमें दृष्टान्तको एकदेशरूपसे ग्राह्य मानकर मुख्यार्थको फलित कर लेना चाहिये। दृष्टान्तमें दार्ष्टान्तके सब गुण उपलब्ध होते ही हैं ऐसा है भी नहीं। वह तो मुख्यार्थको सूचनमात्र करता है। इस दृष्टान्तको उपस्थित कर आचार्य महाराज यही दिखलाना चाहते हैं कि प्रत्येक द्रव्यमें आन्तरिक योग्यताका सद्भाव स्वीकार किये बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। उसमें भी जिस योग्यताका जो स्वकाल (समर्थ उपादानक्षण) है उसके प्राप्त होने पर ही वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। इससे यदि कोई अपने पुरुपार्थकी हानि समझे सो भी बात नहीं है, क्योंकि किसी भी योग्यताको कार्यका आकार पुरुपार्थ द्वारा ही प्राप्त होता है। जीवकी प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें पुरुपार्थ अनिवार्य है। उसकी उत्पत्तिमें एक कारण हो और अन्य कारण न हो ऐसा नहीं है। जब कार्य उत्पन्न होता है तब निमित्त भी होता है, क्योंकि जहाँ निश्चय (उपादान कारण) है वहाँ व्यवहार (निमित्त कारण) होता ही है। इतना अवश्य है कि मिथ्यादृष्टि जीव निश्चयको लक्ष्यमें नहीं लेता और मात्र व्यवहार पर जोर देता रहता है, इसलिये वह व्यवहाराभासी होकर अनन्त संसारका पात्र बना रहता है।

ऐसे व्यवहाराभासीके लिए पण्डितप्रवर दौलतरामजी छहढालामें क्या कहते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये :—

कोटि जनम तप तपैं ज्ञान विन कर्म झरैं जे।
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते॥
मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान विना सुख लेश न पायो॥

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं भवितव्यता उपादानकी योग्यताका ही दूसरा नाम है। प्रत्येक द्रव्यमें कार्यक्षम भवितव्यता होती है इसका समर्थन करते हुए स्वामी समन्तभद्र अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें कहते हैं :—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः॥३३॥

आपने (जिनदेवने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्यको कर सकता हूं' इस प्रकारके अहंकारसे पीड़ित है वह उस (भवितव्यता) के विना अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता॥३३॥

सब द्रव्योंमें कार्योत्पादनक्षम उपादानगत योग्यता होती है इसका समर्थन भट्टाकलंकदेवने अपनी अष्टशती टीकामें भी किया है। प्रकरण संसारी जीवोंके दैव—पुरुषार्थवादका है। वहाँ वे दैव व पुरुषार्थका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्, पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्।

ताभ्यामर्थसिद्धिः, तदन्यतरापायेऽघटनात् । पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात् । दैवमात्रे वा समाहीनर्थक्यप्रसंगात् ।

योग्यता या पूर्व कर्म दैव कहलाते हैं। ये दोनों अदृष्ट हैं। तथा इहचेष्टितको पौरुष कहते हैं जो दृष्ट है। इन दोनोंसे अर्थसिद्धि होती है, क्योंकि इनमेंसे किसी एकके अभावमें अर्थसिद्धि नहीं हो सकती। केवल पौरुषसे अर्थसिद्धि मानने पर अर्थका दर्शन नहीं होता और केवल दैवसे माननेपर समीहाकी निष्फलताका प्रसंग आता है।

उपादानकी योग्यतानुसार कार्य होता है इसका समर्थन वे तत्त्वार्थवार्तिक (अ० १, सूत्र २०) में इन शब्दोंमें करते हैं :—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दंड-चक्र-पौरुषेय-प्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, यतः सत्स्वपि दंडादिनिमित्तेषु शर्करादि-प्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटीभवति, अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष आभ्यन्तरपरिणाम-सानिध्याद् घटो भवति न दण्डादयः इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वं भवति ।

जैसे मिट्टीके स्वयं भीतरसे घटभवनरूप परिणामके अभिमुख होनेपर दण्ड, चक्र और पुरुषकृत प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं, क्योंकि दण्डादि निमित्तोंके रहनेपर भी बालुकाबहुल मिट्टीका पिण्ड स्वयं भीतरसे घटभवनरूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होनेके कारण घट नहीं होता, अतः बाह्यमें दण्डादि निमित्तसापेक्ष मिट्टीका पिण्ड ही भीतर घटभवनरूप परिणामका सानिध्य होनेसे घट होता है, दण्डादि घट नहीं होते, इसलिए दण्डादि निमित्तमात्र हैं।

इस प्रकार इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि उपादानगत योग्यताके

कार्यभवनरूप व्यापारके सन्मुख होनेपर ही वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। यहाँपर योग्यतासे प्रत्येक द्रव्यकी अपनी उपादानशक्ति ली गई है और कार्यभवनरूप व्यापारसे बल-वीर्य सहित उसका क्रिया व्यापार लिया गया है। ऐसा बल-वीर्य प्रत्येक द्रव्यमें होता है। जीवोंके इसी बल-वीर्यको निश्चयसे पुरुषार्थ कहते हैं।

यदि तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखपर बारीकीसे ध्यान दिया जाता है तो उससे यह भी विदित हो जाता है कि घट निष्पत्तिके अनुकूल कुम्हारका जो प्रयत्न प्रेरकनिमित्त कहा जाता है वह निमित्तमात्र है,वास्तवमें प्रेरक निमित्त नहीं। उनके 'निमित्तमात्र है' ऐसा कहनेका यही तात्पर्य है।

हम पहले प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति स्वकाल[1] (समर्थ उपादानके व्यापारक्षण) के प्राप्त होनेपर होती है यह लिख आये हैं, इसलिये यहाँपर संक्षेपमें उसका भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तो सुनिश्चित है कि प्रत्येक कार्यका स्वकाल होता है। न तो उसके पहिले ही वह कार्य हो सकता है और न उसके बाद ही। जो जिस कार्यका स्वकाल होता है उसके प्राप्त होने पर अपने पुरुषार्थ (बल-वीर्य) द्वारा वह कार्य होता है और अन्य द्रव्य, जिनमें उस कार्यके निमित्त होनेकी योग्यता होती है, निमित्त होते हैं। प्रत्येक भव्य जीवका मुक्तिलाभ भी एक कार्य है, अतः उसका भी स्वकाल है। उक्त नियम द्वारा

---

१. स्वकाल शब्द प्रत्येक द्रव्यकी अपनी पर्यायके लिए भी आता है। प्रकृतमें उसका अर्थ समर्थ उपादानका अन्तर्भवनरूप व्यापारक्षण लिया गया है। आगे जहाँ जहाँ स्वकाल शब्द आया है वहाँ सर्वत्र यही अर्थ लेना चाहिए।

उसीकी स्वीकृति दी गई है। केवल यह बात हम तर्कके बलसे कह रहे हों ऐसा नहीं है, क्योंकि कई प्रमुख आचार्योंके इस सम्बन्धमें जो उल्लेख मिलते हैं उनसे इस कथनकी पुष्टि होती है। आचार्य विद्यानन्दने आप्तमीमांसा और अष्टशतीके आधारसे जब यह सिद्ध कर दिया कि जो शुद्धिशक्तिकी अभिव्यक्ति द्वारा शुद्धिको प्राप्त कर लेते हैं वे मुक्तिके पात्र हो जाते हैं और जो अशुद्धि शक्तिकी अभिव्यक्ति द्वारा अशुद्धिका उपभोग करते रहते हैं उनके संसारका प्रवाह चालू रहता है। तब उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सब संसारी जीव जिस प्रकार अनादि कालसे अशुद्धिका उपभोग करते आ रहे हैं उस प्रकार वे सदा काल शुद्धिका उपभोग करते हुए मुक्तिके पात्र क्यों नहीं होते ? इसी प्रश्नका उत्तर देते हुए वे कहते हैं :—

केषांचित् प्रतिमुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यादिति प्रतिपत्तव्यम्।

किन्हीं जीवोंको प्रतिमुक्ति स्वकालके प्राप्त होने पर होती है ऐसा जानना चाहिए।

आचार्य विद्यानन्दने इस कथन द्वारा यह बतलाया है कि शुद्धिनामक शक्ति होती तो सबके है। परन्तु जिन जीवोंके उसके पर्यायरूपसे व्यक्त होनेका स्वकाल आजाता है उन्हींके अपने पुरुषार्थ द्वारा उसकी व्यक्ति होती है और वे ही मोक्षके पात्र होते हैं।

यह कथन केवल आचार्य समन्तभद्र और विद्यानन्दने ही किया हो यह बात नहीं है। भट्टाकलंकदेवने भी तत्त्वार्थवार्तिक (अ० १, सूत्र० ३) में इस तथ्यको स्वीकार किया है। वह प्रकरण निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनका है। इसी प्रसंगको लेकर उन्होंने सर्वप्रथम यह शंका उपस्थित की है :—

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः । ७ । यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम् । न चादोऽस्ति । अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति ।

इस वार्तिक और उसकी टीकामें कहा गया है कि यदि नियत मोक्षकालके पूर्व अधिगमसम्यक्त्वके बलसे मोक्ष होवे तो अधिगमसम्यक्त्व सफल होवे । परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये स्वकालके आश्रयसे जो इस भव्य जीवको मोक्षप्राप्ति है वह निसर्गज सम्यक्त्वसे ही सिद्ध है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त कथन द्वारा भट्टाकलंकदेवने भी इस तथ्यको स्वीकार किया है कि प्रत्येक भव्य जीवको उसकी मोक्ष प्राप्तिका स्वकाल आनेपर मुक्तिलाभ अवश्य होता है । इससे सिद्ध है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं वे अपने कालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं, आगे पीछे नहीं होते ।

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि जब वहीं पर भट्टाकलंकदेवने कालनियमका निषेध कर दिया है तब उनके पूर्व वचनको कालनियमके समर्थनमें क्यों उपस्थित किया जाता है । कालनियमका निषेधपरक उनका वह वचन इस प्रकार है :—

कालानियमाच्च निर्जरायाः । ९ । यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति । केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति, ततश्च न युक्तं 'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति ।

इस वार्तिक और उसकी टीकाका आशय यह है कि यतः भव्योंके समस्त कर्मोंकी निर्जरापूर्वक मोक्षकालका नियम नहीं है, क्योंकि कितने ही भव्य संख्यात काल द्वारा मोक्षलाभ करेंगे ।

कितने ही असंख्यात कालद्वारा और कितने ही अनन्त कालद्वारा मोक्ष लाभ करेंगे। दूसरे जीव अनन्तानन्त कालद्वारा भी मोक्ष-लाभ नहीं करेंगे। इसलिए 'भव्य जीव काल द्वारा मोक्षलाभ करेंगे' यह वचन ठीक नहीं है।

कुछ विचारक इसे पढ़कर उस परसे ऐसा अर्थ फलित करते हैं कि भट्टाकलंकदेवने प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेके काल-नियमका पहले शंकारूपमें जो विधान किया था उसका इस कथन द्वारा सर्वथा निषेध कर दिया है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह सच है कि उन्होंने पिछले कथनका इस कथनद्वारा निषेध किया है। परन्तु उन्होंने यह निषेध नयविशेषका आश्रय लेकर ही किया है, सर्वथा नहीं। वह नयविशेष यह है कि पूर्वोक्त कथन एक जीवके आश्रयसे किया गया है और यह कथन नाना जीवोंके आश्रयसे किया गया है। सब भव्य जीवोंकी अपेक्षा देखा जाय तो सबके मोक्ष जानेका एक कालनियम नहीं बनता, क्योंकि दूर भव्योंको छोड़कर प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेका कालनियम अलग अलग है, इसलिए सबका एक काल-नियम कैसे बन सकता है ? परन्तु इसका यदि कोई यह अर्थ लगावे कि प्रत्येक भव्य जीवका भी मोक्ष जानेका कालनियम नहीं है तो उसका उक्त कथन द्वारा यह अर्थ फलित करना उक्त कथनके अभिप्रायको ही न समझना कहा जायगा। अतः प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि भट्टाकलंकदेव भी प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेका काल नियम मानते रहे हैं।

प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय उसके स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होती है इसका समर्थन पंचास्तिकाय गाथा १८ के इस टीका वचनसे भी होता है। वह वचन इस प्रकार है :—

देव-मनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थितातिवाहितस्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति।

देव और मनुष्य आदि पर्यायें तो क्रमवती हैं, परिणामस्वरूप उनका स्वसमय उपस्थित होता है और बीत जाता है, इसलिए वे उत्पन्न होती हैं और नाशको प्राप्त होती हैं। तात्पर्य यह है देव और मनुष्य आदि पर्यायें अपने-अपने स्वकालके प्राप्त होने पर उत्पन्न होती हैं और स्वकालके अतीत होनेके साथ नष्ट हो जाती हैं।

इसी बातका समर्थन करते हुए पंचास्तिकाय गाथा ११ की टीकामें भी कहा है:—

……यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति। सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति।

…और जब यह जीव द्रव्यकी गौणता और पर्यायकी मुख्यतासे विवक्षित होता है तब वह उपजता है और विनाशको प्राप्त होता है। जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (विद्यमान) पर्यायसमूहको नष्ट करता है और जिसका स्वकाल उपस्थित है ऐसे असत् (अविद्यमान) पर्यायसमूहको उत्पन्न करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार इस कथनसे भी यही विदित होता है कि प्रत्येक कार्य अपने अपने स्वकालके प्राप्त होने पर ही होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि स्वकालके प्राप्त होने पर वह अपने आप हो जाता है। होता तो है वह स्वभाव आदि पांचके समवाय से ही। पर जिस कार्यका जो स्वकाल है उसके प्राप्त होने पर ही

इन पांचका समवाय होता है और तभी वह कार्य होता है ऐसा यहां पर समझना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुडमें कालादिलब्धिके प्राप्त होनेपर आत्मा परमात्मा हो जाता है इसका समर्थन करते हुए स्वयं कहते हैं—

अइसोहणजोएणं सुद्ध हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥

इसका अर्थ करते हुए पण्डितप्रवर जयचन्द्रजी छावड़ा लिखते हैं—

जैसैं सुवर्ण पाषाण है सो सोधनेंकी सामग्रीके संबंध करि शुद्ध सुवर्ण होय है तैसैं काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीकी प्राप्ति ताकरि यहु आत्मा कर्मके संयोगकरि अशुद्ध है सो ही परमात्मा होय है ॥२४॥

इसी तथ्यका समर्थन करते हुए स्वामी कार्तिकेय भी अपनी द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥

इसका अर्थ पण्डित जयचन्दजी छावड़ाने इन शब्दोंमें किया है—

सर्व ही पदार्थ काल आदि लब्धिकरि सहित भये नाना शक्तिसंयुक्त हैं तैसैं ही स्वयं परिणमै हैं तिनकूं परिणमतैं कोई निवारनेकूं समर्थ नाहीं ॥२१९॥

इस विषयमें मान्य सिद्धान्त है कि ६ माह ८ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं और यह भी सुनिश्चित है कि अनन्तानन्त

जीवराशिमेंसे युक्तानन्त प्रमाण जीवराशिको छोड़कर शेष जीवराशि भव्य है सो इस कथनसे भी उक्त तथ्य ही फलित होता है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जानेपर भी, कि प्रत्येक कार्य अपने अपने स्वकालमें अपनी अपनी योग्यतानुसार ही होता है, और जब जो कार्य होता है तब निमित्त भी तदनुकूल मिल जाते हैं, यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि प्रत्येक समयमें वह कार्य होता कैसे है ? क्या वह अपने आप हो जाता है या अन्य कोई कारण है जिसके द्वारा वह कार्य होता है ? विचार करनेपर विदित होता है कि वह इस साधन सामग्रीके मिलनेपर भी अपने अपने बल-वीर्य या पुरुषार्थके द्वारा ही होता है, अपने आप नहीं होता है। इसलिए जीवके प्रत्येक कार्यमें पुरुषार्थकी मुख्यता है। यही कारण है कि जिन पाँच कारणोंका पूर्वमें उल्लेख कर आये हैं उनमें एक पुरुषार्थ भी परिगणित किया गया है। हम कार्योत्पत्तिका मुख्य साधन जो पुरुषार्थ है उसपर तो दृष्टिपात करें नहीं और जब जो कार्य होना होगा, होगा ही यह मान कर प्रमादी बन जाँय यह उचित नहीं है। सर्वत्र विचार इस बातका करना चाहिए कि यहाँ ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन किस अभिप्रायसे किया गया है। वास्तवमें चारों अनुयोगोंका सार वीतरागता ही है, वैसे विपर्यास करनेके लिए सर्वत्र स्थान है। उदाहरण स्वरूप प्रथमानुयोगको ही लीजिए। उसमें महापुरुषोंकी अतीत जीवन घटनाओंके समान भविष्य सम्बन्धी जीवन घटनाएँ भी अंकित की गई हैं। अब यदि कोई व्यक्ति उनकी भविष्य सम्बन्धी जीवन घटनाओंको पढ़कर ऐसा निर्णय करने लगे कि जैसे इन महापुरुषोंकी भविष्य जीवन घटनाएँ सुनिश्चित

रहे हैं उसी प्रकार हमारा भविष्य भी सुनिश्चित है, अतएव अब हमें कुछ भी नहीं करना है। जब जो होना होगा, होगा ही, तो क्या इस आधारसे उसका ऐसा निर्णय करना उचित कहा जायगा? यदि कहो कि इस आधारसे उसका ऐसा निर्णय करना उचित नहीं है। किन्तु उसे उन भविष्य सम्बन्धी जीवन घटनाओंको पढ़कर ऐसा निर्णय करना चाहिए कि जिस प्रकार ये महापुरुष अपनी अपनी हीन अवस्थासे पुरुपार्थ द्वारा उच्च अवस्थाको प्राप्त हुए हैं उसी प्रकार हमें भी अपने पुरुपार्थ द्वारा अपनेमें उच्च अवस्था प्रगट करनी है। तो हम पूछते हैं कि फिर प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है इस सिद्धान्तको सुनकर उसका विपर्यास क्यों करते हो। वास्तवमें यह सिद्धान्त किसीको प्रमादी बनानेवाला नहीं है। जो इसका विपर्यास करता है वह प्रमादी बनकर संसारका पात्र होता है और जो इस सिद्धान्तमें छिपे हुए रहस्यको जान लेता है वह परकी कर्तृत्व बुद्धिका त्याग कर पुरुपार्थ द्वारा स्वभाव सन्मुख हो मोक्षका पात्र होता है। प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है ऐसी यथार्थ श्रद्धा होनेपर 'परका मैं कुछ भी कर सकता हूँ' ऐसी कर्तृत्वबुद्धि तो छूट ही जाती है। साथ ही 'मैं अपनी आगे होनेवाली पर्यायोंमें कुछ भी फेर-फार कर सकता हूँ' इस अहंकारका भी लोप हो जाता है। परकी कर्तृत्वबुद्धि छूटकर ज्ञाता-द्रष्टा बननेके लिए और अपने जीवनमें वीतरागताको प्रगट करनेके लिए इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेका बहुत बड़ा महत्त्व है। जो महानुभाव समझते हैं कि इस सिद्धान्तके स्वीकार करनेसे अपने पुरुपार्थकी हानि होती है, वास्तवमें उन्होंने इसे भीतरसे स्वीकार ही नहीं किया ऐसा कहना होगा। यह उस दीपकके समान है जो मार्गका दर्शन करानेमें निमित्त तो है पर मार्ग पर चलना स्वयं पड़ता है। इसलिए इसे स्वीकार करनेसे पुरुपार्थ

की हानि होती है ऐसी खोटी श्रद्धाको छोड़कर इसके स्वीकार द्वारा मात्र ज्ञाता-दृष्टा वने रहनेके लिए सम्यक् पुरुषार्थको जागृत करना चाहिए। तीर्थंकरों और ज्ञानी सन्तोंका यही उपदेश है जो हितकारी जानकर स्वीकार करने योग्य है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं—

जो इच्छो पुरुषार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लई छेदो नहीं आत्मार्थ।

जो भवस्थिति (काललब्धि) का नाम लेकर सम्यक् पुरुषार्थसे विरत है उसे ध्यानमें रखकर यह दोहा कहा गया है। इसमें वतलाया है कि यदि तू पुरुषार्थकी इच्छा करता है तो सम्यक् पुरुषार्थ कर। केवल काललब्धिका नाम लेकर आत्माका घात मत कर।

प्रत्येक कार्यकी काललब्धि होती है इसमें सन्देह नहीं। पर वह किसीको सम्यक पुरुषार्थ करनेसे रोकती हो ऐसा नहीं है। काललब्धि और योग्यता ये दोनों उपादानगत विशेषताके ही दूसरे नाम हैं। उससे अलग वे कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, इसलिए जिस समय जिस कार्यका सम्यक् पुरुषार्थ हुआ वही उसकी काललब्धि है, इसके सिवा अन्य कोई काललब्धि हो ऐसा नहीं है। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी मोक्षमार्गप्रकाशक (पृ० ४६२) में कहते हैं—

इहां प्रश्न—जो मोक्षका उपाय काललब्धि आएं भवितव्यतानुसारि बने है कि मोहादिकका उपशमादि भएं बनै है अथवा अपने पुरुषार्थतें उद्यम किए बनै सो कहो। जो पहिले दोय कारण मिले बनै है तौ हमकौं उपदेश काहेकौं दीजिए है। अर पुरुषार्थतें बनै है तो उपदेश सर्व सुनि तिन विषै कोई उपाय कर सकै, कोई न कर सकै सो कारण कहा?

ताका समाधान—एक कार्य होने विषै अनेक कारण मिलैं हैं सो मोक्षका उपाय बनै है। तहां तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलै हीं हैं। अर न बनै है तहां तीनों ही कारण न मिलै हैं। पूर्वोक्त तीन कारण कहे तिन विषै काललब्धि वा होनहार तौ किछू वस्तु नाहीं। जिस काल विषै कार्य बनै सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। बहुरि कर्मका उपशमादि है सो पुद्गलकी शक्ति है। ताका आत्मा कर्ता हर्ता नाहीं। बहुरि पुरुषार्थ तैं उद्यम करिए है सो यहु आत्माका कार्य है। तातैं आत्माकौं पुरुषार्थ करि उद्यम करनेका उपदेश दीजिए है। तहां यहु आत्मा जिस कारण तैं कार्यसिद्धि अवश्य होय तिस कारणरूप उद्यम करै तहाँ तौ अन्य कारण मिलैं ही मिलैं अर कार्यकी भी सिद्धि होय ही होय।

वे आगे (पृ० ४६५) में पुनः कहते हैं—

अर तत्त्व निर्णय करने विषै कोई कर्मका दोष है नाहीं। अर तूं आप तो महंत रह्यौ चाहे अर अपना दोष कर्मादिककैं लगावै सो जिन आज्ञा मानैं तौ ऐसी अनीति संभवै नाहीं। तोकौं विषय-कषाय-रूप ही रहना है तातै झूठ बोलै है। मोक्षकी सांची अभिलाषा होय तौ ऐसी युक्ति काहे कौं बनावै। संसारके कार्यनि विषै अपना पुरुषार्थतैं सिद्धि न होती जानैं तौ भी पुरुषार्थकरि उद्यम किया करै। यहां पुरुषार्थ खोई बैठै। सो जानिए है, मोक्षकौं देखादेखी उत्कृष्ट कहै है। याका स्वरूप पहिचानि ताकौं हितरूप न जानै है। हित जानि जाका उद्यम बनै सो न करै वह असंभव है।

प्रकृतमें यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शास्त्रोंमें जहाँ जहाँ कालादिलब्धिका उल्लेख किया है वहाँ उसका आशय आत्माभिमुख होनेके लिए ही है, अन्य कुछ आशय नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन पञ्चास्तिकाय गाथा १५०-१५१ की टीकामें कहते हैं—

यदायं जीवः आगमभाषया कालादिलब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते।

जब यह जीव आगमभाषाके अनुसार कालादिलब्धिरूप और अध्यात्मभाषाके अनुसार शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदनज्ञानको प्राप्त होता है।

इस प्रकार यहाँ तक जो हमने उपादानकारणके स्वरूपादिकी मीमांसाके साथ प्रसंगसे उपादानकी योग्यता और स्वकालका विचार किया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो क्रियावान् निमित्त प्रेरक कहे जाते हैं वे भी उदासीन निमित्तोंके समान कार्योत्पत्तिके समय मात्र सहायक होते हैं, इसलिये जो लोग इस मान्यतापर बल देते हैं कि जहाँ जैसे निमित्त मिलते हैं वहाँ उनके अनुसार ही कार्य होता है, उनकी वह मान्यता समीचीन नहीं है। किन्तु इसके स्थानमें यही मान्यता समीचीन और तथ्यको लिये हुए है कि प्रत्येक कार्य चाहे वह शुद्ध द्रव्यसम्बन्धी हो और चाहे अशुद्ध द्रव्यसम्बन्धी हो, अपने अपने उपादानके अनुसार ही होता है। उपादानके अनुसार ही होता है इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ निमित्त नहीं होता। निमित्त तो वहाँपर भी होता है। पर निमित्तके रहते हुए भी कार्य उपादानके अनुसार ही होता है यह एकान्त सत्य है। इसमें सन्देहके लिये स्थान नहीं है। यही कारण है कि मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको अनादि रूढ़ लोकव्यवहारसे मुक्त होकर अपने द्रव्यस्वभावको लक्ष्यमें लेना चाहिये ऐसा उपदेश दिया जाता है।

यहाँ यह शंका की जाती है कि यदि कार्योंकी उत्पत्ति प्रेरक निमित्त कारणोंके अनुसार नहीं होती है तो उन्हें प्रेरक कारण क्यों कहा जाता है? समाधान यह है कि ये कार्योंको अपने

अनुसार उत्पन्न करते हैं, इसलिये उन्हें प्रेरक कारण नहीं कहा गया है। किन्तु उनकी ईरण (गति) क्रियाकी प्रकृष्टता अन्य द्रव्योंके क्रियाव्यापारके समय उनके वलाधानमें निमित्त होती है इस बातको ध्यानमें रखकर ही उन्हें प्रेरक कहा गया है।

यहाँ पर हमने प्रेरककारणका जो अर्थ किया है वह अपने मनसे नहीं किया है, किन्तु पंचास्तिकाय गाथा ८८ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने जिन्हें लोकमें उदासीन निमित्तकारण और प्रेरक निमित्तकारण कहते हैं उनका जो स्पष्टीकरण किया है वह उक्त अर्थके समर्थनके लिए पर्याप्त है। वे कहते हैं :—

यथा हि गतिपरिणतः प्रभंजनो वैजन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वान्न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते, कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। किन्तु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्गलानामाश्रयकारणत्वेनोदासीन एवासौ गतेः प्रसरो भवति।

जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओंके गतिपरिणामका हेतुकर्ता दिखाई देता है उस प्रकार धर्मद्रव्य नहीं है। वह (धर्म) वास्तवमें निष्क्रिय होनेसे कभी भी गतिपरिणामको ही प्राप्त नहीं होता तो फिर उसमें सहकारीरूपसे दूसरोंके गतिपरिणामका हेतुकर्तापन कैसे बन सकता है? किन्तु जिस प्रकार पानी मछलियोंके आश्रय कारणरूपसे गतिका प्रसर (निमित्त) है उसी प्रकार धर्मद्रव्य भी जीवों और पुद्गलोंके आश्रयकारणरूपसे ही गतिका प्रसर है।

इस उल्लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ अन्य द्रव्य विवक्षित परिस्पन्दरूप क्रिया द्वारा किसी अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त न होकर अन्य प्रकारसे निमित्त होता है वहाँ वह

आश्रयकारण कहलाता है। उदासीन कारण इसीका नामान्तर है। तात्पर्य यह है कि धर्मादि द्रव्य तो स्वयं निष्क्रिय हैं ही। किन्तु क्रियावान् द्रव्यकी क्रिया भी यदि अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त न होकर वह अन्य प्रकारसे निमित्त होता है। तो वह भी आश्रयकारण ही है। किन्तु जहाँ सक्रिय अन्य द्रव्यकी क्रिया किसी अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होती है वहाँ उभयतः क्रियापरिणामको लक्ष्यमें रखकर निमित्त सहकारी कारण या हेतुकर्ता कहा गया है। जिसे लोकमें प्रेरककारण कहते हैं यह उसीका नामान्तर है। इसके सिवा उदासीनकारण और प्रेरककारणमें अन्य कोई विशेपता हो ऐसा नहीं है। अर्थात् प्रेरककारण उपादान कारणके अभावमें बलात् कार्यको उत्पन्न करता हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादानकारण अपने कार्यको उत्पन्न करता है तब जो आश्रय कारण होता है वह उदासीन कारण कहलाता है और जो अपनी ईरण (गति) क्रियाकी प्रकृष्टताके द्वारा दूसरेके गतिपरिणाममें हेतु होता है वह प्रेरककारण कहलाता है। धर्मादिक द्रव्य स्वयं निष्क्रिय हैं, इसलिए उनमें तो गतिक्रिया सम्भव ही नहीं है। जिनमें गतिक्रिया होती भी है उनमें भी यदि वे अपनी गतिक्रियाके द्वारा किसी कार्यमें निमित्त नहीं होते तो वे भी उस समय उदासीन कारण ही कहलाते हैं और यदि अपनी गतिक्रियाके द्वारा वे अन्यके गति परिणाममें निमित्त होते हैं तो उस समय उनमें एक साथ होनेवाले गतिपरिणामको देखकर प्रेरक कारण शब्दका व्यवहार किया जाता है। जैनदर्शनमें इसके सिवा प्रेरककारणका अन्य कोई अर्थ नहीं है।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि यदि प्रेरककारणका उक्त अर्थ लिया जाता है तो आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतके बन्धाधिकारमें

अनुसार उत्पन्न करते हैं, इसलिये उन्हें प्रेरक कारण नहीं कहा गया है। किन्तु उनकी ईरण (गति) क्रियाकी प्रकृष्टता अन्य द्रव्योंके क्रियाव्यापारके समय उनके बलाधानमें निमित्त होती है इस बातको ध्यानमें रखकर ही उन्हें प्रेरक कहा गया है।

यहाँ पर हमने प्रेरककारणका जो अर्थ किया है वह अपने मनसे नहीं किया है, किन्तु पंचास्तिकाय गाथा ८८ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने जिन्हें लोकमें उदासीन निमित्तकारण और प्रेरक निमित्तकारण कहते हैं उनका जो स्पष्टीकरण किया है वह उक्त अर्थके समर्थनके लिए पर्याप्त है। वे कहते हैं :—

यथा हि गतिपरिणतः प्रभंजनो वैजन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वान्न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते, कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। किन्तु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्गलानामाश्रयकारणत्वेनोदासीन एवासौ गतेः प्रसरो भवति।

जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओंके गतिपरिणामका हेतुकर्ता दिखाई देता है उस प्रकार धर्मद्रव्य नहीं है। वह (धर्म) वास्तवमें निष्क्रिय होनेसे कभी भी गतिपरिणामको ही प्राप्त नहीं होता तो फिर उसमें सहकारीरूपसे दूसरोंके गतिपरिणामका हेतुकर्तापन कैसे बन सकता है? किन्तु जिस प्रकार पानी मछलियोंके आश्रय कारणरूपसे गतिका प्रसर (निमित्त) है उसी प्रकार धर्मद्रव्य भी जीवों और पुद्गलोंके आश्रयकारणरूपसे ही गतिका प्रसर है।

इस उल्लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ अन्य द्रव्य विवक्षित परिस्पन्दरूप क्रिया द्वारा किसी अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त न होकर अन्य प्रकारसे निमित्त होता है वहाँ वह

आश्रयकारण कहलाता है। उदासीन कारण इसीका नामान्तर है। तात्पर्य यह है कि धर्मादि द्रव्य तो स्वयं निष्क्रिय हैं ही। किन्तु क्रियावान् द्रव्यकी क्रिया भी यदि अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त न होकर वह अन्य प्रकारसे निमित्त होता है। तो वह भी आश्रयकारण ही है। किन्तु जहाँ सक्रिय अन्य द्रव्यकी क्रिया किसी अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होती है वहाँ उभयतः क्रियापरिणामको लक्ष्यमें रखकर निमित्त सहकारी कारण या हेतुकर्ता कहा गया है। जिसे लोकमें प्रेरककारण कहते हैं यह उसीका नामान्तर है। इसके सिवा उदासीनकारण और प्रेरककारणमें अन्य कोई विशेपता हो ऐसा नहीं है। अर्थात् प्रेरककारण उपादान कारणके अभावमें बलात् कार्यको उत्पन्न करता हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादानकारण अपने कार्यको उत्पन्न करता है तब जो आश्रय कारण होता है वह उदासीन कारण कहलाता है और जो अपनी ईरण (गति) क्रियाकी प्रकृष्टताके द्वारा दूसरेके गतिपरिणाममें हेतु होता है वह प्रेरककारण कहलाता है। धर्मादिक द्रव्य स्वयं निष्क्रिय हैं, इसलिए उनमें तो गतिक्रिया सम्भव ही नहीं है। जिनमें गतिक्रिया होती भी है उनमें भी यदि वे अपनी गतिक्रियाके द्वारा किसी कार्यमें निमित्त नहीं होते तो वे भी उस समय उदासीन कारण ही कहलाते हैं और यदि अपनी गतिक्रियाके द्वारा वे अन्यके गति परिणाममें निमित्त होते हैं तो उस समय उनमें एक साथ होनेवाले गतिपरिणामको देखकर प्रेरक कारण शब्दका व्यवहार किया जाता है। जैनदर्शनमें इसके सिवा प्रेरककारणका अन्य कोई अर्थ नहीं है।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि यदि प्रेरककारणका उक्त अर्थ लिया जाता है तो आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतके बन्धाधिकारमें

आत्माको रागादिरूपसे परिणमन करानेवाला अन्य द्रव्य है ऐसा क्यों कहा ? वे कहते हैं :—

> जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमाईहिं ।
> रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
>
> एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
> राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥

जैसे शुद्ध स्फटिकमणि रागादिरूप (ललाई आदिरूप) से स्वयं नहीं परिणमता है किन्तु वह अन्य रक्तादि द्रव्योंसे रक्त किया जाता है वैसे ही शुद्ध ज्ञानी जीव रागादिरूपसे स्वयं नहीं परिमणता है किन्तु अन्य रागादि दोषोंसे वह रागी किया जाता है ॥ २७८-२७९ ॥

आचार्य अमृतचन्द्रने अपनी टीकामें इसका समर्थन करते हुए अन्तमें उसे वस्तुस्वभाव बतलाया है। वे एक कलश द्वारा उक्त अर्थका समर्थन करते हुए कहते हैं :—

> न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
> तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि स्वयं अग्निरूप परिणामको नहीं प्राप्त होता उसी प्रकार आत्मा कभी भी स्वयं रागादिके निमित्त-भावको नहीं प्राप्त होता। किन्तु जिस प्रकार सूर्यकान्तमणिके अग्निरूपसे परिणमन करनेमें सूर्यकिरणोंका सम्पर्क निमित्त है उसी प्रकार आत्माके रागादिरूपसे परिणमन करनेमें पर द्रव्यका संग ही निमित्त है। यदि कहा जाय कि ऐसा क्यों होता है तो उसका समाधान यह है कि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है जो सदा प्रकाशमान है ॥१७५॥

यह केवल आचार्य अमृतचन्द्रका ही कथन हो सो बात नहीं है। किन्तु जैनदर्शनको सर्वप्रथम मूर्तरूप देनेवाले आचार्य समन्तभद्र भी इस वस्तुत्वभावको स्वीकार करते हुए स्वरचित स्वयम्भूस्तोत्रमें कहते हैं :—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥

कार्योंमें जो यह बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता है वह आपके मतमें द्रव्यगत स्वभाव है, अन्यथा अर्थात् ऐसा नहीं मानने पर जीवोंकी मोक्षविधि ही नहीं बनती। इसीसे ऋषि अवस्थाको प्राप्त हुए आप बुधजनोंके अभिवन्द्य हैं ॥६०॥

इस प्रकार विविध आचार्योंके इस कथन पर दृष्टिपात करनेसे प्रतीत होता है कि विवक्षित द्रव्यके क्रियाव्यापारमें तद्भिन्न द्रव्यका सहक्रिय होना प्रेरककारणका अर्थ नहीं है, किन्तु विवक्षित द्रव्यको बलात् परिणमा देना यह प्रेरक कारणका अर्थ है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र न तो निमित्तकारणके लिए 'परिणमाता है' जैसे शब्दका प्रयोग करते और न ही इसे वस्तुस्वभाव बतलाते। अतः प्रकृतमें प्रेरककारणका यही अर्थ करना चाहिए कि जो तद्भिन्न अन्य द्रव्यको बलात् परिणमा देता है उसकी प्रेरककारण संज्ञा है।

यह एक प्रश्न है। उसका समाधान यह है कि प्रकृतमें आचार्य कुन्दकुन्दने यद्यपि रागादि द्रव्यकर्मरूप निमित्तोंके लिए 'परिणमाता है' जैसे शब्दका प्रयोग किया है यह सच है परन्तु प्रयोजन विशेषसे किया गया यह उपचार कथन ही है। फिर भी इसे परमार्थभूत मानकर इसका अर्थ यदि कोई बलात् परिणमाना करता है तो उसकी यह महान् भूल है, क्योंकि उक्त उल्लेखका यह

अर्थ करनेपर न तो संसारी जीवके कभी भी रागादि द्रव्यकर्मोंका अभाव बनेगा और न वह (सदा द्रव्यकर्मका सद्भाव रहनेसे) मुक्तिका पात्र हो सकेगा। यदि कहो कि यदि ऐसी बात है तो प्रकृतमें आचार्य कुन्दकुन्दने द्रव्यकर्मरूप निमित्तोंको परिणमानेवाला क्यों कहा तो उसका समाधान यह है कि कोई भी जीव अकेला विभाव पर्यायरूपसे परिणमन नहीं करता किन्तु उसकी वह पर्याय उसमें निमित्त होनेवाले ऐसे अन्य द्रव्यके सद्भावमें ही होती है जिसकी उक्त अवस्थाके होनेमें पहले जीवका विभाव परिणाम निमित्त हुआ है। स्पष्ट है कि जीवको विभाव पर्याय और पुद्गलकर्म इन दोनोंके मध्य इस विशेषताको दिखलानेके लिए ही उन्होंने प्रकृतमें उक्त प्रकारका वचन व्यवहार किया है। आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अमृतचन्द्रने जो इसे द्रव्यगत स्वभाव कहा है सो उसका तात्पर्य भी यही है। वे इसे द्रव्यगत स्वभाव कहकर यह बतला रहे हैं कि जीवद्रव्यकी अनादिकालसे प्रति समय बन्ध पर्यायरूप जो विभाव पर्याय होती है और पुद्गलोंकी क्वचित् कदाचित् या अनादि कालसे प्रति समय जो बन्ध पर्याय होती है वह अपने अपने उपादानसे बन्ध पर्यायके उपयुक्त विशेष अवस्थायुक्त निमित्तोंके सद्भावमें ही होती है। यह द्रव्यगत स्वभाव है कि जब एक द्रव्य बन्धपर्यायरूपसे परिणत होता है तब उसके वैसा होते समय अन्य द्रव्य स्वयमेव निमित्त होते ही हैं। आचार्य समन्तभद्रने पूर्वोक्त श्लोकमें इस द्रव्यगत स्वभावका कथन करनेके बाद जो यह कहा है कि यदि ऐसा नहीं माना जाता है तो जीवोंकी मोक्षविधि नहीं बन सकेगी सो उनका यह कथन भी उक्त अर्थको ही चरितार्थ करता है। उनके कहनेका आशय यह है कि बन्धपर्यायरूपसे परिणत होना स्वयं

उपादानका कार्य होकर भी वह निमित्तके सद्भावमें ही होता है। अन्यथा अर्थात् केवल उपादान और केवल निमित्तसे बन्धपर्याय के माननेपर इस जीवको कभी भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं बन सकेगी। यतः यह जीव अनादिकालसे बद्ध है और काललब्धि आदिके मिलनेपर वह मुक्त होता है अतः जहाँ तक बन्धपर्याय है वहाँ तक उसका अन्य द्रव्य स्वयं निमित्त है। यह द्रव्यगत स्वभाव है और जब यह जीव मुक्त होता है अर्थात् अपनी स्वभाव पर्यायको प्रकट करता है तब बन्धपर्यायके निमित्तोंका अभाव स्वयं हो जाता है और अपने उपादानके बलसे उसकी प्राप्ति होती है। संसार और मुक्तिकी व्यवस्था इसी प्रकार बन सकती है, अन्य प्रकारसे नहीं यह आचार्य समन्तभद्रके उक्त कथनका समुच्चयार्थ है।

यदि कहा जाय कि बन्धपर्यायके समान जीवकी मुक्ति भी एक कार्य है अतः मुक्तिकार्यमें निमित्तोंका अभाव क्यों स्वीकार किया जाता है। यह कहना तो ठीक है कि जिन निमित्तोंके सद्भावमें बन्धपर्याय होती है, मुक्तिपर्याय उनके अभावमें ही होगी पर मुक्तिपर्यायके होनेमें अन्य द्रव्य निमित्त ही नहीं होता यह कहना कैसे बन सकता है? समाधान यह है कि आगममें प्रत्येक द्रव्यकी स्वभाव (शुद्ध) पर्यायको परनिरपेक्ष ही बतलाया है। यहाँ पर परनिपेक्षका अर्थ यह नहीं है कि उक्त पर्यायके होनेमें काल द्रव्य भी निमित्त नहीं होता, किन्तु उसका तात्पर्य इतना ही है कि जिस प्रकार प्रत्येक समयकी बन्धपर्यायके अन्य अन्य कर्मनिषेक निमित्त होते हैं उस प्रकार स्वभावपर्यायके प्रवाहमें कालातिरिक्त कर्मोंकी निमित्तता नहीं पाई जाती। अन्यत्र जहाँ कहीं मनुष्यगति, वज्रवृषभनाराचसंहनन आदिको निमित्त कहा भी है सो वह आश्रयभूत निमित्तोंकी

विवक्षामें ही कहा है। बाह्य करणभूत निमित्तोंकी अपेक्षासे नहीं[1]। प्रत्येक द्रव्यकी वह स्वभाव पर्याय प्रथमादि किसी भी समयकी क्यों न हो पर होगी वह मात्र अपने उपादानसे ही। उसके प्रगट होनेमें अन्य द्रव्य बाह्य करण निमित्त नहीं होगा यह बात ध्रुव है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने संसारी जीवको मुक्तिकार्यकी सिद्धिके लिए निमित्तसे लक्ष्य हटाकर स्वभाव सन्मुख होनेका उपदेश दिया है। इस प्रकार इतने विवेचनसे भी यही फलित होता है कि लोकमें जिनकी प्रेरक कारण संज्ञा व्यवहृत की जाती है वे अन्य द्रव्योंके क्रियाव्यापारको अपने अनुसार उत्पन्न करते हैं इसलिए उन्हें प्रेरक कारण नहीं कहा गया है। किन्तु उनकी ईरण (गति) क्रियाकी प्रकृष्टता अन्य द्रव्योंके क्रिया व्यापारके समय बलाधानमें निमित्त होती है इस बातको ध्यानमें रखकर ही उन्हें प्रेरक कारण कहा गया है और यही कारण है कि आगममें निमित्तोंके आश्रयसे उदासीन और प्रेरक यह संज्ञाएँ रूढ़ न होकर विश्रसा और प्रायोगिक ये संज्ञाएँ व्यवहृत की गयी हैं। वहाँ विश्रसा कार्योंमें पुरुष प्रयत्न निरपेक्ष कार्योंको स्वीकार किया है और प्रायोगिक कार्योंमें पुरुष प्रयत्न सापेक्ष कार्य स्वीकार किये गये हैं। इसलिए यदि इस आधारसे निमित्त कारणोंके भेद किए भी जायगें तो वे विश्रसा निमित्त कारण और प्रायोगिक निमित्त कारण ऐसे दो भेद होंगे। पण्डित-प्रवर बनारसीदासजीने स्वरचित समयसार नाटकके सर्वविशुद्धि ज्ञानाधिकारमें जो प्रेरक कारणोंका निषेध किया है वह इसी अभिप्रायसे किया है। वे कहते हैं :—

---

१. यहाँ पर सिद्ध जीवको गतिमें धर्मद्रव्य, स्थितिमें अधर्म द्रव्य और अवगाहनमें आकाशद्रव्य निमित्त हैं पर उसके कथनकी विवक्षा नहीं की है।

कोऊ शिष्य कहे स्वामी राग-द्वेष परिणाम।
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है॥
पुद्गल करम जोग किधौं इन्द्रनिकौ भोग।
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है॥
गुरु कहैं छहौं दर्व अपने अपने रूप।
सबनि कौ सदा असहायी परिनौन है॥
कोऊ दरव काहूकौं न प्रेरक कदाचि तातैं।
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६१॥

वे इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पुनः कहते हैं :—

कोऊ मूरख यों कहै राग-द्वेष परिणाम।
पुद्गलकी जोरावरी वरतै आतमराम॥६२॥
ज्यों ज्यों पुद्गल बल करै धरि धरि कर्मज भेष।
राग दोषको परिणमन त्यों त्यों होइ विशेष॥६३॥
इहि विधि जो विपरीत पख गहै सद्दहै कोइ
सो नर राग विरोधसौं कबहुं भिन्न न होइ॥६४॥
सुगुरु कहैं जगमें रहै पुद्गल संग सदीव
सहज शुद्ध परिणमनिकौ औसर लहै न जीव॥६५॥
तातैं चिद्भावनि विषै समरथ-चेतन राउ
राग विरोध मिथ्यातमें समकितमें सिव भाउ॥६६॥

पण्डितप्रवर टोडरमल्लजीने 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको नहीं परिणमाता' इसका समर्थन बड़े ही समर्थ शब्दोंमें किया है। वे मोक्षमार्ग प्रकाशक (पृ० ७५) में लिखते हैं—

बहुरि इस संसारीकै एक यह उपाय है जो आपकै जैसा श्रद्धान है

तैसें पदार्थनिकौं परिणमाया चाहै सो वे परिणमै तौ याका सांचा श्रद्धान होइ जाय। परन्तु अनादिनिधन वस्तु जुदे जुदे अपनी मर्यादा लिये परिणमै हैं। कोऊ कोऊके आधीन नाहीं। कोऊ किसीका परिणमाया परिणमै नाहीं। तिनिकौं परिणमाया चाहै सो उपाय नाहीं। यह तौ (अन्य द्रव्य बलात् प्रेरक निमित्तके द्वारा परिणमाया जाता है यह विचार तो) मिथ्यादर्शन ही है। तौ सांचा उपाय कहा है! जैसैं पदार्थनिका स्वरूप है तैसैं श्रद्धान होइ तौ सर्व दुःख दूर होनेका उपाय है। तैसैं मिथ्यादृष्टि होइ पदार्थनिकौं अन्यथा मानै अन्यथा परिणमाया चाहै तौ आप ही दुखी हो है। बहुरि उनकौं यथार्थ मानना अर ए परिणमाए अन्यथा परिणमैंगे नाहीं ऐसा मानना सो ही तिस दुःखके दूरि होनेका उपाय है। भ्रमजनित दुःखका उपाय भ्रम दूर करना ही है। भ्रम दूरि होनैतैं सम्यक् श्रद्धान होय सो ही सत्य उपाय जानना

वे उसी मोक्षमार्ग प्रकाशक (पृ० ३६१)में पुनः कहते हैं—

परद्रव्य जोरावरी तौ क्यौंइ बिगारता नाहीं। अपने भाव बिगरैं तब वह भी बाह्य निमित्त है। बहुरि वाका निमित्त बिना भी भाव बिगरै हैं तातैं नियमरूप निमित्त भी नाहीं।

ये पण्डित जीके वचन हैं। इनसे भी यही सिद्ध होता है कि लोकमें ऐसा कोई प्रेरक निमित्त नहीं है जो अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यकी उस समय न होनेवाली पर्यायको अपनी प्रेरणा द्वारा बलात् उत्पन्न कर दे। अतः पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे प्रकारके जो क्रियावान् निमित्त हैं उनमेंसे कुछकी लोकरूढ़िवश प्रेरक निमित्त संज्ञा भले ही रख ली जाय पर उनके अनुसार भी अन्य द्रव्योंका परिणमन नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका परिणमन अपने उपादानके अनुसार ही होता है।

३. अब रहे इच्छा, प्रयत्न और कारकसाकल्यके ज्ञानसे युक्त तीसरे प्रकारके निमित्त सो प्रथम तो क्रियावान् निमित्तोंको लक्ष्य कर हम जो कुछ भी लिख आये हैं वह प्रकृतमें भी पूरी तरहसे लागू होता है। यदि कहा जाय कि अन्य द्रव्योंके कार्योंके प्रति इनका प्रयत्न इच्छा पूर्वक होता है तो यहां यह देखना होगा कि ये अपनी इच्छापूर्वक प्रयत्न द्वारा किस प्रकारके कार्यके उत्पन्न होनेमें प्रेरक कारण हैं। क्या जो द्रव्य विवक्षित कार्यरूपसे परिणाम रहा है उसके कार्यरूपसे परिणमन करनेमें प्रेरक कारण हैं या जो द्रव्य विवक्षित कार्यरूपसे नहीं परिणाम रहा है उसे विवक्षित कार्यरूपसे परिणमानेमें प्रेरक कारण हैं ? प्रथम पक्षके स्वीकार करने पर तो इनकी रंचमात्र भी प्रेरकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जो द्रव्य स्वयं विवक्षित कार्यरूपसे परिणमन कर रहा है उसनें उन्होंने क्या किया, अर्थात् कुछ भी नहीं किया। दूसरे पक्षके स्वीकार करने पर देखना होगा कि जो द्रव्य स्वयं विवक्षित कार्यरूपसे नहीं परिणाम रहा है उसे क्या ये विवक्षित कार्यरूपसे परिणमा सकते हैं ? उदाहरणार्थ हम यव बीजको लें। हमारी इच्छा है कि इससे गेहूंका पौधा उग आवे। तो क्या हमारे चाहनेमात्रसे या इच्छानुसार प्रयत्न करनेसे ऐसा हो जायगा ? प्रेरक निमित्त वादी कहेगा कि ऐसा कैसे हो सकता है ? तो हम पूछते हैं कि जब यव बीजसे गेहूंका पौधा नहीं उग सकता ऐसी अवस्थामें आप ऐसा क्यों मानते हैं कि जैसा हम चाहते हैं वैसा अन्य द्रव्यको परिणमा लेते हैं।

प्रेरक निमित्तवादी कहेगा कि हमारी मान्यताका आशय यह है कि विवक्षित द्रव्यसे कार्य तो उसीके अनुरूप होगा पर हम

वह कार्य आगे पीछे हो यह कर सकते हैं। उदाहरणार्थ जो आमका फल १५ दिन बाद पकेगा उसे हम प्रयत्न विशेषसे १५ दिन पहले पका सकते हैं या जो फल ४ दिन बाद नष्ट होनेवाला है उसे हम प्रयत्न विशेषसे चार माह तक रक्षित रख सकते हैं; यही हमारी या अन्य निमित्तोंकी प्रेरकता है। परन्तु जब प्रेरक निमित्तवादीके इस कथन पर विचार करते हैं तो इसमें रंचमात्र भी सार प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार तिर्यक्प्रचयरूपसे अवस्थित द्रव्यका एक प्रदेश उसीके अन्य प्रदेशरूप नहीं हो सकता, एक गुण अन्य गुणरूप नहीं हो सकता अथवा एक द्रव्यके प्रदेश अन्य द्रव्यके प्रदेशरूप नहीं हो सकते या एक द्रव्यके गुण अन्य द्रव्यके गुणरूप नहीं हो सकते उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यकी ऊर्ध्व प्रचयरूपसे अवस्थित पर्यायोंमें भी परिवर्तन होना सम्भव नहीं है। प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्य पर्यायें और गुण-पर्यायें तुल्य हैं। उनमेंसे जिस पर्यायका जो स्वकाल है उसके प्राप्त होने पर ही वह पर्याय होती है।

यद्यपि ऊपरी दृष्टिसे विचार करनेपर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जो आम्रफल पन्द्रह दिन बाद पकनेवाला था उसे हमने प्रयोग विशेषसे १५ दिन पहले पका लिया। पर विचार तो कीजिये कि इन पन्द्रह दिनोंके भीतर जो उस आम्रफलकी पर्यायें होनेवाली थीं जो कि आपके प्रयोग विशेषसे नहीं हुईं उनका क्या हुआ, वे बिना हुए ही अतीत हो गईं या आगे होंगी? बिना हुए वे अतीत हो गईं यह कहना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि जो वस्तु हुई नहीं वह अतीत कैसे हो सकती है? आगे होंगी यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर किसी भी पर्यायका स्वकाल नहीं बन सकेगा। यह केवल एक पर्यायका प्रश्न नहीं

है किन्तु उसके बाद आनेवाली अनन्त पर्यायोंका प्रश्न है, क्योंकि किसी एक विवक्षित पर्यायके स्वकालमें न होनेसे सभी जीवों और पुद्गलोंकी पर्यायोंके स्वकालका नियम नहीं रहता। इतना ही नहीं किन्तु अकालपाक आदिके आश्रयसे जिन पर्यायोंका हम बीचमें नहीं होना मान लेते हैं उनका अभाव हो जानेसे सब द्रव्योंकी पर्यायें काल द्रव्यकी पर्यायोंके समान हैं यह व्यवस्था विघटित हो जाती है जो कि युक्त नहीं है। जब कि यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रत्येक कार्यका उत्पाद अपने अपने उपादान के अनुसार ही होता है ऐसी अवस्थामें इन निमित्तोंके अनुसार भी आगे पीछे कार्योंका परिणमन मानना नितान्त असंगत है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें कहा है :—

अण्णदविएण अण्णदव्वस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुण (विशेषता) का उत्पाद नहीं किया जा सकता, इसलिये सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावसे उत्पन्न होते हैं ॥३७२॥

इस प्रकार उपादानकारण और निमित्तकारणका स्वरूप क्या है और उनका प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें क्या स्थान है इसका विचार किया।
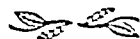
कर्तृकर्ममीमांसा

कर्ता परिणामी द्रव्य कर्मरूप परिणाम।
होता है निजमें सदा परका नहिं कुछ काम ॥

वस्तुस्वरूपके विचारके साथ निमित्त-उपादानका भी विचार किया। अब कर्तृ-कर्मकी मीमांसा करनी है। उसमें यह बात तो स्पष्ट है कि जो भी कार्य होता है वह स्वयं कर्म संज्ञाको प्राप्त होता है इसमें किसीको विवाद नहीं है। जो भी विवाद है वह कर्ताके सम्बन्धमें ही है, अतएव मुख्यरूपसे इसीका विचार करना है। जो स्वतन्त्ररूपसे कार्य करे वह कर्ता, कर्ताका सामान्य रूपसे यह अर्थ स्पष्ट होने पर भी उसके विशेष अर्थमें मतभेद है, अतएव इसीका निर्णय यहाँ पर करना है। इसकी मीमांसाको आगे बढ़ानेके लिये सर्वप्रथम हम नैयायिक दर्शनको लेते हैं। नैयायिक दर्शनमें कारण द्रव्य परमाणु आदिसे कार्यद्रव्य द्व्यणुक आदिका सर्वथा भेद मानकर परमाणुरूप कारण द्रव्यको सर्वथा नित्य[1] और कार्यद्रव्यको सर्वथा अनित्य माना गया है, इसलिये उनके मतमें यह प्रश्न ही नहीं उठता कि दो परमाणु स्वयं अपनी अपनी उपादानगत योग्यतासे परिणमनकर द्व्यणुक बन जावेंगे, क्योंकि जब वे सर्वथा नित्य हैं और उनमें शक्तिरूपसे भी कार्य

---

१. कपालद्वयसे समवेत घटकी उत्पत्तिमें घट कपालद्वयका परिणाम नहीं है, इसलिए वे कार्यरूपसे अनित्य होने पर भी कार्यके प्रति अपरिणामी ही हैं। यही बात अन्य समवायी कारणोंके विषयमें भी जान लेनी चाहिए।

सर्वथा असत् है तब वे द्व्यणुकरूप कैसे परिणमन कर सकते हैं। उनसे समवेत होकर द्व्यणुक कार्यकी उत्पत्ति करनेवाला कोई दूसरा कारण होना चाहिये जो उसकी उत्पत्ति करता है। वह अज्ञानी तो हो नहीं सकता, क्योंकि जब तक उसे कारण साकल्यका ज्ञान न होगा तब तक वह द्व्यणुक कार्यके समवायी, असमवायी और निमित्त कारणोंका संयोजन कैसे करेगा। उसे प्राणियोंके अदृष्टका भी विचार करना होगा। वह चिकीर्षा (करनेकी इच्छा) से रहित भी नहीं हो सकता, क्योंकि कारकसाकल्यका ज्ञान होने पर भी जब तक उसे द्व्यणुक बनानेकी इच्छा नहीं होगी तब तक वह उस कार्यको कैसे कर सकेगा। वह प्रयत्नसे रहित भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसे कारकसाकल्यका ज्ञान और बनानेकी इच्छा होने पर भी जब तक वह द्व्यणुक बनानेके उपक्रममें नहीं लगेगा तबतक द्व्यणुक कार्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकेगी। इसलिए इस मतकी मान्यता है कि जो कारकसाकल्यका ज्ञान रखता है, जो कार्य करनेकी इच्छासे युक्त है और जो कार्य करनेके प्रयत्नमें लगा हुआ है ऐसा व्यक्ति ही उस कार्यका कर्ता हो सकता है। समवायी कारण स्वयं अपरिणामी हैं, इसलिए इस दर्शनमें उक्त विशेषताओंसे युक्त व्यक्ति कर्ता माना गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यद्यपि सचेतन अन्य मनुष्यादिमें भी ये तीन विशेषताएँ देखी जाती हैं, परन्तु उन्हें अदृष्ट और परमाणु आदिका पूरा ज्ञान न होनेसे वे कर्ता नहीं हो सकते। अतः इस दर्शनमें कर्तारूपसे अलगसे एक अनादि ईश्वरकी सृष्टि की गई है। एक बात और है जो यहाँ विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। यद्यपि इस बातका निर्देश हम प्रारम्भमें ही कर आये हैं, परन्तु प्रयोजन विशेषके कारण यहाँ पर हम उसका पुनः उल्लेख कर रहे हैं। वह यह

कि परमाणु आदि कारण सामग्री स्वयं अपरिणामी होती है अतः उसके स्वयं कार्यरूपसे परिणत न होनेके कारण वह अपनी प्रेरणा-वश उनसे समवेत कार्यकी उत्पत्ति करता है, इस लिए वह सब कार्योंका प्रेरक निमित्त कारण होता है। अन्य जितने दिशा, काल और आकाश आदि अचेतन और मनुष्यादि सचेतन पदार्थ होते हैं वे सब निमित्त होकर भी प्रेरक निमित्त नहीं होते। इस प्रकार इस दर्शनमें तीन प्रकारके कारण माने गये हैं—समवायीकारण, असमवायीकारण और निमित्तकारण। निमित्त-कारणोंके दो भेद हैं—प्रेरकनिमित्तकारण और इतरनिमित्तकारण। प्रेरकनिमित्तकारण ईश्वर है और शेष इतरनिमित्तकारण हैं। यद्यपि कुम्हार आदि घटादि कार्योंके सृजनमें प्रेरक निमित्तरूपसे प्रतीत होते हैं ऐसा कहा जाता है परन्तु यह सब कथनमात्र है, क्योंकि ईश्वरकी इच्छासे प्रेरित होकर ही वे घटादि कार्योंके होनेमें निमित्त होते हैं, स्वयं स्वतन्त्ररूपसे वे घटादि कार्योंको नहीं कर सकते, इसलिए वस्तुतः इस दर्शनमें प्रेरक निमित्त-कारण एकमात्र ईश्वर ही माना गया है, क्योंकि वही प्राणियोंके अदृष्ट आदिका विचार कर स्वतन्त्ररूपसे कार्योंकी सृष्टि करता है। जैसा कि उनके यहाँ वचन है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

यह जन्तु अज्ञ है और अपने सुख दुखका अनीश है, इसलिए ईश्वरसे प्रेरित होकर स्वर्ग जाता है या नरक जाता है।

इसलिए नैयायिक दर्शनमें कर्ताका जो लक्षण किया गया है वह इस प्रकार है—

ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारता हि कर्तृत्वम्।

जो ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्नका आधार है वह कर्ता है।

यद्यपि यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब ईश्वर सब कार्योंका प्रेरक कर्ता है तब वह सब प्राणियोंकी सृष्टि, सुख-दुख और भोग एक प्रकारके क्यों नहीं बनाता, परन्तु इस प्रश्न के उत्तरमें उस दर्शनका यह वक्तव्य है कि ईश्वर सुख-दुख और भोगसामग्री जो भी बनाता है वह सब प्राणियोंके अदृष्टके अनुसार ही बनाता है। लोकमें द्व्यणुकसे लेकर ऐसा एक भी कार्य नहीं है जो प्राणियोंके अदृष्टकी सहायताके बिना बनाया जाता हो और अदृष्ट स्वयं अचेतन है, इसलिए वह कर्ता नहीं हो सकता। वह चेतनाधिष्ठित होकर ही कार्य करनेमें प्रवृत्त होता है और अपने आत्माको उसका अधिष्ठाता मानना ठीक नहीं है, क्योंकि उसे अदृष्ट और परमाणु आदिका ज्ञान नहीं होता, इसलिए इस दर्शनके अनुसार निखिल जगत्का कर्ता एक ईश्वर ही हो सकता है, क्योंकि कर्ताका पूरा लक्षण उसीमें घटित होता है।

यह नैयायिकदर्शनका हार्द है। और भी जितने ईश्वरवादी दर्शन हैं उनका भी लगभग यही मत है। प्रकृतमें विशेष प्रयोजनीय न होनेसे हम अन्य दर्शनोंकी यहाँ मीमांसा नहीं करेंगे।

अब इसके प्रकाशमें जैनदर्शनके मन्तव्यों पर विचार कीजिए। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि इस दर्शनके अनुसार सब द्रव्य स्वभावसे परिणामी नित्य हैं। प्रत्येक समयमें द्रव्यकी एक पर्यायका व्यय होना और नवीन पर्यायका उत्पाद होना यह उसका परिणामस्वभाव है। तथा अपनी सब पर्यायोंमें से जाते हुए अन्वयरूपसे उसका स्थित रहना यह उसका नित्य स्वभाव है। जैनदर्शनके अनुसार कोई द्रव्य न तो सर्वथा नित्य

है और न सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है, इसलिए वह प्रत्येक समयमें नित्यानित्यस्वभावको लिए हुए है। ऐसा नियम है कि प्रत्येक द्रव्यमें षड्स्थानपतित हानि और षड्स्थानपतित वृद्धिरूपसे प्रवर्तमान अनन्त अगुरुलघु गुण (अविभागप्रतिच्छेद) होते हैं जिनके कारण छहों द्रव्योंका स्वभावसे उत्पाद और व्यय होता रहता है। जो वर्तमानमें अशुद्ध द्रव्य हैं उनमें भी यह उत्पाद-व्यय होता है और जो शुद्ध द्रव्य हैं उनमें भी यह उत्पाद-व्यय होता है। इतना अवश्य है कि अशुद्ध द्रव्योंके प्रत्येक समयमें होनेवाले उत्पाद-व्ययके अन्य अन्य निमित्त होते हैं। उदाहरणार्थ विवक्षित समयमें जीवका जो क्रोध परिणामका उत्पाद हुआ है उसमें क्रोध संज्ञावाले जो कर्मनिषेक निमित्त होते हैं वे कर्मनिषेक दूसरे समयमें होनेवाले जीवके क्रोधपरिणाममें निमित्त नहीं होते। उस समयके जीवके क्रोधपरिणाममें निमित्त होनेवाले क्रोधसंज्ञावाले कर्मनिषेक दूसरे हैं। यह निमित्त-नैमित्तिकक्रमपरम्परा जिस प्रकार संसारी जीवोंके प्रत्येक समयके जीवनप्रवाहमें चरितार्थ है उसी प्रकार पुद्गल स्कन्धोंमें भी घटित कर लेनी चाहिए, क्योंकि पुद्गलस्कन्धोंमें भी प्रति समय नये पुद्गलोंका संयोजन और पुराने पुद्गलोंका वियोजन होता रहता है जो परस्पर द्रव्य और अर्थरूप नई पर्यायके होनेमें निमित्त होते रहते हैं। अर्थात् पुराने परमाणुओं-की निर्जराको निमित्त कर उस स्कन्धमें अपने उपादानके अनुसार अन्य स्पर्श पर्यायका उदय होता है और उस स्पर्श पर्यायको निमित्त कर नये परमाणुओंका बन्ध होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। परन्तु इतनेमात्रसे इन द्रव्योंका प्रत्येक समयमें जो उत्पाद व्यय होता है उसके कर्ता ये निमित्त हैं ऐसा नहीं माना

जा सकता। उत्पाद-व्यय तो तब भी होता है जब ये निमित्त होते हैं और शुद्धदशामें जब ये निमित्त नहीं होते तब भी वह होता रहता है। पर्यायरूपसे प्रत्येक द्रव्यका उत्पन्न होना और नष्ट होना यह उसका अपना स्वभाव है। जिसमें षड्स्थानपतित हानि और षड्स्थानपतित वृद्धिरूपसे प्रवर्तमान अनन्त अगुरुलघु गुण प्रयोजक हैं। हम इतना जानकर कि अशुद्ध द्रव्योंमें निमित्त बदलनेके साथ पर्याय बदलती है दूसरे द्रव्यकी उस पर्यायको निमित्तका कार्य माननेकी चेष्टा करते हैं परन्तु इस बातका विचार नहीं करते कि क्या वह द्रव्य उस समय अनन्त अगुरुलघु गुणोंके आलम्बनसे होनेवाले अपने परिणाम स्वभावको छोड़ देता है? यदि नहीं छोड़ता है तो विचार कीजिए कि उस समय होनेवाली वह पर्याय निमित्तका कार्य कैसे कहा जा सकता है? साथ ही निमित्तको नैमित्तिक पर्यायोंका कर्त्ता माननेसे जो यह आपत्ति आती है कि इस प्रकार तो निमित्त एक साथ दो द्रव्योंकी दो पर्यायोंका कर्त्ता हो जायगा उसका वारण कैसे किया जा सकेगा। आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें ऐसे मनुष्यको जो निमित्तको नैमित्तिकपर्यायका कर्त्ता मानता है द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि कहा है सो ठीक ही कहा है। वे कहते हैं—

> जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
> दोकिरियावदिरित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥८५॥

यदि आत्मा इस पुद्गल कर्मको करे और उसीको भोगे तो वह आत्मा दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरता है जो जिनदेवके सम्यक् मतसे बाहर है ॥८५॥

वह जिनदेवके सम्यक् मतसे बाहर कैसे है इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं—

कथञ्चित् अभिन्न माना गया है। साथ ही द्रव्यदृष्टिसे यह कारणमें कार्यका कथञ्चित् सत्त्व स्वीकार करता है, इसलिए इस दर्शनमें कार्यरूप परिणत हुआ द्रव्य ही उसका कर्ता हो सकता है, अन्य द्रव्य नहीं। यही कारण है कि इस दर्शनमें कर्ताका लक्षण नैयायिक दर्शनके समान न करके 'जो परिणमन करता है वह कर्ता है' यह किया गया है। समयप्राभृतके कलशोंमें इस विषयको स्पष्ट करते हुए बतलाया है—

> यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
> या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥
>
> एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
> एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥
>
> नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
> उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥
>
> नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
> नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

जो परिणमता है वह कर्ता है, जो परिणाम होता है वह कर्म है और जो परिणति होती है वह क्रिया है। ये तीनों ही वास्तवमें भिन्न नहीं हैं ॥५१॥ सदा एक द्रव्य परिणमता है, सदा एकका परिणाम होता है और सदा एककी परिणति होती है, क्योंकि कर्ता, कर्म और क्रियाके भेदसे वह अनेक होकर भी एक ही है ॥५२॥ नियमसे दो पदार्थ मिलकर परिणमन नहीं करते, दोका मिलकर एक परिणाम नहीं होता और दोकी मिलकर एक परिणति नहीं होती, क्योंकि अनेक सदा अनेक ही हैं ॥५३॥ नियमसे एक कर्मके दो कर्ता नहीं होते, एक कर्ताके दो कर्म नहीं

होते और परिणमन करते हुए एक द्रव्यकी दो क्रियायें नहीं होतीं, क्योंकि एक अनेक नहीं होता ॥५४॥

पण्डितप्रवर बनारसीदासजी इसी विषयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

कर्ता परिणामी द्रव्य कर्मरूप परिणाम।
क्रिया पर्यायकी फेरनी वस्तु एक त्रय नाम ॥ ७ ॥

कर्ता कर्म क्रिया करे क्रिया कर्म कर्तार।
नाम भेद बहुविधि भयो वस्तु एक निर्धार ॥ ८ ॥

एक कर्म कर्तव्यता करे न कर्ता दोय।
दुधा द्रव्य सत्ता सु तो एक भाव क्यों होय ॥ ९ ॥

इसी विषयको और स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—

एक परिणामके न करता दरब दोय, दोय परिणाम एक द्रव्य न धरत है।
एक करतूति दोय द्रव्य कबहूँ न करे, दोय करतूति एक द्रव्य न करत है ॥
जीव पुद्गल एक खेत अवगाहि दोऊ, अपने अपने रूप कोऊ न टरत है।
जड़ परिणामनिको करता है पुद्गल, चिदानन्द चेतन स्वभाव आचरत है

यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं परिणमता है यह वस्तु मर्यादा है तब परसमय (मिथ्यादृष्टि) को पुद्गल कर्मप्रदेशोंमें स्थित क्यों कहा गया है? यह एक प्रश्न है। समाधान यह है कि चाहे मिथ्यादृष्टि जीव हो और चाहे सम्यग्दृष्टि जीव हो वे सदाकाल अपने-अपने स्वरूप चतुष्टयमें ही अवस्थित रहते हैं। उसे छोड़कर वे अन्य द्रव्यके स्वरूपचतुष्टयरूप त्रिकालमें नहीं होते। फिर भी जो यह कहा जाता है कि मिथ्यादृष्टि जीव पुद्गलकर्मप्रदेशोंमें अवस्थित रहते हैं सो यह कथन मिथ्यादृष्टिकी मान्यताको दिखलानेके लिए

ही किया गया है। अपने अज्ञानके कारण मिथ्यादृष्टि जीवको स्वपरका भेदविज्ञान न होनेके कारण सदाकाल ऐसी मान्यता बनी रहती है जिससे वह स्व क्या और पर क्या इसकी पहचान करनेमें सर्वथा असमर्थ रहता है और इसीलिए उसे पुद्गल कर्मप्रदेशोंमें अवस्थित कहा गया है। वस्तुतः विचारकर देखा जाय तो दो द्रव्य मिलकर न तो कभी एक होते हैं, और न कभी उनका मिलकर एक परिणाम होता है और न कभी वे एक दूसरेके परिणामको उत्पन्न ही कर सकते हैं। इन्हीं सब बातोंका ऊहापोहकर आचार्य कुन्दकुन्द सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारमें कहते हैं—

> दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
> जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३०८॥
>
> जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
> तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥३०९॥
>
> ण कुदो चि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
> उप्पादेदि ण किं चि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥३१०॥
>
> कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
> उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥

जिस प्रकार लोकमें कटक आदि पर्यायरूपसे उत्पन्न होता हुआ सुवर्ण उनसे अभिन्न है उसी प्रकार जो द्रव्य अपने जिन गुणों (विशेषताओं) को लेकर उत्पन्न होता है उसे उनसे अभिन्न जानो। सूत्रमें जीव और अजीवके जो परिणाम कहे गये हैं उनसे उस जीव और अजीवको अभिन्न जानो। यतः वह आत्मा अन्य किसीसे भी उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिए वह अन्य किसीका कार्य नहीं है और वह अन्य किसीको उत्पन्न नहीं

करता है, इसलिए वह अन्य किसीका कारण भी नहीं है, क्योंकि नियमसे कर्मकी अपेक्षा कर्ता होता है और कर्ताकी अपेक्षा कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है। अन्य प्रकारसे कर्ता-कर्मकी सिद्धि नहीं देखी जाती ॥ ३०८-३११ ॥

इस प्रकार जैनदर्शनके अनुसार कर्ता किसे कहते हैं और कर्म किसे कहते हैं तथा उन दोनोंका परस्पर क्या सम्बन्ध है इसका स्पष्ट बोध हो जानेपर भी जो महानुभाव इस तथ्यको हृदयंगम न करके उपादानके समान निमित्तको भी कर्ता मानते हैं उन्हें यहाँ सर्व प्रथम कुछ शास्त्रीय उदाहरण देकर शास्त्रोंमें निमित्तोंका प्रयोग कितने अर्थोंमें किया गया है इसकी जानकारी करा देना उचित प्रतीत होता है। यथा—

कहींपर उसका कथन निमित्त शब्द द्वारा ही किया गया है। यथा—

आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः।

आयु नामकर्मका उदय है निमित्त जिसमें ऐसी आत्माकी पर्याय भव कहलाती है।

[त० सू०, अ० १, सूत्र २१ सर्वार्थसिद्धि]

कहींपर उसका कथन आलम्बन परक किया गया है। यथा—

वीर्यान्तरायमनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामालाभावष्टम्भादात्मनः परकीयमनःसम्बन्धेन लब्धवृत्तिरुपयोगो मनःपर्ययः।

वीर्यान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशम और आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके लाभके आलम्बनसे आत्माके परकीय मनके सम्बन्धसे लब्धवृत्ति उपयोगको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं—

[त० सू०, अ० १, सूत्र २३, सर्वार्थसिद्धि]

कहींपर उसका कथन हेतुपरक किया गया है। यथा—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।

जीवके परिणामोंको हेतु करके पुद्गल कर्मरूपसे परिणमन करते हैं।

[समयप्राभृत गाथा ८०]

कहींपर उसका कथन आश्रयपरक किया गया है। यथा—

गतिपरिणामिनां जीव-पुद्गलानां गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकायः साधारणाश्रयो जलवन्मत्स्यगमने।

जिस प्रकार मछलीके गमनमें जल साधारण आश्रय है उसी प्रकार गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंका गमनरूप उपग्रह कर्तव्य होनेपर धर्मास्तिकाय साधारण आश्रय है।

[त० सू०, अ० ५, सू० १७ सर्वार्थसिद्धि]

कहींपर उसका कथन प्रेरणापरक किया गया है। यथा—

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी।

उस सामर्थ्यसे युक्त क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल वचनरूपसे परिणमन करते हैं इसलिए द्रव्यवचन भी पौद्गलिक है।

[त० सू०, अ० ५, सू० १९ सर्वार्थसिद्धि]

कहींपर उसका कथन अधिकरणपरक किया गया है। यथा—

अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः।

अनुग्राहकके सम्बन्धका विच्छेद होने पर वैक्लव्यरूप परिणामविशेषका नाम शोक है।

[त० सू०, अ० ६, सूत्र ११ सर्वार्थसिद्धि]

कहीं पर उसका कथन साधन परक किया गया है यथा—

साधनं द्विविधम्—आभ्यन्तरं बाह्यं च। आभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। बाह्यं नारकाणां प्राक् चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषाञ्चित् जातिस्मरणम्...... ।

साधन दो प्रकारका है—आभ्यन्तर और बाह्य। दर्शनमोनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम आभ्यन्तर साधन है। नारकियोंका चौथी पृथिवीसे पहले बाह्य साधन किन्हींका जातिस्मरण है........ ।

[त० सू०, अ० १, सूत्र ७ सर्वार्थसिद्धि]

कहीं पर उसका कथन उत्पादक और कर्तापरक किया गया है। यथा—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीव घटको नहीं करता, पटको नहीं करता और शेष द्रव्योंको भी नहीं करता। योग और उपयोग उनके उत्पादक हैं तथा योग और उपयोगका कर्ता आत्मा है ॥१००॥

[समयप्राभृत गाथा १००]

और भी—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।

चार सामान्य प्रत्यय बन्धके कर्ता कहे गये हैं।

[समयप्राभृत गाथा १०९]

कहीं पर उसका कथन हेतुकर्तापरक किया गया है। यथा—

यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते उपाध्यायोऽध्यापयतीति ? नैव दोषः, निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता।

शंका—यदि ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य प्राप्त होता है। जैसे शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढ़ाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्ता व्यपदेश देखा जाता है। जैसे कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है। उसी प्रकार कालद्रव्य हेतुकर्ता है।

[त० सू०, अ० ५, सूत्र २२ सर्वार्थसिद्धि]

और भी

यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः।

जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओंके गतिपरिणामका कर्ता दिखाई देता है उस प्रकार धर्मद्रव्य नहीं।

[पंचास्तिकाय गाथा ८८ टीका]

कहीं पर उसका कथन निमित्तकर्तापरक किया गया है। यथा—

अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ...।

अनित्य योग और उपयोग ही वहाँ पर निमित्तरूपसे कर्ता हैं।

[समयप्रा० गा० १०० आत्मख्याति टी०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रोंमें निमित्तकारणका निमित्त, आलम्बन, साधन, हेतु, प्रत्यय, कारण, प्रेरक,

उत्पादक, कर्ता, हेतुकर्ता और निमित्तकर्ता इत्यादि विविधरूपसे कथन किया गया है। तथा अधिकरण और आश्रय अर्थमें भी इसका प्रयोग हुआ है। जिन्हें उदासीन निमित्त कहा जाता है उनके अर्थमें भी इन शब्दोंका प्रयोग हुआ है और जिन्हें प्रेरक कारण कहा जाता है उनके अर्थमें भी इन शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इन शब्दोंके प्रयोग करनेमें एकादि स्थलको छोड़कर किसी प्रकारकी सीमा दृष्टिगोचर नहीं होती। इतना ही नहीं, उदासीन निमित्त कार्यकी उत्पत्तिमें किस प्रकारसे हेतु होते हैं यह समझानेके लिए जहाँ पर भी उदाहरणोंके साथ कथन किया गया है वहाँ पर वे उदाहरण क्रियावान् द्रव्योंके ही दिये गये हैं। इस परसे पूर्वाचार्य क्रियावान् द्रव्योंकी निमित्ततासे निष्क्रिय द्रव्योंकी निमित्ततामें कुछ भी अन्तर मानते रहे हैं यह बात तो समझमें आती नहीं। हम पहले तत्त्वार्थवार्तिकका एक उल्लेख उपस्थित कर आये हैं, उसमें स्पष्ट कहा गया है कि अन्तर्घटभवनरूप क्रियासे परिणत मिट्टीके होने पर चक्र, चीवर और कुम्हार निमित्तमात्र होते हैं। इस उल्लेखसे भी स्पष्ट है कि निमित्तत्वकी अपेक्षा निमित्तकरणोंकी दो जातियाँ नहीं हैं। लोकमें निष्क्रिय, सक्रिय और योग उपयोगवान् जितने भी पदार्थ अन्य द्रव्योंके कार्योंके होनेमें निमित्त होते हैं वे एक ही प्रकारसे निमित्त होते हैं। हम उन पदार्थोंकी निमित्तरूपसे निष्क्रियता और सक्रियता आदिको देखकर तदनुसार निमित्तोंके भी भेद कर लें यह अन्य बात है, पर इतनेमात्रसे उनकी निमित्ततामें कोई अन्तर आता हो यह बात नहीं है। इसलिए शास्त्रकारोंने स्थलविशेषमें लोक व्यवहार-वश निमित्तकारणके लिए कर्ता, उत्पादक निमित्तकर्ता या हेतुकर्ता जैसे शब्दोंका प्रयोग किया भी है तो इतनेमात्रसे उसे कार्यका उत्पादक नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः कार्यका उत्पादक तो

उपादान कारण ही होता है, क्योंकि विना किसीकी प्रेरणाके वह कार्यको स्वयं उत्पन्न करता है और जब उपादान कारण कार्यको स्वयं उत्पन्न करता है तब विना किसीकी प्रेरणाके अन्य द्रव्य उस कार्यमें स्वयं निमित्त होता है। उपादानको कार्यके उत्पन्न करनेमें उसकी अपनी स्वतन्त्रता है और उस कार्यमें अन्य द्रव्यके निमित्त होनेमें उसकी अपनी स्वतन्त्रता है। न तो उपादानकारण निमित्त-कारणकी स्वतन्त्रतामें व्याघात कर सकता है और न निमित्तकारण उपादानकारणकी स्वतन्त्रतामें व्याघात कर सकता है। यह क्रम अनादिकालसे इसीप्रकारसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द इन दोनोंकी स्वतन्त्रताको स्वीकार करते हुए कहते हैं—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणामदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥६१॥

आत्मा जिस भावको करता है वह उस भावका कर्ता होता है। उसके सद्भावमें पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्मरूप (ज्ञाना-वरणादि कर्मपर्यायरूप) परिणमता है ॥६१॥

तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वतन्त्ररूपसे अपने भावका कर्ता है और पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्ररूपसे अपनी कर्मपर्यायका कर्ता है। फिर भी इनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ट ३७ में कहते हैं—

इहाँ कोउ प्रश्न करै कि कर्म्म तौ जड़ हैं किछू बलवान नाहीं तिनिकरि जीवके स्वभावका घात होना वा बाह्य सामग्रीका मिलना कैसैं संभवै है। ताका समाधान—जो कर्म्म आप कर्त्ता होय उद्यमकरि जीवके स्वभावकौं घातै बाह्य सामग्रीकौं मिलावै तब तौ कर्म्मकै चैतन्यपनौ भी

चाहिए अर बलवानपनौं भी चाहिए सो तौ है नाहीं, सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब उन कर्म्मनिका उदयकाल होय तिस कालविषै आप ही आत्मा स्वभावरूप न परिणमै विभावरूप परिणमै वा अन्य द्रव्य हैं ते तैसैं ही संबंधरूप होय परिणमैं। जैसैं काहू पुरुषकै सिरपरि मोहनधूलि परी है तिसकरि सो पुरुष बावला भया। तहाँ उस मोहनधूलिकै ज्ञान भी न था अर बावलापना भी न था अर बावलापना तिस मोहनधूलि ही करि भया देखिए है। मोहनधूलिका तौ निमित्त है अर पुरुष आप ही बावला हुवा परिणमैं है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बनि रह्या है। बहुरि जैसैं सूर्यका उदयका कालविषै चकवा चकवीनिका संयोग होय तहां रात्रिविषै किसीनैं दोषबुद्धितैं जोरावरि करि जुदे किए नाहीं। दिवस विषै काहूनैं करुणाबुद्धि करि मिलाए नाहीं। सूर्य उदयका निमित्त पाय आप ही मिलें हैं अर सूर्यास्तका निमित्त पाय आप ही बिछुरै हैं ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रह्या है तैसैं ही कर्म्मका भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना।

प्रत्येक कार्यकी निष्पत्तिमें कर्ता स्वतन्त्र है इस तथ्यको भट्टाकलंकदेवने भी अपने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ११२) में स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

कर्तृत्वमपि साधारणम्, क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषां स्वातन्त्र्यात्।

कर्तृत्व भी साधारण पारिणामिक भाव है, क्योंकि क्रिया-निष्पत्तिमें सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं।

प्रकरण पारिणामिक भावोंके प्रतिपादनका है। इसी प्रसंगसे जो पारिणामिक भाव अन्य द्रव्योंमें भी उपलब्ध होते हैं उनकी यहाँ पर व्याख्या करते हुए उक्त वचन कहा गया है। यहाँ यह शंका भी उठाई गई है कि क्रियापरिणामसे युक्त जीवों और पुद्गलोंमें कर्तृत्व पारिणामिक भावका होना तो युक्त है

परन्तु धर्मादिक द्रव्योंमें वह कैसे बन सकता है ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'अस्ति' आदि क्रियाविषयक कर्तृत्व उनमें भी पाया जाता है।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि संसारी जीव और स्कंधरूप पुद्गलद्रव्य भी अपने-अपने कार्यके स्वतन्त्ररूपसे कर्ता हैं। इन द्रव्योंकी कार्योत्पत्तिमें अन्य द्रव्य निमित्त होते हैं इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे उनके कार्योंके उत्पादक होते हैं। किन्तु इसका यही मतलब है कि ये द्रव्य स्वयं स्वतन्त्ररूपसे अपने-अपने कार्योंको उत्पन्न करते हैं और कार्योत्पत्तिके समय अन्य द्रव्य स्वतन्त्र रूपसे उनमें निमित्त होते हैं। उदाहरणार्थ जो जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे दसवें गुणस्थानमें आता है, मरणको छोड़कर उसका ग्यारहवें गुणस्थानमें रहनेका कालनियम है। उसके समाप्त होते ही वह जिस समय दसवें गुणस्थानमें आता है उसके लोभकषायकी उदीरणा भी उसी समय होती है और दसवें गुणस्थानके अनुरूप सूक्ष्म लोभभाव भी उसी समय होता है। यहाँ पर लोभकषायकी उदीरणाका और सूक्ष्म लोभभावके होनेका एक काल है ऐसी अवस्थामें लोभकषायकी उदीरणा सूक्ष्म लोभभावकी उत्पादक कैसे हो सकती है। अर्थात् नहीं हो सकती। फिर भी निमित्तकी मुख्यतासे यह कहा जाता है कि लोभकषायकी उदीरणा होनेसे ग्यारहवें गुणस्थानका अन्त होकर दसवाँ गुणस्थान उत्पन्न हुआ है। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि ग्यारहवें गुणस्थानका अन्त होनेपर अपने उपादान द्वारा स्वयं दसवें गुणस्थानकी उत्पत्ति हुई है और लोभपायकी उदीरणा उसमें स्वयं निमित्त पड़ी है, अन्यथा उपादान कारण और कार्य इन दोनोंका जिस प्रकार एक समय आगे पीछे होनेका नियम

है उस प्रकार निमित्तकारण और कार्य इनके भी एक समय आगे-पीछे होनेका प्रसङ्ग आता है जो युक्तियुक्त नहीं है। कर्मसाहित्यसे भी उसका समर्थन नहीं होता, अतः यही मानना उचित है कि उपादानकारण स्वयं कार्यरूप परिणमता है और अन्य द्रव्य उसमें स्वयं निमित्त होता है। इस विषयमें किसी प्रकारकी शंका न रह जाय इसलिए इसे स्पष्ट करनेके लिए कर्मसाहित्यके अनुसार दो उदाहरण यहाँ उपस्थित किये जाते हैं—

१. ऐसा नियम है कि कर्मबन्ध होने पर आबाधाकालको छोड़कर स्थितिके अनुसार जो निषेक रचना होती है उसमें प्रत्येक निषेकके प्रति एक एक चयकी हानि देखी जाती है। उसमें भी एक एक द्विगुणहानिके समाप्त होने पर प्रत्येक निषेकके प्रति हानिको प्राप्त होनेवाले चयका प्रमाण आधा आधा होता जाता है। यद्यपि यह स्थितिबन्ध आत्माके किसी एक विवक्षित परिणामको निमित्त करके होता है फिर उस समय स्थितिबन्धको प्राप्त होनेवाली निषेकरचनामें यह अन्तर क्यों पड़ता है? क्यों तो प्रथम निषेकमें सबसे अधिक परमाणु और द्वितीयादि निषेकोंमें एक एक चय कम होकर परमाणु प्राप्त होते हैं और क्यों प्रथम निषेककी सबसे कम और द्वितीयादि निषेकोंकी क्रमसे एक एक समय अधिक स्थिति होती है? निमित्त तो सबका एक ही है फिर प्रत्येक निषेककी स्थिति और निषेक रचनामें यह फरक क्यों पड़ता है? यदि विवक्षित आत्मपरिणाम कर्मस्थिति और उसके अनुसार निषेकरचनाका उत्पादक है तो सब निषेकोंकी एक ही स्थिति होनी चाहिए। साथ ही कर्मबन्ध होने पर जो निषेकभेद दिखलाई देता है वह दृष्टिगोचर नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनका निमित्त कारण एक है। यतः कर्म-

है उस प्रकार निमित्तकारण और कार्य इनके भी एक समय आगे-पीछे होनेका प्रसङ्ग आता है जो युक्तियुक्त नहीं है। कर्मसाहित्यसे भी उसका समर्थन नहीं होता, अतः यही मानना उचित है कि उपादानकारण स्वयं कार्यरूप परिणमता है और अन्य द्रव्य उसमें स्वयं निमित्त होता है। इस विषयमें किसी प्रकारकी शंका न रह जाय इसलिए इसे स्पष्ट करनेके लिए कर्मसाहित्यके अनुसार दो उदाहरण यहाँ उपस्थित किये जाते हैं—

१. ऐसा नियम है कि कर्मबन्ध होने पर आबाधाकालको छोड़कर स्थितिके अनुसार जो निषेक रचना होती है उसमें प्रत्येक निषेकके प्रति एक एक चयकी हानि देखी जाती है। उसमें भी एक एक द्विगुणहानिके समाप्त होने पर प्रत्येक निषेकके प्रति हानिको प्राप्त होनेवाले चयका प्रमाण आधा आधा होता जाता है। यद्यपि यह स्थितिबन्ध आत्माके किसी एक विवक्षित परिणामको निमित्त करके होता है फिर उस समय स्थितिबन्धको प्राप्त होनेवाली निषेकरचनामें यह अन्तर क्यों पड़ता है? क्यों तो प्रथम निषेकमें सबसे अधिक परमाणु और द्वितीयादि निषेकोंमें एक एक चय कम होकर परमाणु प्राप्त होते हैं और क्यों प्रथम निषेककी सबसे कम और द्वितीयादि निषेकोंकी क्रमसे एक एक समय अधिक स्थिति होती है? निमित्त तो सबका एक ही है फिर प्रत्येक निषेककी स्थिति और निषेक रचनामें यह फरक क्यों पड़ता है? यदि विवक्षित आत्मपरिणाम कर्मस्थिति और उसके अनुसार निषेकरचनाका उत्पादक है तो सब निषेकोंकी एक ही स्थिति होनी चाहिए। साथ ही कर्मबन्ध होने पर जो निषेकभेद दिखलाई देता है वह दृष्टिगोचर नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनका निमित्त कारण एक है। यतः कर्म-

परन्तु धर्मादिक द्रव्योंमें वह कैसे बन सकता है ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'अस्ति' आदि क्रियाविषयक कर्तृत्व उनमें भी पाया जाता है।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि संसारी जीव और स्कंधरूप पुद्गलद्रव्य भी अपने-अपने कार्यके स्वतन्त्ररूपसे कर्ता हैं। इन द्रव्योंकी कार्योत्पत्तिमें अन्य द्रव्य निमित्त होते हैं इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे उनके कार्योंके उत्पादक होते हैं। किन्तु इसका यही मतलब है कि ये द्रव्य स्वयं स्वतन्त्ररूपसे अपने-अपने कार्योंको उत्पन्न करते हैं और कार्योत्पत्तिके समय अन्य द्रव्य स्वतन्त्र रूपसे उनमें निमित्त होते हैं। उदाहरणार्थ जो जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे दसवें गुणस्थानमें आता है, मरणको छोड़कर उसका ग्यारहवें गुणस्थानमें रहनेका कालनियम है। उसके समाप्त होते ही वह जिस समय दसवें गुणस्थानमें आता है उसके लोभकपायकी उदीरणा भी उसी समय होती है और दसवें गुणस्थानके अनुरूप सूक्ष्म लोभभाव भी उसी समय होता है। यहाँ पर लोभकपायकी उदीरणाका और सूक्ष्म लोभभावके होनेका एक काल है ऐसी अवस्थामें लोभकपायकी उदीरणा सूक्ष्म लोभभावकी उत्पादक कैसे हो सकती है। अर्थात् नहीं हो सकती। फिर भी निमित्तकी मुख्यतासे यह कहा जाता है कि लोभकपायकी उदीरणा होनेसे ग्यारहवें गुणस्थानका अन्त होकर दसवाँ गुणस्थान उत्पन्न हुआ है। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि ग्यारहवें गुणस्थानका अन्त होनेपर अपने उपादान द्वारा स्वयं दसवें गुणस्थानकी उत्पत्ति हुई है और लोभपायकी उदीरणा उसमें स्वयं निमित्त पड़ी है, अन्यथा उपादान कारण और कार्य इन दोनोंका जिस प्रकार एक समय आगे पीछे होनेका नियम

परन्तु धर्मादिक द्रव्योंमें वह कैसे बन सकता है ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'अस्ति' आदि क्रियाविषयक कर्तृत्व उनमें भी पाया जाता है।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि संसारी जीव और स्कंधरूप पुद्गलद्रव्य भी अपने-अपने कार्यके स्वतन्त्ररूपसे कर्ता हैं। इन द्रव्योंकी कार्योत्पत्तिमें अन्य द्रव्य निमित्त होते हैं इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे उनके कार्योंके उत्पादक होते हैं। किन्तु इसका यही मतलब है कि ये द्रव्य स्वयं स्वतन्त्ररूपसे अपने-अपने कार्योंको उत्पन्न करते हैं और कार्योत्पत्तिके समय अन्य द्रव्य स्वतन्त्र रूपसे उनमें निमित्त होते हैं। उदाहरणार्थ जो जीव ग्यारहवें गुणस्थानसे दसवें गुणस्थानमें आता है, मरणको छोड़कर उसका ग्यारहवें गुणस्थानमें रहनेका कालनियम है। उसके समाप्त होते ही वह जिस समय दसवें गुणस्थानमें आता है उसके लोभकषायकी उदीरणा भी उसी समय होती है और दसवें गुणस्थानके अनुरूप सूक्ष्म लोभभाव भी उसी समय होता है। यहाँ पर लोभकषायकी उदीरणाका और सूक्ष्म लोभभावके होनेका एक काल है ऐसी अवस्थामें लोभकषायकी उदीरणा सूक्ष्म लोभभावकी उत्पादक कैसे हो सकती है। अर्थात् नहीं हो सकती। फिर भी निमित्तकी मुख्यतासे यह कहा जाता है कि लोभकषायकी उदीरणा होनेसे ग्यारहवें गुणस्थानका अन्त होकर दसवाँ गुणस्थान उत्पन्न हुआ है। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि ग्यारहवें गुणस्थानका अन्त होनेपर अपने उपादान द्वारा स्वयं दसवें गुणस्थानकी उत्पत्ति हुई है और लोभषायकी उदीरणा उसमें स्वयं निमित्त पड़ी है, अन्यथा उपादान कारण और कार्य इन दोनोंका जिस प्रकार एक समय आगे पीछे होनेका नियम

है उस प्रकार निमित्तकारण और कार्य इनके भी एक समय आगे-पीछे होनेका प्रसङ्ग आता है जो युक्तियुक्त नहीं है। कर्मसाहित्यसे भी उसका समर्थन नहीं होता, अतः यही मानना उचित है कि उपादानकारण स्वयं कार्यरूप परिणमता है और अन्य द्रव्य उसमें स्वयं निमित्त होता है। इस विषयमें किसी प्रकारकी शंका न रह जाय इसलिए इसे स्पष्ट करनेके लिए कर्मसाहित्यके अनुसार दो उदाहरण यहाँ उपस्थित किये जाते हैं—

१. ऐसा नियम है कि कर्मबन्ध होने पर आबाधाकालको छोड़कर स्थितिके अनुसार जो निषेक रचना होती है उसमें प्रत्येक निषेकके प्रति एक एक चयकी हानि देखी जाती है। उसमें भी एक एक द्विगुणहानिके समाप्त होने पर प्रत्येक निषेकके प्रति हानिको प्राप्त होनेवाले चयका प्रमाण आधा आधा होता जाता है। यद्यपि यह स्थितिबन्ध आत्माके किसी एक विवक्षित परिणामको निमित्त करके होता है फिर उस समय स्थितिबन्धको प्राप्त होनेवाली निषेकरचनामें यह अन्तर क्यों पड़ता है? क्यों तो प्रथम निषेकमें सबसे अधिक परमाणु और द्वितीयादि निषेकोंमें एक एक चय कम होकर परमाणु प्राप्त होते हैं और क्यों प्रथम निषेककी सबसे कम और द्वितीयादि निषेकोंकी क्रमसे एक एक समय अधिक स्थिति होती है? निमित्त तो सबका एक ही है फिर प्रत्येक निषेककी स्थिति और निषेक रचनामें यह फरक क्यों पड़ता है? यदि विवक्षित आत्मपरिणाम कर्मस्थिति और उसके अनुसार निषेकरचनाका उत्पादक है तो सब निषेकोंकी एक ही स्थिति होनी चाहिए। साथ ही कर्मबन्ध होने पर जो निषेकभेद दिखलाई देता है वह दृष्टिगोचर नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनका निमित्त कारण एक है। यतः कर्म-

वन्ध होने पर उसमें निषेकभेद और स्थितिभेद होता है। इससे विदित होता है कि इसका मूल कारण उपादान भेद ही है, निमित्त भेद नहीं। इतना अवश्य है कि उक्त कर्मवन्ध और निमित्त-कारणका ऐसा अन्योन्य निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध है कि एकके वैसा होने पर स्वभावतः दूसरा वैसा होता ही है। जब जब वैसा कर्मवन्ध होता है तबतक वही आत्मपरिणाम निमित्त होता है। उसीको निमित्तकी मुख्यतासे यों कहा जाता है कि जब जब उस प्रकारका आत्मपरिणाम होता है तब तब उसी प्रकारका कर्मवन्ध होता है। इस व्यवस्थामें प्रतिपादित आवाधाकाण्डकके अनुसार थोड़ा सा सूक्ष्म भेद और है जिसकी यहाँ पर हमने विवक्षा नहीं की है।

२. ऐसा नियम है कि उदयावलिको प्राप्त हुए निषेकोंका संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा नहीं होती; परन्तु इसके साथ एक नियम यह भी है कि जिस जीवके अगले समयमें मानभावके स्थानमें क्रोधभाव होना होता है उसके उस समयमें (मानभावके समयमें) ही मानकषाय आदि निषेकोंके परमाणु स्तिवुक संक्रमण द्वारा क्रोध कषायरूप परिणम जाते हैं और जब तक क्रोधभाव बना रहता है तब तक यही क्रम चालू रहता है। इसी प्रकार मानादि अन्य कषायों तथा सप्रति-पक्ष अन्य प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी यही नियम जान लेना चाहिए। विचारणीय यह है कि ऐसा क्यों होता है, आत्माका जो भाव एक समय बाद होनेवाला है तदनुरूप एक समय पूर्व ही निमित्तकी व्यवस्था क्यों बन जाती है? यदि कहा जाय कि इसमें स्वभाव ही कारण है। तो हम पूछते हैं कि जीवके उसी परिणामके होनेमें स्वभावको ही कारण क्यों नहीं मान लिया

जाता। इस दोपसे बचनेके लिये यदि कहा जाय कि उस समयका जो आत्माका मानरूप परिणाम है वह इस प्रकारकी व्यवस्था बनानेमें निमित्त होता है, इसलिए ऐसी व्यवस्था बन जाती है तो यहाँ यह देखना होगा कि उस समयके इस आत्म-परिणाममें ऐसी क्या विशेपता थी जिसे निमित्त करके कर्म निपेकमें वैसा परिवर्तन हुआ। स्पष्ट है कि यदि हम उस विशेषताको समझ लें तो इस गुत्थीके सुलझनेमें आसानी हो जाय। बात यह है कि जो पिछले समयका आत्मपरिणाम है वही आत्म-परिणाम विशिष्ट द्रव्य ही अगले समयमें होनेवाले आत्मपरिणाम-का उपादान है, इसलिए वह उस प्रकारके निषेककी व्यवस्था होनेमें निमित्त हुआ और उस प्रकारका निपेक अगले समयमें होनेवाले आत्मपरिणाममें निमित्त हुआ। कर्म और आत्माके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी यह व्यवस्था अनादिकालसे इसी प्रकार चली आ रही है। इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी उक्त बारीकीको समझ लेनेके बाद यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि प्रत्येक कार्य अपने उपादानके अनुसार ही होता है और जब वह कार्य होने लगता है तब अन्य द्रव्य उसमें स्वयमेव निमित्त हो जाता है। इसलिए इसी तथ्यको ध्यानमें रख कर आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृतमें यह वचन कहते हैं—

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीव कर्मके गुणोंको नहीं करता। उसी प्रकार कर्म गुणोंको नहीं करता। मात्र दोनोंका परिणमन पर

जानो। इस कारण आत्मा अपने भावोंका तो कर्ता है परन्तु वह पुद्गल कर्मके द्वारा किये गये पुद्गल परिणामरूप सब भावोंका कर्ता नहीं है ॥८१-८२॥

इस उल्लेखमें एक द्रव्यकी विवक्षित पर्यायका दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायके साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव स्वीकार करके भी कर्तृ-कर्मभाव नहीं स्वीकार किया गया है यह महत्त्वकी बात है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि अन्य द्रव्यकी पर्याय तद्भिन्न अन्य द्रव्यकी पर्यायके होनेमें निमित्त तो होती है पर वह उसकी कर्ता नहीं होती। इस प्रकार कर्ता-कर्मकी प्रवृत्ति दो द्रव्योंके आश्रयसे न होकर मात्र एक द्रव्यके आश्रयसे होती है यह निश्चित होता है। फिर भी लोकमें जो कुम्भकार और घटपर्याय आदिके आश्रयसे कर्ता-कर्म व्यवहार रूढ़ है उसमें निमित्त कथनकी मुख्यता होनेसे उसे उपचरित कथन ही जानना चाहिए[1]। आचार्य कुन्दकुन्दने आत्माके योग और उपयोगको घटादि कार्योंका उत्पादक इसी अभिप्रायसे कहा है और अन्यत्र जहाँ पर भी इस प्रकारका कथन किया गया है वह कथन भी इसी अभिप्राय से किया गया जानना चाहिए। इतना निश्चित है कि निमित्त निमित्त है, वह उपादानका स्थान लेकर अन्य द्रव्यके कार्यका उत्पादक नहीं हो सकता, क्योंकि वह पृथक् सत्ताक द्रव्य है, इसलिए वह जो अन्य द्रव्यका कार्य है तद्रूप परिणत नहीं होता। और जो जिस रूप परिणमन नहीं करता, जिसे उत्पन्न नहीं करता और जिसे आत्मसाद्रूपसे ग्रहण नहीं करता वह उसका कार्य कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट कहते हैं कि 'इस आत्माके योग और उपयोग ये दोनों

---

१. देखो बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ८ की टीका।

अनित्य हैं, सब अवस्थाओंमें व्यापक नहीं हैं। वे उन घटादिकके तथा क्रोधादि पर द्रव्यस्वरूप कर्मोंके निमित्तमात्रसे कर्ता कहे जाते हैं। योग तो आत्माके प्रदेशोंका चलनरूप व्यापार है और उपयोग आत्माके चैतन्यका रागादि विकाररूप परिणाम है। कदाचित् अज्ञानसे इन दोनोंको करनेसे इनका आत्माको भी कर्ता कहा जाता है। परन्तु वह पर द्रव्यस्वरूप कर्मका तो कर्ता कभी भी नहीं है।' उनके इस अर्थका प्रतिपादक वह वचन इस प्रकार है—

अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्त्वेन कर्त्तारौ, योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ॥१००॥

इसलिए जो अपने आत्माको परसे भिन्न मात्र ज्ञायकस्वभाव जानते हैं उनकी श्रद्धामें निमित्तके आश्रयसे 'होनेवाले अनादिरूढ़ कर्तृ-कर्मव्यवहारका त्याग तो हो ही जाता है। साथ ही उनके अज्ञानमय भावोंसे निवृत्त हो जानेके कारण वे राग-द्वेष आदि अज्ञानमय भावोंके कर्ता न होकर मात्र उनके ज्ञाता ही रहते हैं। समयप्राभृत कलशमें कहा भी है—

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः।
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः॥
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं।
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥२०५॥

आर्हतजन सांख्योंके समान आत्माको सर्वथा अकर्ता मत मानो। किन्तु भेदज्ञान होनेके पहले उसे कर्ता मानो और भेदज्ञान होनेके बाद उद्धत ज्ञानमन्दिरमें नियत इसे कर्तृभावसे रहित निश्चल स्वयं प्रत्यक्ष एक ज्ञाता ही देखो ॥२०५॥

जो श्रमणाभास सुख, दुख, निद्रा, जागरण, ज्ञान, अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति आदिको केवल कर्मका ही कार्य मानते हैं उनकी वह मान्यता किस प्रकार मिथ्या है और अनेकान्तदर्शनके अनुसार जीव किस रूपमें इनका कर्ता है। तथा वह इनका कर्ता कब नहीं होता इन्हीं सब प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर उक्त श्लोक द्वारा दिया गया है। इसमें जो बतलाया गया है उसका भाव यह है कि जब तक यह जीव स्वयं अज्ञानी है तब तक वह अज्ञानमय इन भावोंका कर्ता भी है। किन्तु उसके ज्ञानी होने पर वह इनका कर्ता न होकर मात्र ज्ञाता ही होता है, क्योंकि ज्ञानीके साथ अज्ञानमय भावोंकी व्याप्ति नहीं बनती।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि घट-पटादि तथा कर्म-नोकर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है यह तो समझमें आता है पर ज्ञानी होने पर वह रागादि भावोंका भी कर्ता नहीं होता यह समझमें नहीं आता, क्योंकि कर्ताका लक्षण है कि जो जिस समय जिस भाव रूप परिणमता है उस समय वह उस भावका कर्ता होता है। जब कि रागादि भाव तथा गुणस्थान और मार्गणास्थान आदि आत्माके परिणाम हैं, क्योंकि इन सब भावोंका उपादान कारण आत्मा ही है, अन्य द्रव्य नहीं तब जिस समय आत्मामें ये भाव होते हैं उस समय इनका कर्ता आत्माको ही मानना न्यायसङ्गत है। ऐसी अवस्थामें ज्ञानी जीव रागादि भावोंका कर्ता नहीं होता ऐसा क्यों कहा जाता है? प्रश्न मार्मिक है किन्तु इस प्रश्नका पूरा उत्तर प्राप्त करनेके लिए हमें ज्ञानी और अज्ञानी जीवके स्वरूपको समझ कर हृदयंगम कर लेना आवश्यक है, क्योंकि उनके स्वरूपका ज्ञान होजानेसे प्रश्नका उत्तर अपने आप मिल जाता है।

आगममें ज्ञानी जीवके लिए सम्यग्दृष्टि और अज्ञानी जीवके लिए मिथ्यादृष्टि ये शब्द आते हैं। समयप्राभृतमें इन्हींको क्रमसे स्वसमय और परसमय कहा गया है। अन्तरात्मा और वहिरात्मा तथा स्वात्मा और परात्मा ये भी इनके पर्यायवाची नाम हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समयप्राभृतमें स्वसमय और परसमयका जो भी स्वरूप कहा गया है उससे ज्ञानी और अज्ञानी जीवके स्वरूपका ही बोध होता है। वहाँ पर इनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

जीवो चरित्त-दंसण-णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जो जीव चारित्र, दर्शन और ज्ञानमें स्थित है उसे नियमसे स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गलकर्मोंके प्रदेशोंमें स्थित है, उसे परसमय जानो ॥२॥

प्रवचनसारमें स्वसमय और परसमयका स्वरूप निर्देश इन शब्दोंमें किया गया है—

जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥९४॥

जो जीव पर्यायोंमें लीन हैं उन्हें परसमय कहा गया है और जो आत्मस्वभावमें स्थित हैं उन्हें स्वसमय जानना चाहिए ॥९४॥

परसमयके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए प्रवचनसारमें पुनः कहा है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खाया।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥९८॥

जिनेन्द्रदेवने तात्त्विकरूपसे द्रव्यको स्वभावसिद्ध सत्स्वरूप

कहा है। द्रव्य इस प्रकारका है यह आगमसे सिद्ध है। किन्तु जो ऐसा नहीं मानता वह नियमसे परसमय है ॥९८॥

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि अन्तरात्मा और बहिरात्मा इन्हींके पर्यायवाची नाम हैं। इनकी व्याख्या करते हुए नियमसारमें कहा है—

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥१५०॥

जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग जल्पमें स्थित है वह बहिरात्मा है और जो सब जल्पोंमें स्थित नहीं है वह अन्तरात्मा कहा जाता है ॥१५०॥

नियमसारमें इसी विषयको स्पष्ट करते हुए पुनः कहा है—

जो धम्म-सुक्कझाणम्मि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणाहि ॥१५१॥

जो श्रमण धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानरूपसे परिणत है वह अन्तरात्मा है और जो श्रमण ध्यानसे रहित है उसे नियमसे बहिरात्मा जानो ॥१५१॥

उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि जो जिनोपदिष्ट आगममें प्रतिपादित द्रव्य, गुण और पर्यायस्वरूप इस लोकको अकृत्रिम और स्वभावसे निष्पन्न मानता है[1] अन्य किसीका कार्य नहीं मानता, अर्थात् स्वभावसे निष्पन्न होनेके कारण निमित्तजन्य नहीं मानता वह स्वसमय है। कारणद्रव्य परमाणु आदि अन्य किसीके

१. लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो।
जीवाजीवेहि भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो ॥२२॥
मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षाधिकार

कार्य नहीं है इस तथ्यको नैयायिकदर्शन भी स्वीकार करता है। मुख्य विवाद तो जो लोकमें उनके विविध प्रकारके कार्य दिखलाई देते हैं उनके विषयमें है। नैयायिकदर्शनके अनुसार अदृष्ट सापेक्ष ईश्वर कारक साकल्यको जानकर अपनी इच्छा और प्रयत्नसे कार्योंको उत्पन्न करता है। किन्तु जैनदर्शन इसे स्वीकार नहीं करता। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि जैनदर्शनने कर्तारूपसे ईश्वरको अस्वीकार किया है, निमित्तोंको नहीं तो उसका उक्त कथनसे ऐसा तात्पर्य फलित करना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिमें अन्य निमित्तोंको तो नैयायिकदर्शन भी कर्तारूपसे स्वीकार नहीं करता। कार्योत्पत्तिमें वे निमित्त अवश्य होते हैं इसे तो वह मानता है। परन्तु कर्ता होनेके लिए इतना मानना ही पर्याप्त नहीं है। उस दर्शनके अनुसार कर्ता वह हो सकता है जिसे कारकसाकल्यका पूरा ज्ञान हो और जो अपनी इच्छासे कारकसाकल्यको जुटाकर कार्यको उत्पन्न करनेके प्रयत्नमें लगा हो। यहाँ इतना और समझना चाहिए कि जो जिसका कर्ता होता है वह नियमसे उस कार्यको उत्पन्न करता है। ऐसा नहीं होता कि उसके प्रयत्न करने पर कभी कार्य उत्पन्न हो और कभी न हो। कार्य उत्पत्तिके साथ उसकी व्याप्ति है। अब विचार कीजिए कि नैयायिकदर्शनके अनुसार क्या ये गुण ईश्वरको छोड़कर अन्य निमित्तोंमें उपलब्ध हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट है कि नैयायिकदर्शनके अनुसार ईश्वरको छोड़कर अन्य निमित्त कर्ता नहीं हो सकते। इस प्रकार जब नैयायिकदर्शनकी यह स्थिति है तो जो जैनदर्शन सब द्रव्योंको स्वभावसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला मानता है उसके अनुसार निमित्त सब द्रव्योंकी पर्यायों (कार्यों) के उत्पादक हो जायँ यह तो त्रिकालमें सम्भव नहीं है। एक ओर तो हम लोकको

अकृत्रिम होनेकी घोषणा करते फिरें और दूसरी ओर द्रव्यलोक और गुणलोकके सिवा पर्यायलोकको कृत्रिम (अन्यका कार्य) मानने लगें इसे उक्त घोषणाका विपर्यास न कहा जाय तो और क्या कहा जाय ? पर्यायलोकको या तो स्वभावसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन भेदोंमें विभक्त मानो या अन्य किसीका कार्य मानो इन दो विकल्पोंमेंसे किसी एकको ही मानना पड़ेगा। यदि उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन भागोंमें विभक्त स्वभावसे मानते हो तो निमित्तोंको स्वीकार करके भी उसे उनका कार्य मत मानो। एक अपेक्षासे वह स्वयं कारण (कर्ता) है और दूसरी अपेक्षासे वह स्वयं कार्य है ऐसा मानो और यदि उसे अन्य किसीका कार्य मानते हो तो ईश्वरका निषेध मत करो। एक ओर ईश्वरका निषेध करना और दूसरी ओर उसके स्थानमें निमित्तोंको ला बिठाना यह कहाँका न्याय है। आगममें विभाव पर्यायोंको जो स्वपरप्रत्यय कहा है सो गलत नहीं कहा है परन्तु उस कथनके यथार्थ अर्थको समझे विना उपादानकी मुख्यताको भुलाकर उपादानके कार्यको निमित्तके आधीन कर देना तो ठीक नहीं है। यदि निमित्त उपादानके समान कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं तो उन्हें स्वीकार करनेसे क्या लाभ है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि नैयायिक दर्शनमें स्वीकार किये गये ईश्वर (प्रेरककारण) के स्थानमें जैनदर्शनके अनुसार उपादान कारणको स्वीकार कर लेने पर इस समस्याका समाधान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि नैयायिक दर्शन जिस प्रकार अन्य निमित्तोंको स्वीकार करके भी कार्यका कर्ता ईश्वरको मानता है, अन्य निमित्तोंको नहीं उसी प्रकार जैनदर्शन निमित्तोंको स्वीकार करके भी कार्यका कर्ता अपने उपादानको मानता है, निमित्तोंको नहीं। इसलिए 'यदि निमित्तों-को नहीं माना जाता है तो उन्हें स्वीकार करनेसे क्या लाभ है'

यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि दोनों दर्शनोंमें निमित्तोंकी स्थिति लगभग एक समान है। जो मतभेद है वह कर्ताको लेकर ही है। नैयायिकदर्शन कारण द्रव्यको स्वयं अपरिणामी मानता है इसलिए उसे समवायीकरणको गौण करके ईश्वररूप कर्ताकी कल्पना करनी पड़ी। किन्तु जैनदर्शनके अनुसार उपादान कारण स्वयं परिणामी नित्य है इसलिए इस दर्शनमें नित्य होकर भी परिणमनशील होनेके कारण वह स्वयं कर्ता है यह स्वीकार किया गया है। इन दोनों दर्शनोंमें कर्ताका अलग-अलग लक्षण करनेका भी यही कारण है। यह वस्तुस्थिति है जिसे हृदयङ्गम कर लेनेसे जैनदर्शनमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप लोकको अकृत्रिम क्यों कहा गया है यह समझमें आ जाता है।

इस प्रकार जो समस्त लोकको अकृत्रिम समझकर अपने विकल्पों द्वारा स्वयं अन्यका कर्ता नहीं बनता और न अन्य द्रव्योंको अपना कर्ता बनाता है। किन्तु दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप अपने आत्मस्वभावमें स्थित रहता है वह स्वसमय है और इसके विपरीत जो अपने अज्ञानभावको निमित्तकर, सञ्चित हुए पुद्गल कर्मोंका कर्ता बनकर तथा उनको निमित्त कर उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेष और नरक-नारकादि विविध प्रकारकी पर्यायोंको आत्मस्वरूप मानकर उनमें रममाण होता है वह परसमय है यह सिद्ध होता है। यहाँ यह तो है कि ये राग-द्वेष और नर-नारकादि पर्यायें पुद्गलकर्मोंका कार्य नहीं हैं। परन्तु आत्मामें इनकी उत्पत्तिका मूल कारण अज्ञानभाव है, इसलिए यह आत्मा जब तक अज्ञानी हुआ संसारमें परिभ्रमण करता रहता है तभी तक वह इनका कर्ता होता है। किन्तु ज्ञानी होने पर उसके पुद्गल कर्मोंको निमित्त कर उत्पन्न

होनेवाली इन पर्यायोंमें आत्मबुद्धिका सुतरां त्याग हो जाता है, इसलिए उस समय इनके होने पर भी निश्चयसे वह इनका कर्ता नहीं होता। यद्यपि यह बात थोड़ी विलक्षण तो लगती है कि ज्ञानी जीवके कुछ काल तक ये राग-द्वेष और नर-नारकादि पर्यायें होती रहती हैं फिर भी वह इनका कर्ता नहीं होता। परन्तु इसमें विलक्षणताकी कोई बात नहीं है। कारण कि ज्ञानी जीवका जो स्वात्मा है वह न नारकी है, न तिर्यञ्च है, न मनुष्य है और न देव है। न मार्गणास्थान है,न गुणस्थान है और न जीवस्थान है। न बालक है, न वृद्ध है और न तरुण है। न राग है, न द्वेष है और न मोह है। न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। इन सबका न कारण है, न कर्ता है, न कारयिता है और न अनुमोदना करनेवाला है। वह तो कर्म, नोकर्म और विभाव भावोंसे रहित एकमात्र ज्ञायकस्वभाव है, इसलिए वह ज्ञानी अवस्थामें अपने ज्ञायकभावरूप एकमात्र शुद्धपर्यायका ही कर्ता होता है। नारक आदि रूप परात्माका कर्ता नहीं होता। और यह ठीक भी है, क्योंकि जिस समय जो जिस भावरूप परिणमता है वह उस समय उसका कर्ता होता है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमें कहा भी है—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी ॥१३०॥

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

जिस प्रकार सुवर्णमय भावसे सुवर्णमय कुण्डलादिक भाव उत्पन्न होते हैं और लोहमय भावसे लोहमय कटक आदि भाव उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार अज्ञानीके बहुत प्रकारके अज्ञानमय

भाव उत्पन्न होते हैं और ज्ञानीके सब भाव ज्ञानमय उत्पन्न होते हैं ॥१३०-१३१॥

इसी बातको स्पष्ट करते हुए वे आगे पुनः कहते हैं—

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥२८०॥

ज्ञानी जीव राग, द्वेप, मोहको अथवा कपायभावको स्वयं अपनेमें नहीं करता इसलिए वह उन भावोंका कर्ता नहीं होता[1] ॥ २८० ॥

इसकी टीकामें उक्त विपयका खुलासा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

यथोक्तवस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति नियमः ॥ २८० ॥

यथोक्त वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभावसे ही च्युत नहीं होता, इसलिए वह राग, द्वेष, मोहादि भावरूप न तो स्वयं परिणत होता है और न दूसरेके द्वारा ही परिणमाया जाता है, इसलिए टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप ज्ञानी राग, द्वेप, मोह आदि परभावोंका अकर्ता ही है ऐसा नियम है ॥ २८० ॥

इसी बातको समयप्राभृतकलशमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

---

१. तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें रागादि भाव मेरे हैं ऐसा अभिप्राय नहीं रहता, इसलिए वह उन रागादि भावोंका कर्ता नहीं होता ।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६६॥

ज्ञानीके सभी भाव ज्ञानसे उत्पन्न होते हैं और अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं ॥६६॥

इसी बातको अन्यत्र उन्होंने दृढ़ताके साथ इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह स्वयं ज्ञान ही है, ज्ञानसे अन्य वह किसे करे? अर्थात् ज्ञानसे अन्य किसीको नहीं करता। परभावोंका करता आत्मा है ऐसा मानना तथा कहना व्यवहारी जनोंका मोह है ॥६२॥

किन्तु जो श्रमणाभास इस तथ्यको न समझकर नारक आदि पर्यायोंका कर्ता आत्माको मानते हैं उन्हें लौकिकजनोंके दृष्टान्त द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द किन शब्दोंमें सम्बोधित करते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

लोयस्स कुणइ विण्हू सुर-णारय-तिरिय-माणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काए ॥३२१॥

लोय-समणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ ॥३२२॥

एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोय-समणाण दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥

लौकिक मतके अनुसार तो देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य प्राणियोंको विष्णु करता है उसी प्रकार श्रमणोंके मतानुसार यदि

षट्कायिक जीवोंको आत्मा करता है तो लौकिक जनोंका और श्रमणोंका एक सिद्धान्त निश्चित हुआ। उसमें कुछ विशेषता दिखलाई नहीं देती, क्योंकि ऐसा माननेपर लौकिक जनोंके अनुसार जिस प्रकार विष्णु कर्ता सिद्ध होता है उसी प्रकार श्रमणोंके यहाँ भी आत्मा कर्ता सिद्ध हो जाता है और इस प्रकार देव, मनुष्य और असुर सहित सब लोकके नित्य कर्ता होनेसे लौकिक जन और श्रमण उन दोनोंको ही कोई मोक्ष प्राप्त होगा ऐसा दिखलाई नहीं देता ॥३२१-३२३॥

अतः अन्य अन्यका कर्ता होता है इस अनादि लोकरूढ़ व्यवहारको छोड़कर सिद्धान्तरूपमें यही मानना उचित है कि जिस समय जो जिस भावरूपसे परिणमन करता है उस समय वह उस भावका कर्ता होता है। इसी बातको समयप्राभृतके कलशोंमें पुद्गल और जीवके आश्रयसे जिन शब्दोंमें व्यक्त किया है यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िए—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यः स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६६॥

इस प्रकार पूर्वोक्त कथनसे पुद्गल द्रव्यकी स्वभावभूत परिणामशक्ति विना बाधाके सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होनेपर वह अपने जिस भावको करता है उसका वही कर्ता होता है। तथा इसी प्रकार पूर्वोक्त कथनसे जीवद्रव्यकी स्वभावभूत परिणामशक्ति सिद्ध होती है और उसके सिद्ध होनेपर वह अपने जिस भावको करता है उसका वही कर्ता होता है ॥६४-६५॥

इस प्रकार अनादिरूढ़ लोकव्यवहारकी दृष्टिसे कर्ता-कर्मकी

पद्धतिका जो क्रम है वह ठीक न होकर वस्तुमर्यादाकी दृष्टिसे कर्ता-कर्मपद्धतिका क्रम किस प्रकार ठीक है इसकी सम्यक्प्रकारसे मीमांसा की।

षट्कारकमीमांसा

षट् कारक निज शक्तिसे निजमें होते भव्य।
मिथ्या मतके योगसे उलट रहा मन्तव्य॥

यहाँ तक हमने निमित्त-उपादानके साथ कर्तृ-कर्मकी मीमांसा की। अब निमित्त-उपादानके आश्रयसे जो षट्कारककी प्रवृत्ति होती है वह किस प्रकार होती है और उसमें कौन-सी षट्कारक प्रवृत्ति भूतार्थ है और कौन-सी षट्कारकप्रवृत्ति अभूतार्थ है इसका सकारण विचार करते हैं। कारकका अर्थ है जो क्रियाका जनक हो। 'करोति क्रियां निर्वर्तयतीति कारकः' ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। इस नियमके अनुसार कारक छह हैं—१ कर्ता, २ कर्म, ३ करण, ४ सम्प्रदान, ५ अपादान और ६ अधिकरण। क्रिया व्यापारमें जो स्वतन्त्ररूपसे अर्थका प्रयोजक होता है वह कर्ताकारक कहलाता है। कर्तासे क्रिया द्वारा ग्रहण करनेके लिए जो अत्यन्त इष्ट कारक होता है वह कर्मकारक कहलाता है। क्रियाकी सिद्धिमें जो प्रकृष्टरूपसे उपकारक कारक होता है वह करणकारण कहलाता है। कर्मके द्वारा जो अभिप्रेत होता है वह सम्प्रदानकारक कहलाता है। जो अपायकी सिद्धिमें मर्यादाभूत कारक है वह अपादानकारक कहलाता है और जो क्रियाका

आधार है वह अधिकरणकारक कहलाता है। इस प्रकार ये छह कारक क्रियानिष्पत्तिमें प्रयोजक हैं, इसलिए इनकी कारक संज्ञा है। सम्बन्ध क्रियानिष्पत्तिमें प्रयोजक नहीं होता, इसलिए उसकी कारक संज्ञा नहीं है। उदाहरणार्थ 'वह जिनदत्तके मकानको देखता है' इस उल्लेखमें 'जिनदत्तके' यह पद अन्यथासिद्ध है, इसलिए उसमें कारकपना घटित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो किसी न किसी रूपमें क्रिया व्यापारके प्रति प्रयोजक होता है, कारक वही हो सकता है, अन्य नहीं। इसलिए कर्ता आदिके भेदसे कुल कारक छह हैं यही सिद्ध होता है।

अब इनका व्यवहारनय और निश्चयनयकी अपेक्षासे विचार कीजिये। यह तो हम आगे बतलानेवाले हैं कि व्यवहारनय निमित्तको स्वीकार करता है और निश्चयनय उपादानको स्वीकार करता है, इसलिए व्यवहारनयकी अपेक्षा घटरूप क्रियानिष्पत्तिके प्रति कुम्भकार कर्ता होगा, कुम्भ कर्म होगा, चक्र और चीवर आदि करण होंगे, जलधारणरूप प्रयोजन सम्प्रदान होगा, कुम्भकारका अन्य व्यापारसे निवृत्त होना अपादान होगा और पृथिवी आदि अधिकरण होगा। यहाँपर ऐसा समझना चाहिए कि कुम्भकार स्वतन्त्र द्रव्य है और घटरूप पर्यायसे परिणत होनेवाली मृत्तिका स्वतन्त्र द्रव्य है। कुम्भकारका घटनिर्माणानुकूल व्यापार अपनेमें हो रहा है और मृत्तिकाका घटपरिणमनरूप व्यापार मृत्तिकामें हो रहा है। फिर भी घटोत्पत्तिमें कुम्भकार निमित्त होनेसे वह व्यवहारनयसे उसका कर्ता कहा जाता है और घट उसका कर्म कहा जाता है। व्यवहारनयसे चक्र, चीवर आदिको जो करण संज्ञा तथा पृथिवी आदिको जो अधिकरण संज्ञा दी जाती है वह भी निमित्तत्वकी अपेक्षा ही दी जाती है। निमित्तत्वकी अपेक्षा कुम्भकार, चक्र, चीवर, और पृथिवी आदि समान हैं, क्योंकि

घटरूप कार्योत्पत्तिमें वे सब निमित्त हैं। किन्तु अलग अलग प्रयोजनसे इनमेंसे कुम्भकार कर्ता कहलाता है, चक्र, चीवर आदि करण कहलाते हैं और पृथिवी आदि अधिकरण कहलाते हैं।

यह व्यवहारनयका कथन है। किन्तु यह परमार्थभूत क्यों नहीं है इस प्रश्नका समाधान सर्वार्थसिद्धिके इस वचनसे हो जाता है। वह वचन इस प्रकार है—

यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः, आकाशस्य क आधार इति? आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः। स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठम्, धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधारः कल्प्यः। तथा सत्यनवस्थाप्रसंग इति चेत्? नैष दोषः, नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्येत। सर्वतोऽनन्तं हि तत्। ततो धर्मादीनां पुनरधिकरणमाकाशमित्युच्यते व्यवहारनयवशात्। एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव। तथा चोक्तम्—'क्व भवानास्ते? आत्मनि' इति। धर्मादीनि लोकाकाशान्न बहिः सन्तीत्येतावदत्राधाराधेयकल्पनासाध्यं फलम्।

प्रश्न यह है कि यदि धर्मादिक द्रव्यका आधार आकाश है तो आकाशका आधार क्या है? इसका जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि आकाशका अन्य आधार नहीं है, क्योंकि वह स्वप्रतिष्ठ है। इस पर फिर शंका हुई कि यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ रहे आवें और यदि धर्मादिक द्रव्योंका अन्य आधार कल्पित किया जाता है तो आकाशका भी अन्य आधार मानना चाहिए। किन्तु ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आता है। यह दूसरी शंका है। इसका जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि आकाशका

परिमाण सबसे बड़ा है। उससे अधिक अन्य द्रव्योंका परिमाण (विस्तार) नहीं है जहाँ पर आकाश स्थित हो ऐसा कहा जावे। वह सबसे अनन्त है, इसलिए धर्मादिक द्रव्योंका अधिकरण आकाश है यह व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहा जाता है। एवम्भूतनयकी अपेक्षा विचार करने पर तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। कहा भी है कि 'आप कहाँ रहते हैं ? अपनेमें।' तात्पर्य यह है कि धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं पाये जाते इतना मात्र यहाँ पर आधाराधेय कल्पनाका फल है।

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि व्यवहारनय भी तो सम्यक् श्रुतज्ञानका एक भेद है, इसलिए उससे गृहीत विषयको अभूतार्थ क्यों कहा जाता है ? समाधान यह है कि व्यवहारनयका विषय उपचरित है इसे सम्यग्ज्ञान इसी रूपमें जब ग्रहण करता है तभी व्यवहारनय सम्यक् श्रुतका भेद ठहरता है, अन्यथा नहीं। अब व्यवहारनयका विषय परमार्थभूत क्यों नहीं है इस पर विचार कीजिए। सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक द्रव्य ध्रुवस्वभाव होकर भी स्वभावसे परिणमनशील है। उससे पृथक् अन्य द्रव्य यदि उसे परिणमन करावे और तब वह परिणमन करे, अन्यथा वह परिणमन न करे तो परिणमन करना उसका स्वभाव नहीं ठहरेगा। इसलिए जिस द्रव्यके जिस कार्यका जो उपादानक्षण है उसके प्राप्त होने पर वह द्रव्य स्वयं परिणमन कर उस कार्यके आकारको धारण करता है यह निश्चित होता है और ऐसा निश्चित होने पर कारकका 'जो क्रियाको उत्पन्न करता है वह कारक कहलाता है' यह लक्षण अपने उपादानरूप मिट्टीमें ही घटित होता है, क्योंकि परिणमनरूप क्रिया-व्यापारको मिट्टी स्वयं कर रही है, कुम्भकार, चक्र, चीवर और पृथिवी आदि नहीं। उपादानके अपने परिणमनरूप

क्रिया व्यापारके समय ये कुम्भकार आदि बलाधानमें निमित्त होते हैं इतना अवश्य है। पर इतने मात्रसे मिट्टीके परिणमनरूप क्रिया व्यापारको तत्त्वतः वे स्वयं कर रहे हैं यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय वे अपने परिणमन रूप क्रिया व्यापारको कर रहे हैं। प्रत्येक द्रव्यमें छह कारकरूप शक्तियोंका सद्भाव स्वीकार करनेका यही कारण है, इसलिए व्यवहारनयके विषयको परमार्थभूत न मानकर जो उपचरित कहा गया है[1] सो ठीक ही कहा गया है। अनगारधर्मामृतमें व्यवहारनयसे कर्ता आदिको भिन्न रूपसे स्वीकार करनेमें क्या सार्थकता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए पण्डितप्रवर आशाधरजी कहते हैं—

> कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
> साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१–१०२॥

---

१. जो विवक्षित वस्तुमें सद्रूप होता है वह परमार्थभूत कहलाता है और जो विवक्षित वस्तुमें न होकर निमित्त या प्रयोजन विशेषसे उसमें आरोपित किया जाता है वह उपचरित कहलाता है। कहा भी है—सति निमित्ते प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते। उदाहरणार्थ कुम्भकारमें घटका कर्तृत्व धर्म नहीं है। फिर भी घटोत्पत्तिमें कुम्भकार निमित्त होनेसे कुम्भकारमें घटके कर्तृत्वका उपचार किया जाता है। इसलिए व्यवहारनयके इस वक्तव्यको उपचरित कथन ही जानना चाहिए। 'कुम्भकार घटका कर्ता है' इसे उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय बतलानेका यही कारण है। इसके लिए देखो बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ८। पञ्चास्तिकाय गाथा ६७ और ६८ में जो भिन्न कर्ता और कर्मका निर्देश किया गया है वह भी इसी अभिप्रायसे किया गया है। इतना अवश्य है कि वहां संश्लेषरूप बन्धपर्यायकी मुख्यता होनेसे वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका

जिसके द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिए कर्ता आदि वस्तुसे भिन्न सिद्ध किये जाते हैं वह व्यवहार है और जिसके द्वारा कर्ता आदिक वस्तुसे अभिन्न जाने जाते हैं वह निश्चय है ॥१-१२०॥

यहाँ पर व्यवहारका लक्षण कहते समय जो मुख्य बात कही गई है वह यह है कि कर्ता आदिको वस्तुसे भिन्न सिद्ध करना तभी सार्थक है जब वह कर्ता आदि वस्तुसे अभिन्न हैं इसे स्वीकार करनेवाले निश्चयकी सिद्धिका प्रयोजक हो। अब थोड़ा इस बात पर विचार कीजिए कि पण्डितप्रवर आशाधरजीने ऐसा क्यों कहा ? यदि व्यवहारसे कर्ता आदि वस्तुसे भिन्न होकर वास्तविक हैं तो उनकी सार्थकता तभी क्यों मानी जाय जब वे निश्चयकी सिद्धि करें ? प्रश्न मार्मिक है। समाधान यह है कि जो भिन्न पदार्थ है वह अपने उत्पाद-व्ययमें लगा रहता है।

उदाहरण है। इसी प्रकार निमित्तमें परिणमानेरूप या कार्यमें विशेषता उत्पन्न करने रूप जितने भी धर्मोका सद्भाव स्वीकार किया जाता है वह सब आरोपित या उपचरित कथन होनेसे असद्भूत व्यवहारनयकी परिधिमें ही गर्भित है। यह कथन परके आश्रयसे किया जाता है, इसलिए तो व्यवहार है और अन्य द्रव्यमें तद्भिन्न अन्य द्रव्यके कर्तृत्व आदि धर्मोकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए असद्भूत है। यही कारण है कि ऐसे कथनको स्वीकार करनेवाले नयको असद्भूत व्यवहारनय कहा गया है। सम्यग्दृष्टि जीव इस तथ्यको जानता है, इसलिए वह 'अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्यके कार्यका कर्ता है, कर्म है, करण है, सम्प्रदान है, अपादान है और अधिकरण है' ऐसा श्रद्धान नहीं करता। किन्तु निमित्तकी अपेक्षा लोकमें इस प्रकारका व्यवहार होता है इतना वह जानता अवश्य है। इसका विशेष स्पष्टीकरण हमने विषयप्रवेश अधिकारमें किया ही है।

उसे छोड़कर वह अपनेसे सर्वथा भिन्न अन्य पदार्थके उत्पाद-व्ययको कैसे कर सकता है, अर्थात् नहीं कर सकता। वह अपने उत्पाद-व्ययको छोड़कर अन्य पदार्थके उत्पाद-व्ययका करता है यदि यह कहा जाय तो वह स्वयं अपरिणामी ठहरता है और उसके स्वयं अपरिणामी ठहरने पर तद्भिन्न अन्य पदार्थ भी अपरिणामी ठहरते हैं। यदि कहो कि वह अपने उत्पाद-व्ययको भी करता है और उसके साथ अपनेसे सर्वथा भिन्न अन्य पदार्थके उत्पाद-व्ययको भी करता है, इसलिए वह स्वयं अपरिणामी नहीं होगा और उसके स्वयं अपरिणामी नहीं होनेसे अन्य पदार्थ भी अपरिणामी नहीं ठहरेंगे तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दो आपत्तियाँ आती हैं—एक तो यह कि वह (निमित्त) दो द्रव्योंकी क्रियाओंका करनेवाला हो जायगा और दूसरी यह कि उसकी क्रियाको भी अन्य द्रव्य द्वारा करनेका प्रसङ्ग आ जायगा। पहली अपत्तिको स्वीकार करने पर तो यह दोष आता है कि जब निमित्त द्रव्य अन्य द्रव्यकी क्रियाको करनेके साथ अपनी क्रियाका करनेवाला माना जाता है तब उपादानको ही स्वयं परकी अपेक्षा किये बिना अपनी क्रियाका कर्ता क्यों नहीं मान लिया जाता? तथा दूसरे दोषके स्वीकार करने पर एक तो अनवस्था दोष आता है और दूसरे आगममें जो शुद्ध द्रव्योंकी क्रियाको परनिरपेक्ष कहा है वह नहीं बनती। इसलिए परिणामस्वरूप यही मान लेना उचित प्रतीत होता है कि चाहे शुद्ध द्रव्य हो और चाहे पर्यायरूपसे अशुद्ध द्रव्य हो वह व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय दोनों अवस्थाओंमें अपने-अपने उत्पाद-व्ययका कर्ता स्वयं है। ऐसा होने पर भी जो व्यवहारनयसे अन्य द्रव्य (निमित्त) को अन्य द्रव्यकी क्रियाका कर्ता कहा जाता है सो वह केवल उसकी निमित्तता दिखलानेके लिए ही

कहा जाता है। वास्तवमें वह (निमित्त) उसी कालमें स्वयं उपादान होकर है तो अपनी उत्पाद-व्ययरूप क्रियाका कर्ता ही। फिर भी उसमें अन्य द्रव्यके उत्पाद-व्ययरूप क्रियाके कर्तृत्वका उपचार करके उस द्वारा मुख्यार्थका द्योतन किया जाता है। यहाँ पर निमित्तमें कर्तृत्वका उपचार करनेका यही प्रयोजन है। पण्डितप्रवर आशाधरजीकी इस तथ्यकी ओर दृष्टि थी। यही कारण है कि उन्होंने कर्ता आदिको वस्तुसे भिन्न सिद्ध करनेरूप व्यवहार कथनको ऐसे निश्चयको सिद्ध करनेवाला स्वीकार किया है जो 'कर्ता आदि तत्त्वतः वस्तुसे अभिन्न हैं' यह ज्ञान कराता है। आगममें जहाँ भी व्यवहारको निश्चयकी सिद्धिमें प्रयोजक माना गया है वह इसी अभिप्रायसे माना गया है।

अब यहाँ पर थोड़ा इस दृष्टिसे भी विचार कीजिए कि संसारी जीवका मुख्य प्रयोजन मोक्षप्राप्ति है और उसका साक्षात् साधन निश्चय रत्नत्रय परिणत स्वयं आत्मा है। उसमें भी निश्चय ध्यानकी मुख्यता है, क्योंकि उसकी प्राप्ति होनेपर ही यह अवस्था होती है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य कुन्दकुन्द सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकारमें कहते हैं—

मोक्खपदे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

मोक्षपदमें अपने आत्माको ही स्थापित कर, उसीका ध्यान कर और उसीमें विहार कर। अन्य द्रव्योंमें विहार मत कर॥ ४१२॥

यद्यपि आचार्य गृद्धपृच्छने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें "तपसा निर्जरा च' इस सूत्र द्वारा तपको संवर और निर्जराका प्रधान अङ्ग बतलाया है परन्तु तत्त्वार्थसूत्रके इस कथनको उक्त कथनका

ही पूरक जानना चाहिए, क्योंकि एक तो ध्यान तपका मुख्य भेद है। दूसरे तपकी अन्तिम परिसमाप्ति निश्चयरूप ध्यानमें ही होती है। इसलिए निश्चय रत्नत्रयपरिणत आत्मा मोक्षका साक्षात् साधन है यह जो कहा गया है वह निश्चय ध्यानकी प्रधानतासे ही कहा गया है। शुक्लध्यान आठवें गुणस्थानसे होता है या ग्यारहवें गुणस्थानसे होता है इस विषयमें दो सम्प्रदाय उपलब्ध होते हैं। यहाँपर हमें उनकी विशेष मीमांसा नहीं करनी है। परन्तु प्रकृतमें इतना बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आठवें गुणस्थानसे शुक्लध्यान होता है इस कथनको जो प्रमुखता दी गई है उसका कारण यह है कि जबतक यह जीव ध्यान, ध्याता और ध्येयके विकल्पसे तथा कर्ता, कर्म और क्रियाके विकल्पसे निवृत्त होकर स्वमें स्थित नहीं होता तबतक चारित्रमोहनीयकी पूर्णरूपसे निर्जरा नहीं हो सकती। यद्यपि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें चित्तसन्ततिका अभाव रहनेसे चित्तसन्ततिके निरोधरूप ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। फिर भी वहाँ पर ध्यानका उपचार किया गया है सो क्यों? स्पष्ट है कि इस द्वारा भी यह बतलाया गया है कि मोक्षप्राप्तिका यदि कोई साक्षात् साधन है तो वह निश्चय ध्यान ही है, अन्य नहीं। ऐसे ध्यानके होनेपर ही यह आत्मा निश्चय रत्नत्रयरूप अवस्थाको प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार मोक्षप्राप्तिका जो साक्षात् साधन ध्यान है वह किस प्रकारका होता है अब इसपर विचार कीजिए। शुद्धोपयोग और उक्त प्रकारका ध्यान इन दोनोंका एक ही अर्थ है। इसपर प्रकाश डालते हुए पण्डित-प्रवर दौलतराम जी छहढालामें कहते हैं :—

> जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको विकल्प वच भेद न जहां।
> चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना क्रिया तहां॥

तीनों अभिन्न अखण्ड शुध उपयोगकी निश्चल दशा।
प्रगटी जहाँ दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा॥

जहाँ पर यह ध्यान है, यह ध्याता है और यह ध्येय है इस प्रकारका विकल्प नहीं रहता और जहाँ पर किसी प्रकारका वचनभेद भी लक्षित नहीं होता वहाँ पर आत्माका चैतन्यभाव कर्म है, आत्मा कर्ता है और चेतनारूप परिणति क्रिया है। इस प्रकार जहाँ पर कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनों अभिन्न और अखण्डरूप होकर शुद्धोपयोगकी निश्चल दशा प्रगट होती है वहाँ पर दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों एकरूप होकर शोभायमान होते हैं।

ऐसा ही ध्यान उत्कृष्ट विशुद्धिका कारण है इसका निर्देश करते हुए पण्डितप्रवर आशाधरजी भी अपने अनगारधर्मामृतमें कहते हैं—

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने।
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते ॥१-११३॥

यह स्वसंवेदनरूपसे सुव्यक्त हुआ आत्मा स्वसंवेदनरूप आत्माके द्वारा निर्विकल्परूप आत्मामें ज्ञानात्मक अन्तःकरणरूप आत्महेतुक शुद्ध चिदानन्दरूप आत्माकी प्राप्तिके लिए शुद्ध चिदानन्दरूप आत्माका ध्यान करता हुआ उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होता है ॥१-११३॥

यह मोक्षप्राप्तिमें निश्चय रत्नत्रयान्वित साक्षात् साधनभूत ध्यानका प्रकार है। इस पर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि जब वही आत्मा कर्ता होता है, वही कर्म होता है, वही करण होता है, वही सम्प्रदान होता है, वही अपादान होता है और वही अधिकरण होता है तब जाकर शुद्धोपयोगकी निश्चल दशा

प्रकट होती है और तभी उसके घातिकर्मों या समस्त कर्मोंका समूल उच्छेद होता है।

यह निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्माके ध्यानकी उत्कृष्ट दशा है। अब इस आधारसे जब सम्यग्दृष्टिकी इससे नीचली दशाका विचार करते हैं तब विदित होता है कि यदि सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धामें अन्य मिथ्यादृष्टि जनोंके समान यह मान्यता बनी रहे कि 'अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्यकी उत्पाद-व्ययरूप क्रियापरिणतिका कर्ता आदि होता है' और यही मान्यता आगेके गुणस्थानोंमें भी चलती रहे तो वह शुद्धोपयोगकी पूर्वोक्त निश्चल दशाको कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकता और जब उक्त मान्यताके कारण शुद्धोपयोगकी निश्चल दशा नहीं प्राप्त होगी तो मोक्षका प्राप्त होना भी दुर्लभ है। स्पष्ट है कि जहाँ तक श्रद्धामें इस मान्यताका सद्भाव है कि 'अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्यकी उत्पाद-व्ययरूप क्रियापरिणतिका कर्ता आदि होता है' वहीं तक मिथ्यात्व दशा है और जहाँसे श्रद्धामें उसका स्थान वस्तुभूत यह विचार ले लेता है कि 'प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रियापरिणतिका कर्ता आदि आप स्वयं है। यह आत्मा अपने अज्ञानवश संसारका पात्र आप स्वयं बना हुआ है और अपने पुरुषार्थ द्वारा उसका अन्त कर आप स्वयं मोक्षका पात्र बनेगा' वहींसे आत्माकी सम्यग्दर्शन रूप अवस्थाका प्रारम्भ होता है और इस आधारसे जैसे-जैसे चारित्रमें परनिरपेक्षता आकर स्वावलम्बनमें वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे सम्यग्दृष्टिका उक्त विचार आत्मचर्याका रूप लेता हुआ परम समाधि दशामें परिणत हो जाता है। अतएव अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्यकी क्रियापरिणतिका कर्ता है, कर्म है, करण है, सम्प्रदान है, अपादान है और अधिकरण है यह व्यवहारसे ही कहा जाता है, निश्चयसे तो प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रियापरिणतिका

स्वयं कर्ता है, स्वयं कर्म है, स्वयं करण है, स्वयं सम्प्रदान है, स्वयं अपादान है, और स्वयं अधिकरण है यही सिद्ध होता है। पञ्चास्तिकायमें इस बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥ ६२ ॥

कर्म भी अपने स्वभावसे स्व (अपने) को करता है और उसी प्रकार जीव भी अपने क्रिया स्वभावरूप भावसे सम्यक् रूप अपनेको करता है ॥६२॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

अत्र निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वय स्वरूप-कर्तृत्वमुक्तम्। कर्म खलु कर्मत्वप्रवर्तमानपुद्गलस्कन्धरूपेण कर्तृतामनु-बिभ्राणं कर्मत्वगमनशक्तिरूपेण करणतामात्मसात्कुर्वत् प्राप्यकर्मत्व-परिणामरूपेण कर्मतां कलयत् पूर्वभावव्यपायेऽपि ध्रुवत्वालम्बना-दुपात्तापादानत्वं उपजायमानपरिणामरूपकर्मणाश्रियमाणत्वादुपोढ-सम्प्रदानत्वं आधीयमानपरिणामाधारत्वाद् गृहीताधिकरणत्वं स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकान्तरमपेक्षते। एवं जीवोऽपि भावपर्यायेण प्रवर्तमानात्मद्रव्यरूपेण कर्तृतामनुबिभ्राणो भावपर्याय-गमनशक्तिरूपेण करणतामात्मसात्कुर्वन् प्राप्यभावपर्यायरूपेण कर्मतां कलयन् पूर्वभावपर्यायव्यपायेऽपि ध्रुवत्वालम्बनादुपात्तापादानत्वं उपजाय-मानभावपर्यायरूपकर्मणाश्रियमाणत्वादुपोढसम्प्रदानत्वः आधीयमान-भावपर्यायाधारत्वाद् गृहीताधिकरणत्वः स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकान्तरमपेक्षते। अतः कर्मणः कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्म कर्तृ निश्चयेनेति ॥६२॥

निश्चयनयसे अभिन्न कारक होनेसे कर्म और जीव स्वयं स्वरूप (अपनी-अपनी पर्याय) के कर्ता हैं ऐसा यहाँ कहा है।

यथा—(१) कर्म वास्तवमें कर्मरूपसे प्रवर्तमान पुद्गलस्कन्धरूपसे कर्तृत्वको धारण करता हुआ (२) कर्मपना प्राप्त करनेकी शक्तिरूप करणपनेको अंगीकार करता हुआ, (३) प्राप्य ऐसे कर्मत्वपरिणामरूपसे कर्मपनेको सम्पादन करता हुआ, (४) पूर्वभावका नाश हो जानेपर भी ध्रुवपनेका अवलम्बन करनेसे अपादानपनेको प्राप्त करता हुआ, (५) उपजनेवाले परिणामरूप कर्मद्वारा आश्रियमाण होनेसे सम्प्रदानपनेको प्राप्त करता हुआ तथा (६) धारण किये जाते हुए परिणामका आधार होनेसे अधिकरणपनेको ग्रहण करता हुआ इस प्रकार स्वयं ही षट्कारकरूपसे अवस्थित होता हुआ अपनेसे भिन्न अन्य कारककी अपेक्षा नहीं रखता। उसी प्रकार जीव भी (१) भावपर्यायरूपसे प्रवर्तमान आत्मद्रव्यरूपसे कर्तृत्वको धारण करता हुआ, (२) भावपर्यायको प्राप्त करनेकी शक्तिरूपसे करणपनेको अङ्गीकार करता हुआ, (३) प्राप्य ऐसी भावपर्यायरूपसे कर्मपनेको स्वीकार करता हुआ, (४) पूर्व भावपर्यायका नाश होने पर भी ध्रुवत्वका अवलम्बन होनेसे अपादानपनेको प्राप्त होता हुआ, (५) उपजनेवाले भावपर्यायरूप कर्म द्वारा समाश्रियमाण होनेसे सम्प्रदानपनेको प्राप्त होता हुआ तथा (६) धारण की जाती हुई भावपर्यायका आधार होनेसे अधिकरणपनेको प्राप्त करता हुआ इस प्रकार स्वयं ही षट्कारकरूपसे अवस्थित होता हुआ अपनेसे भिन्न अन्य कारककी अपेक्षा नहीं रखता। इसलिए निश्चयसे कर्मरूप कर्ताका जीव कर्ता नहीं है और जीवरूप कर्ताका कर्म कर्ता नहीं है

यह पञ्चास्तिकायका उल्लेख है। इसी प्रकारका एक उल्लेख प्रवचनसारमें भी उपलब्ध होता है। वहाँ स्वयंभू शब्दकी

व्याख्या करते हुए गाथा १६ की टीकामें एक द्रव्यके आश्रयसे षट्कारककी प्रवृत्ति किस प्रकार होती है इसका व्याख्यान करते हुए जो टीका वचन उपलब्ध होता है वह इस प्रकार है—

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद् ग्रहीतकर्तृत्वाधिकारः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन् शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् सम्प्रदानत्वं दधानः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वावलम्बनादपादानत्वमुपाददानः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते । अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकसम्बन्धोऽस्ति । यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ॥१६॥

निश्चयसे यह आत्मा शुद्धोपयोगरूप भावनाके माहात्म्यवश समस्त घातिकर्मोंके नाश हो जानेसे शुद्ध अनन्त शक्तिरूप चित्स्वभावको प्राप्त होता है अतएव वह स्वयं शुद्ध अनन्त शक्तिरूप ज्ञायकस्वभावके द्वारा स्वतन्त्ररूपसे कर्तृत्वाधिकारको ग्रहण किये हुए है, वही स्वयं शुद्ध अनन्तशक्तिरूप ज्ञानके विपरिणमन स्वभावके द्वारा प्राप्य होनेसे कर्मपनेको धारण करता है, वही स्वयं शुद्ध अनन्तशक्तिरूप ज्ञानके विपरिणमन स्वभाव द्वारा साधकतम होनेसे करणपनेको धारण करता है, वही स्वयं शुद्ध अनन्तशक्तिरूप ज्ञानके विपरिणमन स्वभावद्वारा

कर्मसे आश्रियमाण होनेके कारण सम्प्रदानपनेको धारण करता है, वही स्वयं शुद्ध अनन्तशक्तिरूप ज्ञानके विपरिणमनरूप होनेके समयमें पूर्व प्रवृत्त विकलज्ञान स्वभावका अपगम होने पर भी सहज ज्ञान स्वभावके द्वारा ध्रुवपनेका अवलम्बन करनेके कारण अपादानपनेको धारण करता है और वही स्वयं शुद्ध अनन्त शक्तिरूप ज्ञानके विपरिणमन स्वभावका आधारभूत होनेसे अधिकरणपनेको आत्मसात् करता है। इस प्रकार स्वयं ही षट्कारकरूपसे उत्पन्न होता हुआ उत्पत्तिकी अपेक्षा द्रव्य और भावके भेदसे भेदको प्राप्त हुए घाति कर्मोंको दूर करके स्वयं ही आविर्भूत होनेसे 'स्वयंभू' कहा जाता है। इसलिए निश्चयसे आत्माका परके साथ कारकपनेका सम्बन्ध नहीं है। जिससे कि इसे शुद्धात्मरूप स्वभावकी प्राप्तिके लिए सामग्रीके खोजनेमें व्यग्र होकर परतन्त्र होना पड़े ॥१६॥

पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसारका यह कथन अपनेमें मौलिक होकर भी जीवन संशोधनमें निश्चयरूप षट्कारक व्यवस्थाका क्या स्थान है इसपर प्रकाश डालनेमें पर्याप्त समर्थ है। जब हम प्रवचनसारके उक्त कथनके अन्तिम अंशको पढ़ते हैं तब हमारी दृष्टि 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि' स्तुतिके इन पदोंपर स्वभावतः चली जाती है। उन पदों द्वारा पण्डितप्रवर दौलतरामजी मिथ्यादृष्टिकी आन्तरिक विचारसरणिको चित्रित करते हुए कहते हैं—

निजको परको करता पिछानि। परमें अनिष्टता इष्ट मानि।
आकुलित भयो अज्ञान धारि। ज्यो मृग मृगतृष्णा जानि वारि॥

तत्त्व विमर्शपूर्वक यह उनके हृदयका उद्घोष है। वास्तवमें आचार्यवर अमृतचन्द्रने निष्कर्षरूपमें जो कुछ कहा है उसका

यह निचोड़ है। ऐसा नियम है कि जहाँ पर आकुलता है वहीं पर परतन्त्रता है और जहाँ पर निराकुलता है वहीं पर स्वतन्त्रता है, क्योंकि आकुलताकी परतन्त्रताके साथ और निराकुलताकी स्वतन्त्रताके साथ व्याप्ति है। अतएव इस सब कथनके समुच्चय-रूपमें यहाँ निश्चय करना चाहिए कि जो निश्चय कथन है वह यथार्थ है, वस्तुभूत है और कर्ता, कर्म आदिकी वास्तविक स्थितिको सूचित करनेवाला है। तथा जो व्यवहार कथन है वह मूल वस्तुको स्पर्श करनेवाला न होनेसे उपचरित है, अभूतार्थ है और कर्ता-कर्म आदिकी वास्तविक स्थितिकी विडम्बना करनेवाला है। जो पुरुष व्यवहार कथनका आश्रय कर प्रवृत्ति करते हैं वे शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमें समर्थ नहीं होते अतएव संसारके ही पात्र बने रहते हैं और जो पुरुष इसके स्थानमें निश्चय कथन-का आश्रय कर प्रवृत्ति करते हैं वे क्रमशः मोक्षके पात्र होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीवके रागवश व्यवहार रत्नत्रयके आश्रयसे जो प्रवृत्ति होती है उसके क्रमशः छूटते जानेका यही कारण है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टिके व्यवहारधर्म होता तो अवश्य है पर वह उसका दृष्टिपूर्वक कर्ता नहीं होता। रागवश व्यवहार धर्ममें प्रवृत्ति करते समय भी वह कर्ता स्वभावभूत आत्मपरिणाम-का ही होता है। इस विषयपर विशेष प्रकाश हम कर्ता-कर्म अधिकारमें डाल ही आये हैं। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर आचार्यवर कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें यह वचन कहा है—

> कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
> परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

यदि श्रमण 'आत्मा ही कर्ता है, आत्मा ही कर्म है, आत्मा ही करण है और आत्मा ही फल (सम्प्रदान) है' ऐसा निश्चय

करके अन्यरूप परिणमित नहीं ही हो तो वह शुद्ध आत्माको उपलब्ध करता है ॥१२६॥

समग्र कथनका तात्पर्य यह है कि संसाररूप अवस्थाके होनेमें जहाँ निश्चय पट्कारक होता है वहाँ व्यवहार पट्कारक होता ही है। वह मिथ्यादृष्टिके भी होता है और सम्यग्दृष्टिके भी होता है। उसका निषेध नहीं। परन्तु अनादि कालसे यह जीव निश्चय पट्कारकको भूलकर अपने विकल्प द्वारा मात्र व्यवहार पट्-कारकका अवलम्बन करता आ रहा है, इसलिए वह संसारका पात्र बना हुआ है। इसे अब पुरुपार्थ द्वारा अपनी दृष्टि बदलकर निश्चय पट्कारकका अवलम्बन लेना है, क्योंकि ऐसी दृष्टि बनाये बिना और तदनुकूल स्वभावचारित्रका आश्रय लिए बिना इसे शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए जीवन संशोधनमें निश्चय पट्कारकका अवलम्बन करना ही कार्यकारी है ऐसा यहाँपर समझना चाहिए।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि ऐसी बात है तो पञ्चास्तिकाय गाथा १७२ की टीकामें 'अनादिकालसे भेदवासित बुद्धि होनेके कारण प्राथमिक जीव व्यवहारनयसे भिन्न साधन-साध्यभावका अवलम्बन लेकर सुखसे तीर्थका प्रारम्भ करते हैं' ऐसा क्यों कहा। टीका वचन इस प्रकार है—

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्य-साधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।

समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवोंकी दृष्टि तो एकमात्र ज्ञायकभावपर ही रहती है। उसका उनके कदाचित् भी त्याग नहीं होता। फिर भी रागवश उनके तीर्थ सेवनकी प्राथमिक दशामें बीच-बीचमें जितने कालतक आंशिक शुद्धिके साथ साथ

परावलम्बी विकल्प होते हैं उतने कालतक वे भिन्न साध्य-साधन भावका भी अवलम्बन लेते हैं। परन्तु इसे वे मोक्षका उपाय नहीं समझकर मात्र निश्चय षट्कारकके अवलम्बन लेनेको ही अपना तरणोपाय मानते हैं, इसलिए वे उतने कालतक भिन्न साध्य-साधनभावका अवलम्बन लेनेपर भी मार्गस्थ ही हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके प्राथमिक अवस्थामें देव, गुरु, शास्त्र और शुभाचारके निमित्तसे तो राग होता ही है। साथ ही वह पाँच इन्द्रियोंके विषयोंके निमित्तसे भी होता है। किन्तु उसमें उसका अनुबन्ध न होनेसे वह उसका कर्ता नहीं होता। इसलिए वह पश्चात्तापवश ऐसे नष्ट होजाता है जैसे सूर्य किरणोंका निमित्त पाकर हरिद्राका रंग नष्ट होजाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए मूलाचार अनगारभावनाधिकार गाथा १०६ की टीकामें मूलका स्पष्टीकरण करते हुए कहा भी है—

यद्यपि कदाचिद्रागः स्यात्तथापि पुनरनुबन्धं न कुर्वन्ति, पश्चात्तापेन तत्क्षणादेव विनाशमुपयाति हरिद्रारक्तवस्त्रस्य पीतप्रभा रविकिरणस्पृष्टेवेति।

यद्यपि यह हम मानते हैं कि इन्द्रिय विषयक रागसे देवादि-विषयक राग प्रशस्त माना गया है। परन्तु केवल इस कारणसे उसे उपादेय मानना उचित नहीं है। रागका अवलम्बन कुछ भी क्यों न हो परन्तु वह बन्धपर्यायरूप होनेसे हेय ही है। देवादिक तो अन्य हैं। उनकी बात छोड़िये। जहाँ अपनी आत्मा विषयक राग ही हेय माना गया है वहाँ अन्य पदार्थ विषयक राग उपादेय होगा यह कैसे सम्भव हो सकता है। इस प्रकार व्यवहार और निश्चयके आश्रयसे षट्कारककी प्रवृत्तिका वास्तविक रहस्य क्या है इसकी मीमांसा की।

क्रमनियमितपर्यायमीमांसा

उपादानके योगसे नियमित वरते जीव ।
श्रद्धामें यों लखत ही पावे मोक्ष अतीव ॥

अनेक युक्तियों और आगमके आश्रयसे पूर्वमें हम यह बतला आये हैं कि उपादानके कार्यरूपसे परिणत होनेके समय ही निमित्तका स्थान है, अन्य समयमें नहीं, क्योंकि लोकमें जिन्हें निमित्त कहकर उनके मिलानेकी बात कही जाती है उनके साथ सर्वदा और सर्वत्र कार्यकी व्याप्ति नहीं देखी जाती। इसलिए उपादानके अनुसार कार्य होकर भी उसका क्रम क्या है इसका यहाँ विचार करना है। हम पिछले एक प्रकरणमें यह भी लिख आये हैं कि कार्योत्पत्तिमें स्वभाव आदि पांच कारणोंका समवाय कारण पड़ता है किन्तु उनमेंसे स्वभाव, पुरुषार्थ, काल और कर्म (निमित्त) इनमेंसे किसीके सम्बन्धमें संक्षेपमें और किसीके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया पर कार्योत्पत्तिके क्रमके सम्बन्धमें अभीतक कुछ भी नहीं लिखा, इसलिए यहाँपर क्रमनियमित पर्याय इस प्रकरणके अन्तर्गत इसका विचार करना है। यह तो सुनिश्चित है कि लोकमें सब कार्योंके विषयमें दो प्रकारकी विचार-धाराएं पाई जाती हैं। एक विचारधाराके अनुसार सब कार्य नियत समयपर ही होते हैं। जैसे सूर्यका उदय और अस्त होना यह नियत क्रमको लिए हुए है। जिस दिन जिस समयपर सूर्यके उदय होनेका नियम है सदासे उस दिन वह उसी समय होता है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इसी प्रकार उसके अस्त

होनेके समयकी व्यवस्था है। हम पहलेसे प्रतिदिन सूर्यके उगने और अस्त होनेके समयका निश्चय इसी आधारपर कर लेते हैं। तथा इसी आधारपर चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय और स्थानका भी निश्चय कर लेते हैं। किस ऋतुमें किस दिन कितने घंटे, मिनट और पलका दिन या रात्रि होगी यह ज्ञान भी हमें इसीसे होजाता है। ज्योतिषज्ञान और निमित्तज्ञानकी सार्थकता भी इसीमें है। किसी व्यक्तिकी जीवनी या खास घटना पंचाङ्ग या ज्योतिषग्रन्थमें लिखी नहीं रहती। व्यक्ति अगणित हैं। उनकी जीवन घटनाओंका तो पारावार नहीं, इसलिए वे पंचाङ्गमें या ज्योतिषके ग्रन्थोंमें लिखी भी नहीं जा सकतीं। फिर भी उनमें प्रकृति और ज्योतिष-मण्डलके अध्ययनसे कुछ ऐसे तथ्य संकलित किए गये हैं जिनके आधारपर प्रत्येक व्यक्तिकी आगामी खास घटनाओंका पता लग जाता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें जो भी खास घटना होती है जो उस व्यक्तिकी जीवनधाराको ही बदल देती है उसे आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। चाहे देखनेमें वह आकस्मिक भले ही लगे पर होती है वह अपने नियत क्रमके अन्तर्गत ही। ऐसे विचारवाले व्यक्ति इसके समर्थनमें कुछ शास्त्रीय उदाहरण भी उपस्थित करते हैं। प्रथम उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि जब भगवान् ऋषभदेव इस धरणीतलपर विराजमान थे तभी उन्होंने मरीचिके सम्बन्धमें यह भविष्यवाणी कर दी थी कि वह आगामी तीर्थङ्कर होगा और वह हुआ भी। दूसरा उदाहरण वे द्वारकादाहका उपस्थित करते हैं। यह भगवान् नेमिनाथको केवल-ज्ञान उत्पन्न होनेके बादकी घटना है। उन्होंने केवलज्ञानसे जानकर एक प्रश्नके उत्तरमें कहा था कि आजसे बारह वर्षके अन्तमें मदिरा और द्वीपायन मुनिके योगसे द्वारकादाह होगा और वह कार्य भी उनकी भविष्यवाणीके अनुसार हुआ। इस भविष्यवाणीको विफल

करनेके लिए यादवोंने कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा था। परन्तु उनकी भविष्यवाणी सफल होकर ही रही। तीसरा उदाहरण वे श्रीकृष्णकी मृत्युका उपस्थित करते हैं। श्रीकृष्णकी मृत्यु भगवान् नेमिनाथने जरत्कुमारके बाणके योगसे बतलाई थी। जरत्कुमारने उसे बहुत टालना चाहा। इस कारण वह अपना घरद्वार छोड़कर जंगल-जंगल भटकता फिरा। परन्तु अन्तमें जो होना था वह होकर ही रहा। कहीं भगवान्‌की भविष्यवाणी विफल हो सकती थी। चौथा उदाहरण वे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुका उपस्थित करते हैं। जब भद्रबाहु बालक थे तब वे अपने दूसरे साथियोंके साथ जिस समय गोलियोंसे खेल रहे थे उसी समय विशिष्ट निमित्तज्ञानी एक आचार्य वहाँसे निकले। उन्होंने देखा कि बालक भद्रबाहुने अपने बुद्धिकौशलसे एकके ऊपर एक इस प्रकार चौदह गोलियां चढ़ाकर अपने साथी सब बालकोंको आश्चर्यचकित कर दिया है। यह देखकर आचार्यने अपने निमित्तज्ञानसे जानकर यह भविष्यवाणी की कि यह बालक ग्यारह अंग और चौदह पूर्वका पाठी अन्तिम श्रुतकेवली होगा और उनकी वह भविष्यवाणी सफल हुई। पुराणोंमें चक्रवर्ती भरत और चन्द्रगुप्त सम्राटके स्वप्न अंकित हैं। वहां उनका फल भी लिखा हुआ है। तीर्थंकरके गर्भमें आनेके पूर्व उनकी माताको जो सोलह स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं वे भी गर्भमें आनेवाले बालकके भविष्यके सूचक माने गये हैं। इसके सिवा पुराणोंमें अगणित प्राणियोंके भविष्य वृतान्त संकलित हैं जिनमें बतलाया गया है कि कौन कब क्या पर्याय धारण कर कहां कहां उत्पन्न होगा, यह सब क्या है? उनका कहना है कि यदि प्रत्येक व्यक्तिका जीवनक्रम सुनिश्चित नहीं हो तो निमित्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र या अन्य विशद ज्ञानके आधारसे यह सब कैसे जाना जा सकता है? यतः भविष्य-

सम्बन्धी घटनाओंके होनेके पहले ही वे जाने जाते हैं ऐसा शास्त्रोंमें उल्लेख है और वर्तमानमें भी ऐसे वैज्ञानिक उपकरण या अन्य साधन उपलब्ध हैं जिनके आधारसे अंशतः या पूरी तरहसे भविष्यत्सम्बन्धी कुछ घटनाओंका ज्ञान किया जा सकता है और किया जाता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि जिस द्रव्यका परिणमन जिसरूपमें जिन हेतुओंसे जब होना निश्चित है वह उसी क्रमसे होता है। उसमें अन्य कोई परिवर्तन नहीं कर सकता।

किन्तु इसके विपरीत दूसरी विचारधारा यह है कि लोकमें स्थूल और सूक्ष्म जितने भी कार्य होते हैं वे सब क्रमनियमित ही होते हैं ऐसा कोई एकान्त नहीं है। कई कार्य तो ऐसे होते हैं जो अपने-अपने स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं। जैसे शुद्ध द्रव्योंकी प्रति समयकी पर्याय अपने-अपने स्वकालमें ही होती है, क्योंकि उनके होनेमें कारणभूत अन्य कोई बाह्य निमित्त न होनेसे उनके स्वकालमें होनेमें कोई बाधा नहीं आती। किन्तु संयुक्त द्रव्योंकी सब या कुछ पर्यायें बाह्य निमित्तों पर अवलम्बित हैं, इसलिए वे सब अपने-अपने उपादानके अनुसार एक नियत क्रमको लिये हुए ही होती हैं ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि वे बाह्य निमित्तोंके बिना हो नहीं सकती और निमित्त पर हैं, इसलिए जब जैसी साधन सामग्रीका योग मिलता है उसीके अनुसार वे होती हैं और इसका कोई नियम नहीं है कि कब कैसी बाह्य सामग्री मिलेगी, इसलिए संयुक्त द्रव्योंकी पर्यायें सुनिश्चित क्रमसे ही होती हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा माननेवालोंके कहनेका अभिप्राय यह है कि संयुक्त द्रव्योंकी सब पर्यायें बाह्य साधनोंपर अवलम्बित होनेके कारण उनमेंसे कुछ पर्यायोंका जो क्रम नियत है उसीके

अनुसार वे होती हैं और वीच-वीचमें कुछ पर्यायें अनियत क्रमसे भी होती हैं। इसकी पुष्टिमें वे लौकिक और शास्त्रीय दोनों प्रकारके प्रमाण उपस्थित करते हैं। लौकिक प्रमाणोंको उपस्थित करते हुए वे कहते हैं कि भारतवर्षमें छह ऋतुओंका होना सुनिश्चित है और उनका समय भी निश्चित है। साथ ही प्रतिवर्ष अधिकतर ऋतुऐं समयपर होती भी हैं। परन्तु कभी कभी वाह्य प्रकृतिका ऐसा विलक्षण प्रकोप होता है जिससे उनका क्रम उलट-पलट हो जाता है। दूसरा उदाहरण वे अणुवमों और हाइड्रोजन वमों आदि संहारक अस्त्रोंका उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकारके संहारक अस्त्रोंका प्रयोग करनेसे दुनियाका जो नियत जीवनक्रम चल रहा है वह एक क्षणमें वदलकर वड़ाभारी व्यतिक्रम उपस्थित कर देता है। वर्तमानमें जो विज्ञानकी प्रगति दिखलाई पड़ रही है उससे कुछ काल वाद जलके स्थानमें स्थल और स्थलके स्थानमें जलरूप विलक्षण परिवर्तन होता हुआ दिखलाई देना अशक्य नहीं है। मनुष्य उसके वलसे हवा, पानी, अन्तरीक्ष और नक्षत्रलोक इन सवपर विजय प्राप्त करता हुआ चला जा रहा है। वाह्य सामग्री क्या कर सकती है इसके नये-नये करतव प्रतिदिन होते हुए दिखलाई दे रहे हैं। केवल वे लौकिक उदाहरण उपस्थित करके ही इस विचारधाराका समर्थन नहीं करते। किन्तु वे इस सम्वन्धमें शास्त्रीय प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि सव द्रव्योंकी पर्यायें क्रमनियत ही हैं तो केवल देव, नारकी, भोग-भूमिज मनुष्य-तिर्यंच तथा चरम शरीरी मनुष्योंकी आयुको अनपवर्त्य कहना कोई मतलव नहीं रखता। जव सव जीवोंका जन्म और मरण तथा अन्य कार्यक्रम नियमित है तव किसीकी भी आयुको अपवर्त्य नहीं कहना चाहिए। यतः शास्त्रोंमें विप-

भक्षण, रक्तक्षय, तीव्र वेदना और भय आदि कारणोंके उपस्थित होनेपर कर्मभूमिज मनुष्यों और तिर्यंचोंकी नियत आयु पूरी हुए विना भी वीचमें मरण देखा जाता है और यही देखकर शास्त्रकारोंने अकालमरणके इन साधनोंका निर्देश भी किया है अतः सब पर्यायें क्रम नियमित ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। अपने इस पक्षके समर्थनमें वे उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षणको भी उपस्थित करते हैं। उदीरणाका अर्थ ही कर्मका नियत समयसे पहले फल देना है। लोकमें आम पाक दो प्रकारसे होता है। कोई आम वृक्षमें लगे लगे ही नियत समय पर पकता है और किसी आमको पकनेसे पहले ही तोड़कर पकाया जाता है। कर्मोंके उदय और उदीरणामें भी यही अन्तर है। उदय स्थितिके अनुसार नियत समयपर होता है और उदीरणा समयसे पहले हो जाती है। उत्कर्षण और अपकर्षणका भी यही हाल है। इतना अवश्य है कि उत्कर्षणमें नियत समयमें वृद्धि हो जाती है और अपकर्षणमें नियत समयको घटा दिया जाता है। संक्रमणमें नियत समयके घटाने-बढ़ानेकी बात तो नहीं होती पर उसमें संक्रमित होनेवाले कर्मका स्वभाव ही बदल जाता है। इसलिए द्रव्योंकी सब पर्यायें क्रमनियत हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वे लोग अपने पक्षके समर्थनमें यह भी कहते हैं कि यदि ऐसा माना जाय कि जिस द्रव्यकी जो पर्याय जिस समय होनी है वह उसी समय होती है। अर्थात् जिसे जब नरक जाना है उस समय वह नरक जायगा ही। जिसे जब स्वर्ग मिलना है उस समय वह मिलेगा ही और जिसे जब मोक्ष जाना है तब वह जायगा ही तो फिर सदाचार, व्रत, नियम, संयम और पूजा

पाठका उपदेश क्यों दिया जाता है और क्यों इन सबका आचरण करना श्रेष्ठ माना जाता है ? उनके कहनेका तात्पर्य यह है कि जब सब शुभाशुभ कार्य नियत समय पर ही होते हैं तब वे अपना समय आने पर होंगे ही, उनके लिए अलगसे प्रयत्न करना या उपदेश देना निष्फल है। किन्तु सर्वथा ऐसा नहीं है, क्योंकि लोकमें प्रयत्न और उपदेश आदिकी सफलता देखी जाती है, अतः यह सिद्ध होता है कि जब जैसी साधन सामग्री मिलती है तब उसके अनुसार ही कार्य होता है। कब क्या साधन सामग्री मिलेगी और तदनुसार कब क्या कार्य होगा इसका न तो कोई क्रम ही निश्चित किया जा सकता है और न समय ही। शास्त्रोंमें नियतिवादको जो मिथ्या कहा गया है उसका यही कारण है।

ये दो प्रकारकी विचारधाराएँ हैं जो अनादि कालसे लोकमें प्रचलित हैं। किन्तु इनमेंसे कौन विचारधारा यदि ठीक है तो कहाँ तक ठीक है और यदि ठीक नहीं है तो क्यों ठीक नहीं है इसका विस्तारके साथ आगम प्रमाणके आधारसे प्रकृतमें विचार करते हैं। हम पहले 'निमित्त-उपादानमीमांसा' नामक प्रकरणमें सिद्ध कर आये हैं कि प्रत्येक कार्य अपने उपादानके अनुसार ही होता है और जब जो कार्य होता है उसके अनुकूल निमित्त मिलते ही हैं। यद्यपि जो कार्य पुरुष प्रयत्न सापेक्ष होते हैं उनमें वे मिलाये जाते हैं ऐसा उपचारसे कहा जाता है पर यह कोई एकान्त नहीं है कि प्रयत्न करनेपर निमित्त मिलते ही हैं। उदाहरणार्थ कई बालक स्कूल पढ़नेके लिये जाते हैं और उन्हें अध्यापक मनोयोग पूर्वक पढ़ाता भी है। पढ़नेमें पुस्तक आदि जो अन्य साधन सामग्री निमित्त होती है वह भी उन्हें सुलभ

रहती है। फिर भी अपने पूर्व संस्कारवश कई बालक पढ़नेमें तेज निकलते हैं कई मध्यम होते हैं, कई मट्ठ होते हैं और कई नियमित रूपसे, स्कूल जाकर भी पढ़नेमें समर्थ नहीं होते। इसका कारण क्या है ? जिस बाह्य साधन सामग्रीको लोकमें कार्योत्पादक कहा जाता है वह सबको सुलभ है और वे पढ़नेमें परिश्रम भी करते हैं। फिर वे एक समान क्यों नहीं पढ़ते। यह कहना कि सबका ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम एक-सा नहीं होता, इसलिये सब एक समान पढ़नेमें समर्थ नहीं होते ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसमें भी तो वही प्रश्न होता है कि जब सबको एक समान बाह्य सामग्री सुलभ है तब सबका एक समान क्षयोपशम क्यों नहीं होता ? जो लोग बाह्य सामग्रीको कार्योत्पादक मानते हैं उनको अन्तमें इस प्रश्नका ठीक उत्तर प्राप्त करनेके लिये योग्यता पर ही आना पड़ता है। तब यही मानना पड़ता है कि जब योग्यताका पुरुषार्थ द्वारा कार्यरूप परिणत होनेका स्वकाल आता है तब उसमें निमित्त होनेवाली बाह्य साधन सामग्री भी मिल जाती है। कहीं वह साधन सामग्री अनायास मिलती है और कहीं वह प्रयत्नसापेक्ष मिलती है। पर वह मिलती अवश्य है। जहाँ प्रयत्नसापेक्ष मिलती है वहाँ उसके निमित्तसे होनेवाले उस कार्यमें प्रयत्नकी मुख्यता कही जाती है और जहाँ बिना प्रयत्नके मिलती है वहां दैवकी मुख्यता कही जाती है। उपादानकी दृष्टिसे कार्योत्पादनक्षम योग्यताका स्वकाल दोनों जगह अनुस्यूत है यह निश्चित है।

शास्त्रोंमें अभव्य द्रव्य मुनियोंके बहुतसे उदाहरण आते हैं। वे चरणानुयोगमें द्रव्य संयमके पालनेकी जो विधि बतलाई है उसके अनुसार आचरण करते हुए भी भावसंयमके पात्र क्यों

नहीं होते ? उनमें किस बातकी कमी है ? उत्तर स्वरूप यही मानना पड़ता है कि उनमें रत्नत्रयको उत्पन्न करनेकी योग्यता ही नहीं है, इसलिये वे तपश्चरण आदि व्यवहारसाधनमें अनुरागी होकर प्रयत्न भले ही करते हों पर मोक्षके अनुरूप सम्यक् पुरुषार्थके वे अधिकारी न होनेसे न तो भावसंयमके पात्र होते हैं और न मोक्षके ही पात्र होते हैं। इस प्रकार इस उदाहरणको दृष्टिपथमें रख कर यदि हम अपने अन्तश्चक्षुओंको खोल कर देखें तो हमें सर्वत्र इस योग्यताका ही साम्राज्य दिखलाई देता है। इसके होने पर जिसे लोकमें छोटासे छोटा निमित्त कहा जाता है वह भी कार्योत्पत्तिमें साधक बन जाता है और इसके अभावमें जिसे बड़ेसे बड़ा निमित्त कहा जाता है वह भी बेकार साबित होता है। कार्योत्पत्तिमें उपादानगत योग्यताका अपना मौलिक स्थान है।

शास्त्रोंमें आपने 'तुप-मास भिन्न' की कथा भी पढ़ी होगी। वह प्रतिदिन गुरुकी सेवा करता है, अट्ठाईस मूलगुणोंका नियमित ढंगसे पालन करता है फिर भी उसे द्रव्यश्रुतकी प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं वह 'तुप-मास भिन्न' पाठका घोष करता हुआ केवली तो हो जाता है परन्तु द्रव्यश्रुतकी प्राप्ति नहीं होती, क्यों ? क्योंकि उसमें द्रव्यश्रुतको उत्पन्न करनेकी योग्यता नहीं थी। इसके सिवा यदि अन्य कोई कारण हो तो बतलाइये। इससे कार्योत्पत्तिमें योग्यताका क्या स्थान है इसका सहज ही पता लग जाता है।

श्री जयधवलामें भगवान् महावीरको केवलज्ञान होने पर ६६ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी यह प्रश्न उपस्थित कर कहा गया है कि गणधरके न होनेसे दिव्यध्वनि नहीं खिरी। इस पर पुनः प्रश्न किया गया कि देवेन्द्रने उसी समय गणधरको

क्यों उपस्थित नहीं किया ? इसका जो समाधान किया गया है उसका भाव यह है कि काललब्धिके बिना देवेन्द्र गणधरको उपस्थित करनेमें असमर्थ था। इससे भी कार्योत्पत्तिमें उपादानगत योग्यताका सर्वोपरि स्थान है इसका ज्ञान हो जाता है। जयधवलाका वह सन्दर्भ इस प्रकार है—

दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती ? गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो ? ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो।

वह योग्यता किसी उपादानमें होती हो और किसी उपादानमें नहीं होती हो ऐसा नहीं है। किन्तु ऐसा है कि प्रत्येक समयके अलग-अलग जितने उपादान हैं उतनी योग्यताएं भी हैं, क्योंकि इनके बिना एक कार्यके उपादानसे दूसरे कार्यके उपादानमें भेद करना सम्भव नहीं है। यतः एक उपादानका कार्य दूसरे उपादानके कार्यसे भिन्न होता है, अतः कार्यभेदके अनुसार उपादान भेदकी नियामक उसकी स्वतन्त्र योग्यता माननी ही पड़ती है। इसके समर्थनमें हम पिछले प्रकरणोंमें प्रमाण दे ही आये हैं और आगे भी विचार करनेवाले हैं।

यहां पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिन शास्त्रोंके आधारसे आप योग्यताका समर्थन करते हो उन्हीं शास्त्रोंमें ऐसा कथन भी तो उपलब्ध होता है कि निमित्त होनेसे कार्य नहीं हुआ। उदाहरणार्थ सिद्ध जीव लोकान्तसे उपर क्यों गमन नहीं करते यह प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारमें यह उत्तर दिया है कि लोकके बाहर धर्मास्तिकाय न होनेसे वे लोकान्तसे ऊपर अलोकाकाशमें गमन नहीं करते। आचार्य गृद्धपिच्छने भी तत्वार्थसूत्रमें 'धर्मास्तिकायाभावात्'

इस सूत्रकी रचना कर यही उत्तर दिया है। तथा लोकालोकके विभागके कारणका निर्देश करते हुए अन्यत्र भी यही बात कही गई है, इसलिए इस आधारसे यदि यह निष्कर्ष फलित किया जाय कि उपादान कारणका सद्भाव होनेपर भी यदि निमित्तकारणका अभाव हो तो विवक्षित कार्य नहीं होता तो क्या आपत्ति है? न्यायशास्त्रमें जो 'सामग्री कार्यजनिका, नैकं कारणम्' यह वचन आता है वह भी इसी अभिप्रायका समर्थन करता है। समाधान यह है कि शास्त्रोंमें यह तो स्पष्टरूपसे ही स्वीकार किया गया है कि धर्मास्तिकाय गतिक्रियामें तभी निमित्त होता है जब अन्य द्रव्य गतिक्रिया परिणत होते हैं। यदि अन्य द्रव्य गतिक्रिया परिणत न हों तो वह निमित्त नहीं होता। इससे यह बात तो स्पष्ट हुई कि जहाँ तक जीव और पुद्गल अपनी स्वतन्त्रतापूर्वक गमन करते हैं वहीं तक वह उनके गतिपरिणमनमें निमित्त होता है। इसलिये नियमसार और तत्त्वार्थसूत्रमें उक्त प्रश्नके उत्तरस्वरूप उपादानकी दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता था कि आगे गमन करनेकी जीवमें योग्यता न होनेसे वह लोकान्तमें ही ठहर जाता है। पर यह उत्तर न देकर वहाँ पर निमित्तकी अपेक्षासे उत्तर दिया गया है सो वहाँ ऐसा उत्तर देनेके दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम तो यह कि सिद्ध होनेके पूर्व तेरहवें गुणस्थान तक जीवके प्रदेशोंमें जो कम्प होता है और चौदहवें गुणस्थानमें उसका स्थान जो निष्कम्पता ले लेती है सो वहाँपर उनके निमित्त केवल धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ही नहीं हैं, किन्तु इनके साथ अन्य निमित्त भी हैं। परन्तु यहाँपर गतिक्रियामें अन्य निमित्तोंका सर्वथा अभाव होकर एकमात्र धर्मद्रव्य ही निमित्त है। इस प्रकार यहाँपर केवल धर्मद्रव्यकी निमित्तता दिखलानेके लिये नियमसार और तत्त्वार्थसूत्र आदिमें उक्त उत्तर

दिया गया है। दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि इसके पहले आचार्य कुन्दकुन्द उसी नियमसारमें शुद्ध द्रव्योंकी पर्यायोंको परनिरपेक्ष बतला आये हैं। इसलिये यदि कोई उक्त कथनका यह अर्थ करे कि शुद्ध द्रव्योंकी जो भी पर्यायें होती हैं या गतिक्रिया होती है उनमें धर्मादिक द्रव्य भी निमित्त नहीं होते यह पर्यायोंको परनिरपेक्ष कहनेका तात्पर्य है तो उसका उक्त कथनसे ऐसा तात्पर्य निकालना ठीक नहीं है, इसलिये यहाँपर उपादान कारणकी दृष्टिसे उत्तर न देकर निमित्तकी मुख्यतासे उत्तर दिया गया है। अतः नियमसार और तत्त्वार्थसूत्रके उक्त कथनके आधारसे यह फलित करना उचित नहीं है कि उपादान कारणका सद्भाव होने पर भी यदि निमित्त न हो तो कार्य न होगा। कारण कि विवक्षित उपादानके कार्यरूपसे परिणत होनेके साथ विवक्षित निमित्तकी समव्याप्ति है। फिर भी कार्योत्पत्तिमें मुख्यता उपादानकी ही है, क्योंकि वह स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। निमित्त उसे यत्किंचित् भी अपना अंश प्रदान नहीं करता। निमित्तकी निमित्तता इसी अर्थमें चरितार्थ है, वह कार्यका उत्पादक है इस अर्थमें नहीं। निमित्तमें कार्योत्पादक गुणका आरोप कर कथन करना अन्य बात है।

यहाँपर इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए जो हमने तर्क दिये हैं वे क्यों ठीक हैं इसे विशदरूपसे समझनेके लिए पञ्चास्तिकायकी ८९वीं गाथा और उसकी टीका ज्ञातव्य है। गाथा इस प्रकार है—

> विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
> ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥८९॥

जिनकी गति होती है उनकी पुनः स्थिति होती है (और

जिनकी स्थिति होती है उनकी यथासम्भव पुनः गति होती है), इसलिए वे गति और स्थिति करनेवाले पदार्थ अपने परिणामोंसे ही गति और स्थिति करते हैं ॥८९॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

धर्माधर्मयोरौदासीन्ये हेतूपन्यासोऽयम् । धर्मः किल न जीव-पुद्गलानां कदाचिद् गतिहेतुत्वमभ्यसति, न कदाचित् स्थितिहेतुत्व-मधर्मः । तौ हि परेषां गति-स्थित्योर्यदि मुख्यहेतू स्यातां तदा येषां गति-स्तेषां गतिरेव न स्थितिः, येषां स्थितिस्तेषां स्थितिरेव न गतिः । तत एकेषामपि गति-स्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू । किन्तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ । कथमेवं गति-स्थितिमतां पदार्थानां गति-स्थिती भवत इति चेत्, सर्वे हि गति-स्थितिमन्तः पदार्थाः स्वपरि णामैरेव निश्चयेन गति-स्थिती कुर्वन्तीति ॥८६॥

यह धर्म और अधर्म द्रव्यकी उदासीनताके सम्बन्धमें हेतु कहा गया है। वास्तवमें (निश्चयसे) धर्मद्रव्य कभी भी जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें हेतु नहीं होता और अधर्म द्रव्य कभी भी उनकी स्थितिमें हेतु नहीं होता। यदि वे दूसरोंकी गति और स्थितिके मुख्य हेतु हों तो जिनकी गति हो उनकी गति ही रहनी चाहिए, स्थिति नहीं होनी चाहिए और जिनकी स्थिति हो उनकी स्थिति ही रहनी चाहिए, गति नहीं होनी चाहिए। किन्तु अकेले एक पदार्थकी भी गति और स्थिति देखी जाती है इसलिए अनुमान होता है कि वे (धर्म और अधर्म द्रव्य) गति और स्थितिके मुख्य हेतु नहीं हैं। किन्तु व्यवहारनयसे स्थापित उदासीन हेतु हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो गति और स्थितिवाले पदार्थोंकी गति और स्थिति किस प्रकार होती है ?

समाधान—वास्तवमें गति और स्थिति करनेवाले पदार्थ अपने-अपने परिणामोंसे ही निश्चयसे गति और स्थिति करते हैं।

यह पञ्चास्तिकाय और उसकी टीकाका वक्तव्य है। इसके सन्दर्भमें नियमसार और तत्त्वार्थसूत्रके उक्त कथनको पढ़ने पर ज्ञात होता है कि उन (नियमसार और तत्त्वार्थसूत्र आदि) ग्रन्थोंमें जो यह कहा गया है कि सिद्ध जीव लोकान्तसे ऊपर धर्मास्तिकाय न होनेसे गमन नहीं करते सो यह व्यवहारनय (उपचारनय) का ही वक्तव्य है जो केवल वहाँतक निमित्तताके दिखलानेके लिए किया गया है। मुख्य हेतु तो अपना-अपना उपादान ही है। मुख्य हेतु कहो, निश्चय हेतु कहो या उपादान हेतु कहो एक ही तात्पर्य है। स्पष्ट है कि जिस कालमें उपादान की जितने क्षेत्र तक गमन करनेकी या जिस क्षेत्रमें स्थित होनेकी योग्यता होती है उस कालमें वह पदार्थ उतने ही क्षेत्र तक गमन करता है और उस क्षेत्रमें स्थित होता है। यह परमार्थ सत्य है। परन्तु जब वह गमन करता है या स्थित होता है तब धर्म द्रव्य गमनमें और अधर्म द्रव्य स्थित होनेमें उपचरित हेतु होता है, इसलिए प्रयोजन विशेषवश यह भी कह दिया जाता है कि सिद्ध जीव लोकान्तके ऊपर धर्मास्तिकाय न होनेसे गमन नहीं करते। यद्यपि इस कथनमें उपचरित हेतुकी मुख्यतासे कथन किया गया है। पर इस परसे यह फलित करना उचित नहीं है कि उस कालमें उपादानकी योग्यता तो आगे भी जानेकी थी पर उपचरित हेतु न होनेसे सिद्ध जीवोंका और ऊपर गमन नहीं हुआ, क्योंकि उससे ऐसा अर्थ फलित करनेपर जो अर्थ विपर्यास होता है उसका वारण नहीं किया जा सकता। अतएव परमार्थरूपमें यही मानना उचित है कि वस्तुतः कार्य तो प्रत्येक समयमें अपने उपादानके अनुसार ही होता है। किन्तु जब कार्य होता है तब अन्य द्रव्य स्वयमेव

उसमें उपचरित हेतु होता है। किसी कार्यका मुख्य हेतु हो और उपचरित हेतु न हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब जिस कार्यका मुख्य हेतु होता है तब उसका उपचरित हेतु होता ही है ऐसा नियम है। भावलिङ्गके होनेपर द्रव्यलिङ्ग नियमसे होता है यह विधि इसी आधारपर फलित होती है। यह हम मानते हैं कि शास्त्रोंमें लोकालोकका विभाग उपचरित हेतुके आधारसे बतलाया गया है। परन्तु वह व्याख्यान करनेकी एक शैली है, जिससे हमें यह बोध हो जाता है कि गतिमान जीवों और पुद्गलोंका निश्चयसे लोकान्त तक ही गमन होता है, लोकके बाहर स्वभावसे उनका गमन नहीं होता।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक उपादान अपनी अपनी स्वतन्त्र योग्यता सम्पन्न होता है और उसके अनुसार प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रत्येक समयका उपादान पृथक् पृथक् है, इसलिए उनसे क्रमशः जो-जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे अपने-अपने कालमें नियत हैं। वे अपने अपने समयमें ही होती हैं आगे-पीछे नहीं होतीं इस बातको स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य प्रवचनसार गाथा ९९ की टीकामें कहते हैं:—

यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामिनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयात् पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात् त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति। तथैव हि परीगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात् पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात् त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति।

जिस प्रकार विवक्षित लम्बाईको लिए हुए लटकती हुई मोतीकी मालामें अपने अपने स्थानमें चमकते हुए सभी मोतियोंमें आगे आगेके स्थानोंमें आगे आगेके मोतियोंके प्रगट होनेसे अतएव पूर्व-पूर्वके मोतियोंके अस्तंगत होते जानेसे तथा सभी मोतियोंमें अनुस्यूतिके सूचक एक डोरेके अवस्थित होनेसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य प्रसिद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार स्वीकृत नित्यवृत्तिसे निवर्तमान द्रव्यमें अपने अपने कालमें प्रकाशमान होनेवाली सभी पर्यायोंमें आगे आगेके कालोंमें आगे आगेकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेसे अतएव पूर्व पूर्व पर्यायोंका व्यय होनेसे तथा इन सभी पर्यायोंमें अनुस्यूतिको लिए हुए एक प्रवाहके अवस्थित होनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्य प्रसिद्धिको प्राप्त होता है।

यह प्रवचनसारकी टीकाका उद्धरण है जो कि प्रत्येक द्रव्यमें उत्पादादि त्रयके समर्थनके लिए आया है। इसमें द्रव्यस्थानीय मोतीकी माला है, उत्पाद-व्ययस्थानीय मोती हैं और अन्वय (उर्ध्वतासामान्य) स्थानीय डोरा है। जिस प्रकार मोतीकी मालामें सभी मोती अपने अपने स्थानमें चमक रहे हैं। गणनाक्रमसे उनमेंसे पीछे-पीछेका एक-एक मोती अतीत होता जाता है और आगे आगेका एक-एक मोती प्रगट होता जाता है। फिर भी सभी मोतियोंमें डोरा अनुस्यूत होनेसे उनमें अन्वय बना रहता है, इसलिए त्रैलक्षण्यकी सिद्धि होती है। उसी प्रकार नित्य परिणाम-स्वभाव एक द्रव्यमें अतीत, वर्तमान, और अनागत सभी पर्यायें अपने अपने कालमें प्रकाशित हो रही हैं। अतएव उनमेंसे पूर्व पूर्व पर्यायोंके क्रमसे व्ययको प्राप्त होते जानेपर आगे आगेकी पर्यायें उत्पादरूप होती जाती हैं और उनमें अनुस्यूतिको लिए हुए एक अखण्ड प्रवाह (ऊर्ध्वता सामान्य) निरन्तर अवस्थित

रहता है, इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रैलक्षण्यकी सिद्धि होती है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इसको यदि और अधिक स्पष्टरूपसे देखा जाय तो ज्ञात होता है कि भूतकालमें पदार्थमें जो जो पर्यायें हुई थीं वे सब द्रव्य रूपसे वर्तमान पदार्थमें अवस्थित हैं और भविष्यत् कालमें जो जो पर्यायें होगीं वे भी द्रव्यरूपसे वर्तमान पदार्थमें अवस्थित हैं। अतएव जिस पर्यायके उत्पादका जो समय होता है उसी समयमें वह पर्याय उत्पन्न होती है और जिस पर्यायके व्ययका जो समय होता है उस समय वह विलीन होजाती है। ऐसी एक भी पर्याय नहीं है जो द्रव्यरूपसे वस्तुमें न हो और उत्पन्न होजाय और ऐसी भी कोई पर्याय नहीं है जिसका व्यय होनेपर द्रव्यरूपसे वस्तुमें उसका अस्तित्व ही न हो। इसी बातको स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसामें स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥४२॥

यदि कार्य सर्वथा असत् है। अर्थात् जिस प्रकार वह पर्याय-रूपसे असत् है उसी प्रकार वह द्रव्यरूपसे भी असत् है तो जिस प्रकार आकाशकुसुमकी उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार कार्यकी भी उत्पत्ति मत होओ तथा उपादानका नियम भी न रहे और कार्यके पैदा होनेमें समाश्वास भी न होवे ॥४२॥

इसी बातको आचार्य विद्यानन्दने उक्त श्लोककी टीकामें इन शब्दोंमें स्वीकार किया है :—

कथञ्चित्सत एव स्थितत्वोत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटनवत्।

जैसे कथंचित् सत्का ही विनाश घटित होता है उसी प्रकार कथंचित् सत्का ही ध्रौव्य और उत्पाद घटित होता है।

प्रध्वंसाभावके समर्थनके प्रसंगसे इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्री पृष्ठ ५३ में कहते हैं—

स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद् द्रव्यस्य, नित्यत्वात्। नापि पर्यायस्य, द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात्। तथाहि—विवादापन्नं मण्यादौ मलादि पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवम्, सत्त्वान्यथानुपपत्तेः।

वह अत्यन्त विनाश द्रव्यका होता है या पर्यायका ? द्रव्यका तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह नित्य है। पर्यायका भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह द्रव्यरूपसे ध्रौव्य है। यथा—विवादास्पद मणि आदिमें मल आदि पर्यायरूपसे नश्वर होकर भी द्रव्यरूपसे ध्रुव है, अन्यथा उसकी सत्त्वरूपसे उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यहां पर स्वामी समन्तभद्रने और आचार्य विद्यानन्दने प्रत्येक कार्यकी द्रव्यमें जो कथंचित् सत्ता स्वीकार की है सो उसका यही तात्पर्य है कि प्रत्येक कार्य द्रव्यमें शक्तिरूपसे अवस्थित रहता है। यदि वह उसमें शक्तिरूपसे अवस्थित न हो तो उसका उत्पाद ऐसे ही नहीं बनता जैसे आकाशकुसुमका उत्पाद नहीं बनता। इतना ही नहीं, जो उपादानका नियम है कि इससे यही कार्य उत्पन्न होता है, उसके बिना यह नियम भी नहीं बन सकता है। तब तो मिट्टीसे वस्त्रकी और जीवसे अजीवकी भी उत्पत्ति हो जानी चाहिए। और यदि ऐसा होने लगे तो इससे यही कार्य होगा ऐसा समाश्वास करना कठिन हो जायगा। अतएव द्रव्यमें शक्तिरूपसे जो कार्य विद्यमान है वही स्वकाल आनेपर कार्यरूपसे परिणत होता है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

कारणमें कार्यकी सत्ताको तो सांख्यदर्शन भी मानता है। किन्तु वह प्रकृतिको सर्वथा नित्य और उसमें कार्यकी सत्ताको सर्वथा सत् मानता है। इसलिये उसने कार्यका उत्पाद और

व्यय स्वीकार न कर उसका आविर्भाव और तिरोभाव माना है। जैनदर्शनका सांख्यदर्शनसे यदि कोई मतभेद है तो वह इसी बातमें है कि वह कारणको सर्वथा नित्य मानता है जैनदर्शन कथंचित् नित्य मानता है। वह कारणमें कार्यका सर्वथा सत्त्व स्वीकार करता है, जैनदर्शन कथंचित् सत्त्व स्वीकार करता है। वह कार्यका आविर्भाव-तिरोभाव मानता है, जैनदर्शन कार्यका उत्पाद-व्यय स्वीकार करता है। कारणमें कार्य सर्वथा है नहीं। उसके पूर्व उसका सर्वथा प्रागभाव है। यह मत नैयायिकदर्शनका है। किन्तु जैनदर्शन इसके भी विरुद्ध है। वह न तो सर्वथा सांख्यदर्शनका ही अनुसरण करता है और न सर्वथा नैयायिकदर्शनका ही। और यह ठीक भी है, क्योंकि द्रव्य कथंचित् नित्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव प्रतीतिमें आता है। साथ ही उसमें कार्यकी कारणरूपसे सत्ता होनेसे जो जिस कार्यका स्वकाल होता है उस कालमें उसका जन्म होता है।

इस विषयके पोषक अन्य उदाहरणोंकी बात छोड़कर यदि हम कार्मणवर्गणाओंके कर्मरूपसे परिणमनकी जो प्रक्रिया है और कर्मरूप होनेके बाद उसकी जो विविध अवस्थाएँ होती हैं उनपर ध्यान दें तो प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है यह तत्त्व अनायास समझमें आ जाता है। साधारण नियम यह है कि प्रारम्भके गुणस्थानोंमें आयुबन्धके समय आठ कर्मोंका और अन्य कालमें सात कर्मोंका प्रति समय बन्ध होता है। यहाँ विचार यह करना है कि कर्मबन्ध होनेके पहले सब कार्मणवर्गणाएँ एक प्रकारकी होती हैं या सब कर्मोंकी अलग-अलग वर्गणाएँ होती हैं ? साथ ही यह भी देखना है कि कार्मणवर्गणाएँ ही कर्मरूप क्यों परिणत होती हैं ? अन्य वर्गणाएँ निमित्तोंके द्वारा

कर्मरूप परिणत क्यों नहीं हो जातीं ? यद्यपि ये प्रश्न थोड़े जटिल तो प्रतीत होते हैं परन्तु शास्त्रीय व्यवस्थाओं पर ध्यान देनेसे इनका समाधान हो जाता है। शास्त्रोंमें बतलाया है कि योगके निमित्तसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है। अब थोड़ा इस कथनपर विचार कीजिए कि क्या योग सामान्यसे कार्मणवर्गणाओंके ग्रहणमें निमित्त होकर ज्ञानावरणादिरूपसे उनके विभागमें भी निमित्त होता है या ज्ञानावरणादिरूपसे जो कर्मवर्गणाएं पहलेसे अवस्थित हैं उनके ग्रहण करनेमें निमित्त होता है ? इनमेंसे पहली बात तो मान्य हो नहीं सकती, क्योंकि कर्मवर्गणाओंमें ज्ञानावरणादिरूप स्वभावके पैदा करनेमें योगकी निमित्तता नहीं है। जो जिस रूपमें हैं उनका उसी रूपमें ग्रहण हो इसमें योगकी निमित्तता है। अब देखना यह है कि क्या बन्ध होनेके पहले ही कर्मवर्गणाएं ज्ञानावरणादिरूपसे अवस्थित रहती हैं ? यद्यपि पूर्वोक्त कथनसे इस प्रश्नका समाधान हो जाता है, क्योंकि योग जब ज्ञानावरणादिरूप प्रकृतिभेदमें निमित्त नहीं होता किन्तु ज्ञानावरणादिरूप प्रकृतिबन्धमें निमित्त होता है तब अर्थात् यह बात आ जाती है कि प्रत्येक कर्मकी कार्मणवर्गणाएं ही अलग-अलग होती हैं। फिर भी इस बातके समर्थनमें हम आगम प्रमाण उपस्थित कर देना आवश्यक मानते हैं। वर्गणाखंड बन्धन अनुयोगद्वार चूलिकामें कार्मण द्रव्यवर्गणा किसे कहते हैं इसकी व्याख्या करनेके लिए एक सूत्र आया है। उसकी व्याख्या करते हुए वीरसेन आचार्य कहते हैं :—

णाणावरणीयस्स जाणि पाओग्गाणि दव्वाणि ताणि चेव मिच्छत्तादिपच्चएहि पंचणाणावरणीयसरूवेण परिणमंति ण अण्णेसिं सरूवेण। कुदो ? अपाओग्गत्तादो। एवं सव्वेसिं कम्माणं वत्तव्वं, अण्णहा

णाण वरणीयस्स जाणि दव्वाणि ताणि घेत्तूण मिच्छत्तादिपच्चएहि णाणावरणीयत्ताए परिणामेदूण जीवा परिणमंति त्ति सुत्ताणुववत्तीदो। जदि एवं तो कम्मइयवग्गणाओ अट्ठेव त्ति किण्ण परूविदाओ ? ण, अंतराभावेण तथोवदेसाभावादो।

इसका तात्पर्य है कि ज्ञानावरणीयके योग्य जो द्रव्य हैं वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके कारण पाँच ज्ञानावरणीयरूपसे परिणमन करते हैं, अन्य रूपसे वे परिणमन नहीं करते, क्योंकि वे अन्य कर्मरूप परिणमन करनेके अयोग्य होते हैं। इसी प्रकार सब कर्मोंके विषयमें व्याख्यान करना चाहिए। अन्यथा 'ज्ञानावरणीयके जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहण कर मिथ्यात्व आदि प्रत्ययवश ज्ञानावरणीयरूपसे परिणमा कर जीव परिणमन करते हैं यह सूत्र नहीं बन सकता है।

शंका :—यदि ऐसा है तो कार्मण वर्गणाएँ आठ हैं ऐसा कथन क्यों नहीं किया है ?

समाधान :—नहीं, क्योंकि आठों कर्मवर्गणाओंमें अन्तरका अभाव होनेसे इस प्रकारका उपदेश नहीं पाया जाता।

यह षट्खंडागमके उक्त सूत्रके कथनका सार है जो अपनेमें स्पष्ट होकर उपादानकी विशेषताको ही सूचित करता है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंके अवान्तर भेदोंका उसीके अवान्तर भेदोंमें ही संक्रमण होता है यह जो कर्मसिद्धान्तका नियम है उससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। यहाँ यह शंका होती है कि यदि यह बात है तो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका परस्पर तथा चार आयुओंका परस्पर संक्रमण क्यों नहीं होता ? परन्तु यह शंका इसलिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अन्य कर्मोंके समान इन कर्मोंकी वर्गणाएँ भी अलग-अलग होनी चाहिए, इसलिए उनका परस्पर संक्रमण नहीं होता।

यहाँ उपादानकी विशेषताको समझनेके लिए यह बात और ध्यान देने योग्य है कि प्रति समय जितना विस्रसोपचय होता है जो कि सर्वदा आत्मप्रदेशोंके साथ एकक्षेत्रावगाही रहता है वह सबका सब एक साथ कर्मरूप परिणत नहीं होता। ऐसी अवस्थामें यह विस्रसोपचय इस समय कर्मरूप परिणत हो और यह कर्मरूप परिणत न हो यह विभाग कौन करता है ? योग द्वारा तो यह विभाग हो नहीं सकता, क्योंकि विस्रसोपचयके ऐसे विभागमें निमित्त होना उसका कार्य नहीं है। जो विस्रसोपचय उस समय कर्मपर्यायरूपसे परिणत होनेवाले हों उनके बन्धमें निमित्त होना मात्र इतना योगका कार्य है। इस प्रकार कर्मशास्त्रमें बन्ध, संक्रमण और विस्रसोपचयके सम्बन्धमें स्वीकार की गई इन व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात करनेसे यही विदित होता है कि कार्यमें उपादानकी योग्यता ही नियामक है और जब उपादानके कार्यरूप होनेका स्वकाल आता है तभी वह अन्य द्रव्यको निमित्त कर कार्यरूप परिणत होता है।

कर्म साहित्यमें बद्ध कर्मकी जो उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण आदि अवस्थाएँ बतलाई हैं उनपर सूक्ष्मतासे ध्यान देने पर भी उक्त व्यवस्था ही फलित होती है। उदयकालको प्राप्त हुए पूरे निषेकका अभाव हो जाता है यह ठीक है। परन्तु उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षणमें ऐसा न होकर प्रति समय कुछ परमाणुओंकी विवक्षित निषेकमेंसे उदीरणा होती है, कुछका उत्कर्षण होता है, कुछका अपकर्षण होता है और कुछका संक्रमण होता है। तथा उसी निषेकमें कुछ परमाणु ऐसे भी होते हैं जो उपशमरूप रहते हैं, कुछ निधत्तिरूप और कुछ निकाचितरूप भी रहते हैं। सो क्यों ? निषेक एक है। उसमें ये सब परमाणु अवस्थित हैं। फिर उनका प्रत्येक समयमें यह विभाग कौन करता

है कि इस समय तुम उदीरणारूप होओ और तुम उत्कर्षणरूप होओ आदि। यह बात तो स्पष्ट है कि प्रति समय इस प्रकार जो कर्मनिषेकोंका उदीरणा आदिरूपसे बटवारा होता रहता है उसमें प्रति समयके जीवके संक्लेशरूप या विशुद्धिरूप परिणाम निमित्त होते हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वह अपने हस्त-पाद आदिका व्यापारकर बलात् इनमेंसे किन्हींको उदीरित होनेके लिए, किन्हींको उत्कर्षित होनेके लिए, किन्हींको अपकर्षित होनेके लिए और किन्हींको संक्रमित होनेके लिए धकेल देता हो सो बात तो है नहीं। अतएव निष्कर्षरूपमें यही फलित होता है कि जिस समय जिन कर्मपरमाणुओंकी जिस रूपमें होनेकी योग्यता होती है वे कर्मपरमाणु उस समय हुए जीवके परिणामोंको निमित्त करके उसरूप स्वयं परिणम जाते हैं।

कर्मसाहित्यमें अपकर्षणके लिए तो एकमात्र यह नियम है कि उदयावलिके भीतर स्थित कर्मपरमाणुओंका अपकर्षण नहीं होता। जो कर्मपरमाणु उदयावलिके बाहर अवस्थित हैं उनका अपकर्षण हो सकता है। परन्तु उत्कर्षण उदयावलिके बाहर स्थित सभी कर्मपरमाणुओंका हो सकता हो ऐसा नहीं है। उत्कर्षण होनेके लिए नियम बहुत हैं और अपवाद भी बहुत हैं। परन्तु संक्षेप में एक यही नियम किया जा सकता है कि जिन परमाणुओंकी उत्कर्षणके योग्य शक्तिस्थिति शेष है और वे उत्कर्षणके योग्य स्थानमें स्थित हैं उन्हींका उत्कर्षण हो सकता है अन्यका नहीं। यदि हम इन नियमोंको ध्यानमें लेकर विचार करें तो भी यही बात फलित होती है कि जो कर्मपरमाणु उत्कर्षणके योग्य उक्त योग्यता सम्पन्न हैं वे ही जीव परिणामोंको निमित्त करके उत्कर्षित होते हैं। उसमें भी वे सब परमाणु उत्कर्षित होते हों ऐसा भी

नहीं है। किन्तु जिनमें विवक्षित समयमें उत्कर्षित होनेकी योग्यता होती है वे विवक्षित समयमें उत्कर्षित होते हैं और जिनमें द्वितीयादि समयोंमें उत्कर्षित होनेकी योग्यता होती है वे द्वितीयादि समयोंमें उत्कर्षित होते हैं। यही नियम अपकर्षण आदिके लिए भी जान लेना चाहिए।

यह कर्मों और विस्रसोपचयोंका विवक्षित समयमें विवक्षित कार्यरूप होनेका क्रम है। यदि हम कर्मप्रक्रियामें निहित इस रहस्यको ठीक तरहसे जान लें तो हमें अकालमरण और अकालपाक आदिके कथनका भी रहस्य समझमें आनेमें देर न लगे। कर्मबन्धके समय जिन कर्मपरमाणुओंमें जितनी व्यक्तिस्थिति पड़नेकी योग्यता होती है उस समय उनमें उतनी व्यक्तिस्थिति पड़ती है और शेष शक्तिस्थिति रही आती है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उन कर्मपरमाणुओंको अपनी व्यक्तिस्थिति या शक्तिस्थितिके काल तक कर्मरूप नियमसे रहना ही चाहिए और यदि वे उतने काल तक कर्मरूप नहीं रहते हैं तो उसका कारण वे स्वयं कथमपि नहीं हैं, अन्य ही हैं यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर एक तो कारणमें कार्य कथंचित् सत्तारूपसे अवस्थित रहता है इस सिद्धान्तका अपलाप होता है। दूसरे कौन किसका समर्थ उपादान है इसका कोई नियम न रहनेसे जड़-चेतनका भेद न रह कर अनियमसे कार्यकी उत्पत्ति प्राप्त होती है। इसलिए जब उपादानकी अपेक्षा कथन किया जाता है तब प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है यही सिद्धान्त स्थिर होता है। इस दृष्टिसे अकालमरण और अकालपाक जैसी वस्तुको कोई स्थान नहीं मिलता। और जब उनका अतर्कितोपस्थित या प्रयत्नोपस्थित निमित्तोंकी अपेक्षा कथन किया जाता है तब वे ही कार्य

अकालमरण या अकालपाक जैसे शब्दों द्वारा भी पुकारे जाते हैं। यह निश्चय और व्यवहारके आलम्बनसे व्याख्यान करनेकी विशेषता है। इससे वस्तुस्वरूप दो प्रकारका हो जाता हो ऐसा नहीं है।

यह तो हम मानते हैं कि वर्तमानमें विज्ञानके नये नये प्रयोग दृष्टिगोचर हो रहे हैं। संहारक अस्त्रोंकी तीव्रता भी हम स्वीकार करते हैं। आजके मानवकी आकांक्षा और प्रयत्न धरती और नक्षत्रलोकको एक करनेकी है यह भी हमें ज्ञात है पर इससे प्रत्येक कार्य अपने अपने उपादानके अनुसार स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होता है इस सिद्धान्तका कहाँ व्याघात होता है और इस सिद्धान्तके स्वीकार कर लेनेसे उपदेशादिकी व्यर्थता भी कहाँ प्रमाणित होती है ? सब कार्य-कारणपद्धतिसे अपने अपने कालमें हो रहे हैं और होते रहेंगे। लोकमें तत्त्वमार्गके उपदेष्टा और मोक्षमार्गके आदि कर्ता बड़े बड़े तीर्थङ्कर होगये हैं और आगे भी होंगे पर उनके उपदेशोंसे कितने प्राणी लाभान्वित हुए। जिन्होंने असन्नभव्यताका परिपाकका स्वकाल आनेपर भगवान् का उपदेश स्वीकारकर पुरुषार्थ किया वे ही कि अन्य सभी प्राणी। इसी प्रकार वर्तमानमें या आगे भी जो आसन्नभव्यताका परिपाक काल आने पर भगवानका उपदेश स्वीकार कर पुरुषार्थ करेंगे वे ही लाभान्वित होंगे कि अन्य सभी प्राणी। विचार कीजिये। यदि निमित्तोंमें पदार्थोंकी कार्य निष्पादनक्षम योग्यताका स्वकाल आये बिना अकेले ही अनियत समयमें कार्योंको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य होती तो भव्याभव्यका विभाग समाप्त होकर संसारका अन्त कभीका होगया होता।

हम यह तो मानते हैं कि जो लोग भगवानकी वाणीके

अनुसार तर्कका आश्रय लेकर या बिना लिए स्वयं अपनी विवेक बुद्धिसे तत्त्वका निर्णय तो करते नहीं और केवल सूर्यादिके नियत समयपर उगने और अस्त होने आदि उदाहरणोंको उपस्थितकर या शास्त्रोंमें वर्णित कुछ भविष्यत्कथनसम्बन्धी घटनाओंको उपस्थितकर एकान्त नियतिका समर्थन करना चाहते हैं उनकी वह विचारधारा कार्यकारणपरम्पराके अनुसार तर्क-मार्गका अनुसरण नहीं करती, इसलिए वे उदाहरण अपनेमें ठीक होकर भी आत्मपुरुषार्थको जागृत करनेमें समर्थ नहीं हो पाते। पण्डितप्रवर बनारसीदासजीके जीवनमें ऐसा एक प्रसंग उपस्थित हुआ था। वे उसका चित्रण करते हुए स्वयं अपने कथानकमें कहते हैं :—

करणीका रस जान्यो नहिं नहिं जान्यो आतमस्वाद।
भई बनारसिकी दशा जथा ऊँटकौ पाद॥

किन्तु इतनेमात्रसे दूसरे विचारवाले मनुष्य यदि अपने पक्षका समर्थन करना चाहें तो उनका ऐसा करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी विचार-धारा कार्योत्पत्तिके समय निमित्तका क्या स्थान है यह निर्णय करनेकी न होकर उपादानको उपादान कारण न रहने देनेकी है। मालूम नहीं, वे उपादान और निमित्तका क्या लक्षण कर इस विचारधाराको प्रस्तुत कर रहे हैं। वे अपने समर्थनमें कर्म-साहित्य और दर्शन-न्यायसाहित्यके अनेक ग्रन्थोंके नाम लेनेसे भी नहीं चूकते। पर वे एक बार इन ग्रन्थोंके आधारसे यह तो स्थिर करें कि इनमें उपादानकारण और निमित्तकारणके ये लक्षण किये गये हैं। फिर उन लक्षणोंकी सर्वत्र व्याप्ति बिठलाते हुए तत्त्वका निर्णय करें। हमारा विश्वास है कि वे यदि इस प्रक्रियाको

स्वीकार करलें तो तत्त्वनिर्णय होनेमें देर न लगे। शुद्ध द्रव्योंमें तो सब पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं पर अशुद्ध द्रव्योंमें ऐसा कोई नियम नहीं है। केवल इतना प्रतिज्ञा वाक्य कह देनेसे क्या होता है ? यदि कोई निमित्तकारण उपादानकारणमें निहित योग्यताकी परवा किये बिना उस समय उपादान द्वारा न होनेवाले कार्यको कर सकता है तो वह मुक्त जीवको संसारी भी बना सकता है। हमें विश्वास है कि वे इस तर्कके महत्त्वको समझेंगे। कहीं-कहीं निमित्तको कर्ता कहा गया है और कहीं कहीं उसे कर्ता न कहकर भी उस पर कर्तृत्व धर्मका आरोप किया गया है यह हम मानते हैं। पर वहाँ वह उसी अर्थमें कर्ता कहा गया है जिस अर्थमें उपादान कर्ता होता है या अन्य अर्थमें। यदि हम इस फरकको ठीक तरहसे समझ लें तो भी तत्त्वकी बहुत कुछ रक्षा हो सकती है। नैगमनयका पेट बहुत बड़ा है। उसमें कितनी विवक्षाएँ समाई हुई हैं यह प्रकृतमें ज्ञातव्य है। जब निमित्त कुछ करता नहीं यह कहा जाता है तब वह 'यः परिणमति स कर्ता' इस अनुपचरित मुख्यार्थको ध्यानमें रखकर ही कहा जाता है। इसमें अत्युक्ति कहाँ है यह हम अभी तक नहीं समझ पाये। यदि कोई कार्योत्पत्तिके समय 'जो बलाधानमें निमित्त होता है वह कर्ता' इस प्रकार निमित्तमें कर्तृत्वका उपचार करके निमित्तको कर्ता कहना चाहता है, जैसा कि अनेक स्थलों पर शास्त्रकारोंने उपचारसे कहा भी है तो उसका कोई निषेध भी नहीं करता। कार्योत्पत्तिमें अन्य द्रव्य निमित्त है इसे तो किसीने अस्वीकार किया नहीं। इतना अवश्य है कि मोक्षमार्गमें स्वावलम्बनकी मुख्यता होनेसे कार्योत्पादन क्षम अपनी योग्यताके साथ पुरुषार्थको ही प्रश्रय दिया गया है और प्रत्येक भव्य जीवको उसी अनुपचरित अर्थका आश्रय

लेनेका मुख्यतासे उपदेश दिया जाता है। क्या यह सच नहीं है कि अपने उपादानको भूलकर अपने विकल्प द्वारा मात्र निमित्त-का अवलम्बन हम अनन्त कालसे करते आ रहे हैं पर अभी तक सुधार नहीं हुआ और क्या यह सच नहीं है कि एकबार भी यदि यह जीव भीतरसे परका अवलम्बन छोड़कर श्रद्धा, ज्ञान और चर्यारूप अपना अवलम्बन स्वीकार करले तो उसे संसारसे पार होनेमें देर न लगे। कार्य-कारणपरम्पराका ज्ञान तत्त्वनिर्णय के लिए होता है, आश्रयके लिए नहीं। आश्रय तो परनिरपेक्ष उपादानका ही करना होगा। इसके बिना संसारका अन्त होना दुर्लभ है। बहुत कहाँ तक लिखें।

इस प्रकरणका सार यह है कि प्रत्येक कार्य अपने स्वकालमें ही होता है, इसलिए प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें क्रमनियमित हैं। एकके बाद एक अपने अपने उपादानके अनुसार होती रहती हैं। यहाँ पर 'क्रम' शब्द पर्यायोंकी क्रमाभिव्यक्तिको दिखलानेके लिए स्वीकार किया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्यायका स्वकाल अपने अपने उपादानके अनुसार नियमित है यह दिखलानेके लिए दिया गया है। वर्तमानकालमें जिस अर्थको 'क्रमबद्धपर्याय' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'क्रमनियमितपर्याय' का वही अर्थ है ऐसा स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं। मात्र प्रत्येक पर्याय दूसरी पर्यायसे बंधी हुई न होकर अपनेमें स्वतन्त्र है यह दिखलानेके लिए यहाँपर हमने 'क्रमनियमित' शब्दका प्रयोग किया है। आचार्य अमृतचन्द्रने समयप्राभृत गाथा ३०८ आदिकी टीकामें 'क्रमनियमित' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें किया है, क्योंकि यह प्रकरण सर्वविशुद्धज्ञानका है। सर्वविशुद्धज्ञान कैसे प्रगट होता है यह दिखलानेके लिए समयप्राभृतकी गाथा ३०८ से ३११ तककी टीकामें मीमांसा करते

हुए आत्माका अकर्तापन सिद्ध किया गया है, क्योंकि अज्ञानी जीव अनादिकालसे अपनेको परका कर्ता मानता आ रहा है। यह कर्तापनका भाव कैसे दूर हो यह उन गाथाओंमें बतलानेका प्रयोजन है। जब इस जीवको यह निश्चय होता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने क्रमनियमितपनेसे परिणमता है इसलिए परका तो कुछ भी करनेका मुझमें अधिकार है नहीं, मेरी पर्यायोंमें भी मैं कुछ फेरफार कर सकता हूं यह विकल्प भी शमन करने योग्य है। तभी यह जीव निज आत्माके स्वभावसन्मुख होकर ज्ञाता दृष्टारूपसे परिणमन करता हुआ निजको परका अकर्ता मानता है और तभी उसने 'क्रमनियमित' के सिद्धान्तको परमार्थरूपसे स्वीकार किया यह कहा जा सकता है। 'क्रमनियमित' का सिद्धान्त स्वयं अपनेमें मौलिक होकर आत्माके अकर्तापनको सिद्ध करता है। प्रकृतमें अकर्ताका फलितार्थ ही ज्ञाता-दृष्टा है। आत्मा परका अकर्ता होकर ज्ञाता दृष्टा तभी हो सकता है जब वह भीतरसे 'क्रमनियमित' के सिद्धान्तको स्वीकार कर लेता है, इसलिए मोक्षमार्गमें इस सिद्धान्तका बहुत बड़ा स्थान है ऐसा प्रकृतमें जानना चाहिए। इस विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र उक्त गाथाओंकी टीका करते हुए कहते है—

जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः काञ्चनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्। तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्ध्यति। तदसिद्धौ

च कर्तृ-कर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वाद् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति, अतो जीवोऽकर्ताऽवतिष्ठते ॥३०८-३११॥

प्रथम तो जीव क्रमनियमित अपने परिणामों (पर्यायों) से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं, इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं, क्योंकि जैसे सुवर्णका कंकण आदि परिणामोंके साथ तादात्म्य है वैसे ही सब द्रव्योंका अपने अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है। इस प्रकार जीव अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सब द्रव्योंका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है। और एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कार्य-कारणभाव सिद्ध न होनेपर अजीव जीवका कर्म है यह सिद्ध नहीं होता और अजीवके जीवका कर्मत्व सिद्ध न होने पर कर्ता-कर्म परनिरपेक्ष सिद्ध होता है और कर्ता-कर्मके परनिरपेक्ष सिद्ध होनेसे जीव अजीवका कर्ता सिद्ध नहीं होता, इसलिए जीव अकर्ता है यह व्यवस्था बन जाती है।

इस प्रकार जीवनमें 'क्रमनियमितपर्याय' के सिद्धान्तको स्वीकार करनेका क्या महत्त्व है और उसकी सिद्धि किस प्रकार होती है इसकी मीमांसा की।
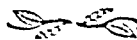
सम्यक् नियतिस्वरूपमीमांसा

उपादान निज गुण महा 'नियति' स्वलक्षण द्रव्य ।
ऐसी श्रद्धा जो गहै जानो उसको भव्य ॥

अब प्रश्न यह है कि आत्मा परका अकर्ता होकर ज्ञाता-द्रष्टा बना रहे इस तत्त्वको फलित करनेके लिए 'क्रमनियमित-पर्याय' का सिद्धान्त तो स्वीकार किया पर उसे स्वीकार करने पर जो नियतिवादका प्रसंग आता है उसका परिहार कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि नियतिवादका प्रसंग आता है तो आने दो। उसके भयसे 'क्रमनियमितपर्याय' के सिद्धान्तका त्याग थोड़े ही किया जा सकता है सो भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रकारोंने नियतिवादको मिथ्या बतलाया है। गोम्मट-सार कर्मकाण्डमें कहा भी है :—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

इसका तात्पर्य है जो जब जिस रूपसे जिस प्रकार जिसके होता है वह तब उस रूपसे उस प्रकार उसके नियमसे होता है इस प्रकार जो वाद है वह नियतिवाद है ॥८८२॥

यह नियतिवादका साधारण अर्थ है। श्वेताम्बर साहित्यमें भी इसकी निन्दा की गयी है।

इस प्रकार नियतिवादके प्रसंगका भय दिखलाकर जो लोग 'क्रमनियमितपर्याय' के सिद्धान्तकी अवहेलना करना चाहते हैं उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जो सर्वथा नियतिवादको

मानते हैं वे कार्य-कारणपरम्पराको स्वीकार नहीं करते। और यह हमारा कोरा कथन नहीं है किन्तु वर्तमान कालमें इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला जो भी साहित्य उपलब्ध होता है उससे इसका समर्थन होता है। किन्तु जैनदर्शनकी स्थिति इससे भिन्न है, क्योंकि उसने कार्य-कारणपरम्पराको स्वीकार कर उसके अंगरूपसे नियतिको स्थान दिया है, इसलिए उसे एकान्तसे नियतिवाद स्वीकार नहीं है यह सिद्ध होता है। एक नियतिवाद ही क्या उसे एकान्तसे कालवाद, पुरुषार्थवाद, स्वभाववाद और ईश्वर 'निमित्त' वाद यह कोई भी वाद स्वीकार नहीं हैं, क्योंकि वह प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, निमित्त और नियति (निश्चय) इनकी कारणताको स्वीकार करता है। इसलिए उसने जहाँ एकान्तसे नियतिवादका निषेध किया है वहाँ उसने एकान्तसे माने गये इन सब वादोंका भी निषेध किया है। फलस्वरूप यदि कोई कर्मकांडकी उक्त गाथा परसे यह अर्थ निकाले कि जैनधर्ममें नियति (निश्चय) को रंचमात्र भी स्थान नहीं है तो उसका उस परसे यह अर्थ फलित करना ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कार्यकारणपरम्परामें उपादान-उपादेयके अविनाभावको स्वीकार करनेसे तो सम्यक् नियतिका समर्थन होता ही है। साथ ही जैन सिद्धान्तमें ऐसी व्यवस्थाएं स्वीकार की गयी हैं जिनसे स्पष्टतः सम्यक् नियतिका समर्थन होता है। यथा—

द्रव्यकी अपेक्षा :—सब द्रव्य छः हैं। उनके अवान्तर भेदोंकी संख्या भी नियत है। सब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभावसे युक्त हैं, उनका उत्पाद और व्यय प्रति समय नियमसे होता है। फिर भी द्रव्योंकी संख्यामें वृद्धि हानि नहीं होती।

सब द्रव्योंके अलग अलग गुण नियत हैं, उनमें भी वृद्धि हानि नहीं होती। अनादि कालसे लेकर अनन्त काल तक जिस द्रव्यकी जितनी पर्यायें हैं वे भी नियत हैं। उनमें भी वृद्धि हानि होना सम्भव नहीं है। फिर भी लोक अनादि अनन्त है। अनन्तका लक्षण है:—जिसका व्यय होने पर कभी अन्त नहीं होता। जीवों, पुद्गलों तथा आकाश प्रदेशोंकी संख्यामें तथा सब द्रव्योंके गुणों और पर्यायोंमें ऐसी अनन्तता स्वीकार की गयी है।

क्षेत्रकी अपेक्षाः—लोकके तीन भेद हैं—उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। उनमें जहां जो व्यवस्था है वह नियत है। उदाहरणार्थ—उर्ध्वलोक सोलह कल्प, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंमें विभक्त है। इसके ऊपर एक पृथ्वी और पृथ्वीके ऊपर लोकान्तमें सिद्धलोक है। अनादि कालसे यह व्यवस्था इसी प्रकारसे नियत है और अनन्त कालतक नियत रहेगी। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। उनमें जहाँ कर्मभूमि या भोगभूमिका या दोनोंका जो क्रम नियत है उसी प्रकार सुनिश्चित है। उसमें परिवर्तन होना सम्भव नहीं है। अधोलोकमें रत्नप्रभा आदि सात पृथिवियां और उनके आश्रयसे सात नरकोंकी जो रचना वतलाई है वह भी अपरिवर्तनीय है।

कालकी अपेक्षाः—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके भोगभूमिसम्बन्धी क्षेत्रोंमें तथा स्वयंभूरमण द्वीपके उत्तरार्ध और स्वयंभूरमणसमुद्रमें जहाँ जिस कालकी व्यवस्था है वहां अनादिकालसे उसी कालकी प्रवृत्ति होती आ रही है और अनन्त कालतक उसी कालकी प्रवृत्ति होती रहेगी। विदेहसम्बन्धी कर्मभूमि क्षेत्रमें भी यही नियम जान लेना चाहिए। इसके सिवा

कर्मभूमिसम्बन्धी जो क्षेत्र बचता है उसमें कल्पकालके अनुसार निरन्तर और नियमित ढंगसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालकी प्रवृत्ति होती रहती है। एक कल्पकाल बीस कोड़ा-कोड़ी सागरका होता है। उसमेंसे दस कोड़ाकोड़ी सागर अवसर्पिणीके लिए और दस कोड़ाकोड़ी सागर उत्सर्पिणीके लिए सुनिश्चित है। उसमें भी प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी छः छः कालोंमें विभक्त है। उसमें भी जिस कालका जो समय नियत है उसके पूरा होनेपर स्वभावतः उसके बादके कालका प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ अवसर्पिणी कालमें जीवोंकी आयु और काय ह्रासोन्मुख होते हैं। उनके जितने कर्म और नोकर्म होते हैं वे भी ह्रासोन्मुख पर्यायोंके होनेमें निमित्त होते हैं। किन्तु अवसर्पिणी कालका अन्त होकर उत्सर्पिणीके प्रथम समयसे ही यह स्थिति बदलने लगती है। कर्म और नोकर्म आदि भी उसी प्रकारके परिणमनमें निमित्त होने लगते हैं। विचार तो कीजिए कि जो औदारिक शरीर नामकर्म उत्तम भोगभूमिमें तीन कोसके शरीरके निर्माणमें निमित्त होता है वही औदारिक शरीर नामकर्म अवसर्पिणीके छटे कालके अन्तमें एक हाथके शरीरके निर्माणमें निमित्त होता है। कोई अन्य सामग्री तो होनी चाहिए जिससे यह भेद स्थापित होता है। इन कालोंकी अन्तर्व्यवस्थाको देखें तो ज्ञात होता है कि उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें और अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र, ग्यारह रुद्र और चौबीस कामदेवोंका उत्पन्न होना निश्चित है। निमित्तानुसार ये पद कभी अधिक और कभी कम क्यों नहीं होते, विचार कीजिए। कर्मभूमिमें आयुकर्मका बन्ध आठ अपकर्षकालोंमें या मरणके अन्तमुहूर्त पूर्व ही क्यों होता है, इसके बन्धके योग्य परिणाम उसी समय

क्यों होते हैं, विचार कीजिए। जो इस अवस्थाके भीतर कारण अन्तर्निहित है उसे ध्यानमें लीजिए। छह माह आठ समयमें छह सौ आठ जीव ही मोक्षलाभ करते हैं ऐसा क्यों है, विचार कीजिए। कालनियमके अन्तर्गत और भी वहुतसी व्यवस्थाएें हैं जो ध्यान देने योग्य हैं।

भावकी अपेक्षाः—कषायस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। वे न्यूनाधिक नहीं होते। स्थूलरूपसे सब लेश्याएें छह हैं। उनके अवान्तर भेदोंका प्रमाण भी निश्चित है। देवलोकमें तीन शुभ लेश्याएें और नरकलोकमें तीन अशुभ लेश्याएें ही होती हैं। उसमें भी प्रत्येक देवलोककी और प्रत्येक नरकलोककी लेश्या नियत है। वहाँ उनके निमित्त कारण द्रव्य, क्षेत्रादि भी नियत हैं। इतना अवश्य है कि भवनत्रिकोंमें कपोत अशुभ लेश्या अपर्याप्त अवस्थामें सम्भव है। पर वह कैसे भवनत्रिकोंके होती है यह भी नियत है। इसी प्रकार भोगभूमिके मनुष्यों और तिर्यञ्चोंमें भी लेश्याका नियम है। कर्मभूमि क्षेत्रमें और एकेन्द्रियादि जीवोंमें लेश्या परिवर्तन होता है अवश्य पर वह नियत क्रमसे ही होता है। गुणस्थानोंमें भी परिणामोंका उतार-चढ़ाव शास्त्रोक्त नियत क्रमसे ही होता है। अधःकरण आदि परिणामोंका क्रम भी नियत है। तथा उनमेंसे किस परिणामके सद्भावमें क्या कार्य होता है यह भी नियत है। एक नारकी जो नरकमें प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है उसके और एक देव जो देवलोकमें प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है उसके जो अधःकरण आदिरूप परिणामोंकी जाति होती है वह एकसी होती है। उसके सद्भावमें जो कार्य होते हैं वे भी प्रायः एकसे होते हैं। अन्य द्रव्य-क्षेत्रादि बाह्य निमित्त उनमें फेर-फार नहीं कर सकते। यद्यपि एक समयवर्ती

और भिन्न समयवर्ती जीवोंके अधःकरण परिणामोंमें भेद देखा जाता है पर यह भेद नरकलोकमें सम्भव हो और देवलोकमें सम्भव न हो ऐसा नहीं है। अतः इससे उपादानकी विशेषता ही फलित होती है।

इस प्रकार ये सब व्यवस्थाएँ हैं जो जैनदर्शनमें कार्य-कारण परम्पराको स्वीकार करनेके बाद भी जैन सिद्धान्तकी अंग बनी हुई हैं। तथ्योंको प्ररूपित करनेवाले ग्रन्थोंमें कुछ ऐसे वचन भी मिलते हैं जिनसे इनके पूरक रूपमें सम्यक् नियतिका समर्थन होता है। उदाहरणार्थ द्वादशानुप्रेक्षामें स्वामी कार्तिकेय कहते हैं :—

> जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
> णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥३२१॥
>
> तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
> को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥३२२॥
>
> एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
> सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठी ॥३२३॥

जिस जन्म अथवा मरणको जिस जीवके जिस देशमें जिस विधिसे जिस कालमें नियत जाना है उसे उस जीवके उस देशमें उस विधिसे उस कालमें शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमेंसे कौन चलायमान कर सकता है, अर्थात् कोई भी चलायमान नहीं कर सकता। इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो शंका करता है वह कुदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) है ॥३२१-३२३॥

इसी तथ्यको पद्मपुराणमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है :—

यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥२९-८३॥

जिस जीवके द्वारा जहाँपर जिस कालमें जिस कारणसे जिस परिमाणमें जो प्राप्तव्य है उस जीवके द्वारा वहाँपर उस कालमें उस कारणसे उस परिमाणमें वह नियमसे प्राप्त किया जाता है ॥२९-८३॥

इस प्रकार जब हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर जैनधर्ममें एकान्त नियतिवादका निषेध किया गया है वहाँ दूसरी ओर सम्यक् नियतिको स्थान भी मिला हुआ है, इसलिए इसे स्थान देनेसे हमारे पुरुषार्थकी हानि होती है और हमारे समस्त कार्य यन्त्रके समान सुनिश्चित होजाते हैं यह कहकर सम्यक् नियतिका निषेध करना उचित नहीं है। यहाँ सबसे पहले यह विचार करना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिका पुरुषार्थ क्या है ? हम इसका तो निर्णय करें नहीं और पुरुषार्थकी हानि बतलावें, क्या इसे उचित कहा जा सकता है ? वस्तुतः प्रत्येक जड़ और चेतन द्रव्य अपने अपने कार्यके प्रति प्रतिसमय पुरुषार्थ (वीर्य-सामर्थ्य) कर रहा है, क्योंकि वह अपने पुरुषार्थ (वीर्य-सामर्थ्य) से प्रत्येक समयमें पुराने कार्यका ध्वंस कर नये कार्यका निर्माण करता है। इसके सिवा कोई भी द्रव्य अन्य कोई कार्य उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखता हो और अपने पुरुषार्थ द्वारा उसे उत्पन्न करता हो तो हमें ज्ञात नहीं। सम्भवतः पुरुषार्थवादियोंका यह कहना हो कि जो यह जीव अपने अज्ञानभावके कारण अनादि कालसे परतन्त्र हो रहा है उसका अन्त करना ही इसका सच्चा पुरुषार्थ है तो इसके लिए रुकावट ही कौन डालता है। किन्तु उसे अपने अज्ञानभावका अन्त स्वयं करना होगा। यह कार्य

निमित्तोंका नहीं है। अन्य पर्यायके कालमें यदि वह अज्ञानभावका अन्तकर अपनी इच्छानुसार ज्ञानमय पर्यायको उत्पन्न करना भी चाहे तो इतना स्पष्ट है कि अपने चाहने मात्रसे तो अज्ञान भावका अन्त होकर ज्ञानमय पर्याय उत्पन्न होगी नहीं। न तो कभी ऐसा हुआ और न कभी ऐसा होगा ही, क्योंकि पर्यायकी उत्पत्तिमें जो स्वभाव आदि पाँच कारण बतलाये हैं उनका समवाय होने पर ही वह पर्याय उत्पन्न होती है ऐसा नियम है। इसके साथ यह भी निश्चित है कि इनमेंसे कोई कारण पहले मिलता हो और कोई कारण बादमें यह भी नहीं है, क्योंकि इनका समवाय जब भी होता है एक साथ ही होता है और जब इनका समवाय होता है तब नियमसे कार्य होता है। तथा निमित्तकी निमित्तता भी तभी मानी जाती है। इसलिए पुरुषार्थकी हानि बतला कर सम्यक् नियतिका निषेध करना उचित नहीं है। सम्यक् नियतिका वास्तविक अर्थ है कि द्रव्यादिकी नियत अवस्थितिके साथ जो कार्य जिस उपादानसे जिस निमित्तके सद्भावमें होनेवाला है वह उन्हींसे होगा अन्यसे नहीं होगा। इसमें सम्यक् नियतिकी स्वीकृतिके साथ कार्य-कारणप्रक्रियाको भी स्वीकार कर लिया गया है। जैनधर्ममें जो सम्यक् नियतिको स्वीकार किया गया है वह इसी अर्थमें स्वीकार किया गया है। यहाँ नियतिका अन्य कोई अर्थ नहीं है। इसके स्थानमें यदि कोई चाहे कि जो कार्य जिस उपादान और जिस निमित्तसे होनेवाला है उनके सिवा अन्य उपादान और अन्य निमित्तसे उस कार्यकी उत्पत्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा की जा सकती है तो उसका ऐसा सोचना भ्रम है। अतएव नियति कोई स्वतन्त्र पदार्थ न होकर पूर्वोक्त विधिसे कार्यकारणपरम्पराका एक अंग है ऐसा श्रद्धान करके ही चलना चाहिए। इतना अवश्य है कि जैन साहित्यमें नियति या नियत

निश्चय-व्यवहारमीमांसा

होता परके योगसे भेदरूप व्यवहार।
दृष्टि फिरे निश्चय लखे एकरूप निरधार॥

कुल द्रव्य छह हैं:—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमेंसे अन्तके चार द्रव्य एक क्षेत्रावगाही होकर भी सदा काल परस्पर संश्लेषको लिए हुए बन्धरूप संयोगी पर्यायसे रहित होकर ही रहते हैं। किन्तु जीवों और पुद्गलोंकी चाल इससे भिन्न है। जो जीव संयोगरूप बन्ध पर्यायसे मुक्त हो गये हैं वे तो मुक्त होनेके क्षणसे लेकर सदाकाल संश्लेषरूप बन्धसे रहित होकर ही रहते हैं और जो अभी मुक्त नहीं हुए हैं वे वर्तमानमें तो संश्लेषरूप बन्धसे युक्त हैं ही, भविष्यमें भी जब तक वे मुक्त नहीं होंगे तब तक उनकी यह संश्लेषरूप बन्धपर्याय बनी रहेगी। सब जीवोंकी संश्लेषरूप इस बन्ध पर्यायका अन्त होना ही चाहिए ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि जो अभव्य और अभव्योंके समान ही भव्य हैं उनके तो इस संश्लेषरूप बन्धपर्यायका कभी अन्त होता नहीं। हां जो तदितर भव्य हैं वे कभी न कभी इस संश्लेषरूप बन्धपर्यायका अन्त कर अवश्य ही मुक्तिके पात्र होंगे। यह सब जीवोंकी व्यवस्था है। पुद्गलोंकी व्यवस्था भी इसी प्रकारकी है। अन्तर केवल इतना है कि बहुतसे पुद्गल सदाकाल बन्धमुक्त रहते हैं, बहुतसे पुद्गल सदाकाल बन्धनबद्ध रहते हैं और बहुतसे पुद्गल बंध कर छूट भी जाते हैं और छूट कर पुनः बंध भी जाते हैं।

आश्रयसे जब किसी एक वस्तुका किसी एक धर्मकी मुख्यतासे प्रतिपादन भी किया जाता है तब उसमें अन्य अशेप धर्म अभेदवृत्ति या अभेदोपचारसे अन्तर्निहित रहते हैं। इसलिए प्रमाण सप्तभंगीमें प्रत्येक भंग अशेप वस्तुका कथन करनेवाला माना गया है। यह तो प्रमाणज्ञान और उसके आश्रयसे होनेवाले वचन व्यवहारकी स्थिति है। अब थोड़ा नयदृष्टिसे इसका विचार कीजिये। यों तो सम्यग्दृष्टिके क्षायोपशमिक और क्षायिक अन्य जितना भी ज्ञान होता है वह सब प्रमाणज्ञान ही है। किन्तु प्रमाणज्ञानका श्रुतज्ञान एक ऐसा भेद है जो प्रमाणज्ञान और नयज्ञान इस प्रकार उभयरूप होता है। इसी विषयको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि (अ० १, सू० ६) में कहा भी है:—

तत्र प्रमाणं द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्जम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।

प्रकृतमें प्रमाणके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ। उनमेंसे श्रुतको छोड़कर शेप सब ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकारका है। ज्ञानात्मक स्वार्थप्रमाण है और वचनात्मक परार्थ प्रमाण है। उनके भेद नय हैं।

तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन्द्रियादिको निमित्त न करके ही विषयको ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं, इसलिए ये तो अपनी अपनी योग्यतानुसार समग्र वस्तुको अशेप भावसे ग्रहण करते हैं इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जो मतिज्ञान पांच, इन्द्रियां, मन और आलोकादिको निमित्त करके प्रवृत्त होता है वह भी समग्र वस्तुको अशेप भावसे ग्रहण करता है, क्योंकि वह जहाँसे मनको निमित्त कर चिन्तन-

धारा प्रारम्भ होती है उससे पूर्ववर्ती ज्ञान है। अब रहा श्रुतज्ञान सो यह चिन्तनधाराके उभयात्मक होनेसे दोनों रूप माना गया है। श्रुतज्ञानमें मनका जो विकल्प अखंडभावसे वस्तुको स्वीकार करता है वह प्रमाणज्ञान है और जो विकल्प किसी एक अंशको मुख्य कर और दूसरे अंशको गौण कर वस्तुको स्वीकार करता है वह नयज्ञान है। सम्यक् श्रुतका भेद होनेसे नयज्ञान भी उतना ही प्रमाण है जितना कि प्रमाणज्ञान। फिर भी शास्त्रकारोंने इसे जो अलगसे परिगणित किया है सो उसका कारण विवक्षाविशेषको दिखलाना मात्र है। जो ज्ञान समग्र वस्तुको अखंडभावसे स्वीकार करता है उसकी उन्होंने प्रमाणसंज्ञा रखी है और जो ज्ञान समग्र वस्तुको किसी एक अंशको मुख्य कर और दूसरे अंशको गौण कर स्वीकार करता है उसकी उन्होंने नयसंज्ञा रखी है। सम्यग्ज्ञानके प्रमाण और नय ऐसे दो भेद करनेका यही कारण है। किन्तु इन भेदोंको देखकर यदि कोई सर्वथा यह समझे कि सम्यग्ज्ञानके भेद होकर भी प्रमाणज्ञान यथार्थ है नयज्ञान नहीं तो उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार प्रमाणज्ञानके द्वारा जो वस्तु जिस रूपमें अवस्थित होती है उसी रूपमें जानी जाती है उसी प्रकार नयज्ञानका प्रयोजन भी यथावस्थित वस्तुका ज्ञान कराना है। इन दोनोंमें यदि कोई अन्तर है तो इतना ही कि प्रमाणज्ञानमें अंशभेद अविवक्षित रहता है जब कि नयज्ञानमें अंशभेद विवक्षित होकर उस द्वारा वस्तु स्वीकार की जाती है। इसलिये नयका लक्षण करते हुए आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि (अ० १, सू० ३३) में कहते हैं :—

वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः।

अनेकान्तात्मक वस्तुमें विरोधके विना हेतुकी मुख्यतासे साध्यविशेषकी यथार्थताके प्राप्त करानेमें समर्थ प्रयोगको नय कहते हैं।

आचार्य पूज्यपादने नयका यह लक्षण नयसप्तभंगीको लक्ष्य कर वचननयका किया है। तत्त्वार्थवार्तिकमें नयका लक्षण करते समय भट्टाकलंकदेवकी भी यही दृष्टि रही है। ज्ञानपरक नयका लक्षण करते हुए नयचक्रमें यह वचन आता है :—

> जं णाणीण वियप्पं सुअभेयं वत्थुअंससंगहणं।
> तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहिं णाणेहिं ॥१७४॥

वस्तुके एक अंशको ग्रहण करनेवाला जो ज्ञानीका विकल्प होता है, जो कि श्रुतज्ञानका एक भेद है उसे प्रकृतमें नय कहा गया है और जो नयज्ञानका आश्रय करता है वह ज्ञानी है॥१७४॥

यहाँ पर प्रश्न होता है कि वस्तु तो अनेकान्तात्मक है उसमें एक अंशको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहना उचित नहीं है। यह प्रश्न नयचक्रके कर्ताके सामने भी रहा है। वे इसका समाधान करते हुए कहते हैं :—

> जम्हा ण णयेण विणा होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती।
> तम्हा सो णायव्वो एयंतं हंतुकामेण ॥ १७५ ॥

यतः नयके विना मनुष्यको स्याद्वादकी प्रतिपत्ति नहीं होती, अतः जो एकान्तके आग्रहसे मुक्त होना चाहता है उसे नय जानने योग्य है ॥१७५॥

इसी तथ्यको पुष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं :—

> जह सद्धाणं आई सम्मत्तं जह तवाई गुणणिलए।
> झेओ वा एयरसो तह णयमूलं अणेयंतो ॥१७६॥

जिस प्रकार सम्यक्त्वमें श्रद्धानकी मुख्यता है, जिस प्रकार गुणोंमें तपकी मुख्यता है और जिस प्रकार ध्यानमें एकरस ध्येयकी मुख्यता है उसी प्रकार अनेकान्तकी सिद्धिमें नयकी मुख्यता है ॥१७६॥

यहाँपर प्रश्न होता है कि अनेकान्तकी सिद्धि प्रमाण सप्तभंगी के द्वारा होजाती है। उसके लिए नयसप्तभंगीकी आवश्यकता नहीं है, अतः सम्यग्ज्ञान प्रमाणरूप ही रहा आवे, उसका एक भेद नय भी है ऐसा माननेकी क्या आवश्यकता है? समाधान यह है कि जितना भी वचन प्रयोग होता है वह नयात्मक ही होता है। लोकमें ऐसा एक भी वचन उपलब्ध नहीं होता जो धर्मविशेषके द्वारा वस्तुका प्रतिपादन न करता हो। उदाहरणार्थ 'द्रव्य' शब्द ही लीजिए। इसे हम 'जो गुण-पर्यायवाला हो' या 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त हो' इस अर्थमें रूढ़ करके द्रव्यकी व्याख्या करते हैं, परन्तु इसका यौगिक अर्थ 'जो द्रवता है अर्थात् अन्वित होता है वह द्रव्य' यही होता है, इसलिए जितना भी वचनव्यवहार है वह तो नयरूप ही है। फिर भी हम प्रमाण सप्तभंगीके प्रत्येक भंगमें कहींपर 'स्यात्' शब्द द्वारा अभेदवृत्ति करके और कहींपर उसी द्वारा अभेदोपचार करके उन सब भंगोंके समुदायको प्रमाण सप्तभंगी कहते हैं। प्रथम भंग द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे कहा जाता है इसलिये उसमें अभेदवृत्ति विवक्षित रहती है, दूसरा भंग पर्यायार्थिक नयकी मुख्यतासे कहा जाता है, इसलिए उसमें अभेदोपचार विवक्षित रहता है और शेष भंग क्रमसे और अक्रमसे दोनों नयोंकी मुख्यतासे कहे जाते हैं इसलिये उनमें उसी विधिसे अभेदवृत्ति और अभेदोपचारकी मुख्यता रहती है। प्रत्येक वचन नयात्मक

ही होता है, परन्तु यह वक्ताकी विवक्षा पर निर्भर है कि वह कहाँ किस वचनका किस अभिप्रायसे प्रयोग कर रहा है। अतः तत्त्व और तीर्थकी स्थापना करनेके लिये नयोंकी आवश्यकता है ऐसा यहाँपर समझना चाहिये।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि प्रत्येक द्रव्य न सामान्यात्मक है और न विशेषात्मक ही हैं। किन्तु वह उभयात्मक है, अतः इनके द्वारा वस्तुको ग्रहण करनेवाला नय भी दो प्रकारका है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो विकल्पज्ञान पर्यायको गौण करके द्रव्यके सामान्य अंश द्वारा उसे जानता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो विकल्पज्ञान सामान्य अंशको गौण करके द्रव्यके विशेष अंश द्वारा उसे जानता है वह पर्यायार्थिक नय है। इस प्रकार सब नयोंके आधारभूत मुख्य नय दो ही हैं और उनके आश्रयसे प्रवृत्त होनेवाला वचनव्यवहार भी दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है—द्रव्यके सामान्य अंशको मुख्य कर और विशेष अंशको गौणकर प्रवृत्त होनेवाला वचनव्यवहार तथा द्रव्यके विशेष अंशको मुख्यकर और सामान्य अंशको गौणकर प्रवृत्त होनेवाला वचनव्यवहार। शब्दादिक तीन नय भी पर्यायार्थिक नयके अवान्तर भेद माने गये हैं, इसलिए इस परसे कोई यह शंका करे कि जब द्रव्यके सामान्य अंशका प्रतिपादन करनेवाला कोई वचन ही उपलब्ध नहीं होता ऐसी अवस्थामें द्रव्यके सामान्य अंशको मुख्यकर और विशेष अंशको गौणकर प्रवृत्त होनेवाला वचनव्यवहार होता है ऐसा कथन क्यों किया गया है तो उसके द्वारा ऐसी शंकाका किया जाना ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दादिक नयोंमें एक अर्थमें लिंगादिके भेदसे जो शब्द प्रयोग होता है या रौढ़िक और

यौगिक अर्थमें जो शब्द प्रयोग होता है, वह कहां किस रूपमें मान्य है मात्र इतना विचार किया जाता है। जब कि प्रकृतमें जो भी वचनव्यवहार होता है उसमें कौन वचनव्यवहार द्रव्यके सामान्य अंशको मुख्य कर और विशेष अंशको गौण कर प्रवृत्त हुआ है तथा कौन वचनव्यवहार द्रव्यके विशेष अंशको मुख्य कर और सामान्य अंशको गौण कर प्रवृत्त हुआ है इसका विचार, किया गया है। तात्पर्य यह है कि पर्यायकी दृष्टिसे किस अर्थमें किस प्रकारका वचन प्रयोग करना ठीक है यह विचार शब्दादिक नयोंमें किया जाता है और यहां पर जो भी वचनव्यवहार होता है वह कहां किस अपेक्षासे किया गया है यह दृष्टि मुख्य है, इसलिये उक्त दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए।

इस प्रकार मुख्य नय दो हैं—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। आगममें नयोंके नैगम आदि जो सात भेद दृष्टिगोचर होते हैं वे सब इन्हीं दो नयोंके अवान्तर भेद हैं। मात्र नैगमनयके विषयमें विशेष वक्तव्य है जो अन्यत्रसे जान लेना चाहिए। विशेष प्रयोजन न होनेसे उसकी यहां पर हम मीमांसा नहीं करेंगे। नयदृष्टिसे विश्लेषण कर पदार्थोंको जाननेकी यह एक पद्धति है। इसके सिवा वस्तुस्वभाव और कार्य-कारणपरम्पराके साथ पदार्थोंको जाननेकी एक नयपद्धति और है जो मोक्षमार्गमें विशेष प्रयोजनीय होनेसे 'अध्यात्मनय' शब्द द्वारा व्यवहृत की गई है। तात्पर्य यह है कि जहां पर शब्द व्यवहारकी मुख्यता से या उसकी मुख्यता किये विना उपचरित और अनुपचरित कथनको समानभावसे स्वीकार करके द्रव्य, गुण और पर्यायकी दृष्टिसे सब पदार्थोंके भेदाभेदका विचार किया गया है वहां पर वैसा विचार करनेके लिये नैगमादि नयोंकी पद्धति स्वीकार की

गई है। किन्तु जहां पर आत्मसिद्धिमें प्रयोजनीय दृष्टिको सम्पादित करनेके लिये कौन कथन उपचरित है और कौन कथन अनुपचरित है इसकी मीमांसा की गई है वहां पर भिन्न प्रकारसे नयपद्धति स्वीकार की गई है। प्रकृतमें दूसरी नयपद्धतिकी मीमांसा करना मुख्य प्रयोजन होनेसे उसीके आश्रयसे विचार करते हैं :—

मूल नय दो हैं:—निश्चयनय और व्यवहारनय। ये दोनों मूलनय हैं इसका उल्लेख नयचक्रमें इन शब्दोंमें किया है—

णिच्छय-ववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ पज्जय-दव्वत्थियं मुणह ॥१८३॥

सब नयोंके निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूल भेद हैं। तथा पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनयको निश्चयनयकी सिद्धिका हेतु जानो ॥१८३॥

इन नयोंका स्वरूप निर्देश करते हुए समयप्राभृतमें कहा है:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

आगममें व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ कहा है। इनमेंसे भूतार्थका आश्रय करनेवाला जीव नियमसे सम्यग्दृष्टि है ॥११॥

इस गाथाकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं:—

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति। शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद् भूतमर्थं प्रद्योतयति।

व्यवहारनय नियमसे सबका सब अभूतार्थ होनेसे अभूत

अर्थको प्रकाशित करता है तथा शुद्धनय एकमात्र भूतार्थ होनेसे भूत अर्थको प्रकाशित करता है।

आगे इसी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दोंके अर्थका स्पष्टीकरण करते हुए जो बतलाया है उसका भाव यह है कि जिस प्रकार कीचड़ युक्त जल जलका स्वभाव नहीं है, इसलिये कीचड़ युक्त जलको जल समझना अभूतार्थ है और जो जल निर्मलीके द्वारा कीचड़से अलग कर लिया जाता है वह मात्र जल होनेसे भूतार्थ है। उसीप्रकार कर्म-संयुक्त अवस्था आत्माका स्वभाव न होनेसे अभूतार्थ है और शुद्धदृष्टि द्वारा कर्मसंयुक्त अवस्थासे ज्ञायकस्वभाव आत्माको अलग करके उसे ही आत्मा समझना भूतार्थ है। इस प्रकार भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दोंका स्पष्टीकरण करके अन्तमें वे कहते हैं कि यतः व्यवहारनय अभूतार्थग्राही है अतः वह अनुसरण करने योग्य नहीं है।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि प्रकृतमें आचार्य अमृतचन्द्रने भूतार्थ और अभूतार्थका जो अर्थ किया है वह अपनेमें मौलिक होकर भी प्रकृतमें भूतार्थका वाच्य क्या है और अभूतार्थ शब्दमें कितने अर्थ गर्भित हैं इसका हमें अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमें विस्तारसे विचार करना होगा। उसमें भी हम सर्वप्रथम भूतार्थके विषयमें विचार करके अन्तमें अभूतार्थके सम्बन्धमें निर्देश करेंगे। समयप्राभृतमें शुद्ध आत्माका निर्देश करते हुए कहा है—

> ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
> एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रम-

ही है। इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं। और इस प्रकार जो ज्ञात हुआ वह तो वही है ॥६॥

इस गाथामें आचार्य कुन्दकुन्दने शुद्ध आत्माकी व्याख्या की है। शुद्ध आत्मा क्या है ऐसा प्रश्न होनेपर वे कहते हैं कि जो ज्ञायकभाव है वह न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त ही है। जीवकी प्रमत्त और अप्रमत्त ये अवस्थाविशेष हैं। इन्हें लक्ष्यमें लेनेसे ये अवस्थाएँ ही लक्ष्यमें आती हैं, त्रिकाली ध्रुवस्वभाव आत्माकी प्रतीति नहीं होती। इसलिए यहाँपर आत्मा न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त ही है ऐसा कहकर सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकारके व्यवहारका निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो संसारी जीव अपने त्रिकाली ध्रुवस्वभावके सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा करता है, रुचि करता है और प्रतीति करता है उसे उक्त दोनों प्रकारकी अवस्थाओंसे मुक्त एक मात्र निर्विकल्प आत्मा ही अनुभवमें आता है। गाथाके प्रारम्भमें यद्यपि उसे विशेषणरूपसे ज्ञायक शब्द द्वारा सम्बोधित किया गया है। परन्तु विचारकर देखा जाय तो उसका किसी भी शब्द द्वारा कथन करना सम्भव नहीं है, क्योंकि पर्यायवाची जितने भी नाम हैं वे उसे धर्मविशिष्ट करके ही उसका कथन करते हैं, इसलिए प्रकृत गाथामें उस निर्विकल्प आत्माका ज्ञान करानेके लिए अन्तमें कहा गया है:—'वह तो वही है'।

यहाँपर ऐसा समझना चाहिए कि लोकमें जड़ और चेतन जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने अपने गुण-पर्यायोंसे विशिष्ट होकर पृथक् पृथक् सत्ता रखते हैं। प्रत्येक आत्माकी सत्ता अन्य जड़ पदार्थोंसे तो भिन्न है ही, किन्तु अपने समान अन्य चेतन पदार्थोंसे भी भिन्न है। किन्तु प्रकृतमें मोक्षमार्ग

पर आरूढ़ होनेके लिए इतना जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि जबतक इस जीवको अध्यात्मशास्त्रोंमें प्ररूपित विधिसे जीवादि नौ पदार्थोंकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती है तब तक वह सम्यग्दर्शनका भी अधिकारी नहीं हो सकता। विचार कीजिये हमने यह जान लिया कि रूप-रसादिसे भिन्न चेतनालक्षणवाला जीव स्वतन्त्र द्रव्य है। उसकी संसार और मुक्त ये दो अवस्थाएँ हैं। संसारी जीव इन्द्रियोंके भेदसे पांच प्रकारके और कायके भेदसे छह प्रकारके हैं तो इतना जान लेने मात्रसे हमें क्या लाभ मिला। केवल निखिल शास्त्रोंका ज्ञाता होना ही मोक्षमार्गमें कार्यकारी नहीं है। मोक्षमार्गके ऊपर आरूढ़ होनेके लिए उपयोगी पड़नेवाली जीवादि नौ पदार्थोंके विश्लेषण-की प्रक्रिया ही भिन्न प्रकारकी है। जब तक उस प्रक्रियाके अनुसार जीवादि नौ पदार्थोंका यथार्थ बोध होकर स्वरूपरुचि नहीं उत्पन्न होती तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृतमें कहते हैं:—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

भूतार्थनयसे जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

यहां पर भूतार्थनयसे जाने गये नौ पदार्थोंको सम्यग्दर्शन कहा है। अब यहां पर सर्वप्रथम उन जीवादि नौ पदार्थोंका भूतार्थनयसे जानना क्या वस्तु है इसका विचार करना है, क्योंकि बाह्य दृष्टिसे जीव और पुद्गलकी अनादि बन्ध पर्यायको लक्ष्यमें लेकर एकत्वका अनुभव करने पर भी वे भूतार्थ प्रतीत होते हैं

और अन्तर्दृष्टिसे ज्ञायक भाव जीव है तथा उसके विकारका हेतु अजीव है, इसलिये केवल जीवके विकार, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ठहरते हैं तथा जीवके विकारके हेतु पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षरूप पुद्गलकर्म ठहरते हैं। इस प्रकार इस दृष्टिसे देखने पर भी नौ पदार्थ भूतार्थ प्रतीत होते हैं, इसलिये यहां पर यह प्रश्न होता है कि प्रकृत गाथामें आचार्य महाराजको 'भूतार्थ' शब्दका क्या यही अर्थ मान्य है या इसका कोई दूसरा अर्थ यहां पर लिया गया है? यद्यपि इस प्रश्नका समाधान स्वयं आचार्य महाराजने 'भूतार्थ' शब्दका अर्थ करके इस गाथाके पूर्व ही कर दिया है। वे गाथा १२ में स्पष्ट कहते हैं कि शुद्ध (गुण-पर्याय भेद निरपेक्ष) आत्माका उपदेश करनेवाला जो नय है वही शुद्ध (भूतार्थ) नय है। यदि कहा जाय कि 'शुद्ध' का अर्थ तो सिद्ध पर्याय विशिष्ट आत्मा भी होता है, इसलिये शुद्ध शब्दसे वह अर्थ प्रकृतमें क्यों नहीं लिया जाता है तो उसका ऐसा कथन करना ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्धनयमें जिस प्रकार गुणभेद अविवक्षित रहते हैं उसी प्रकार पर्यायभेद भी अविवक्षित रहता है इस विषय पर स्वयं आचार्य महाराजने समयप्राभृतमें प्रकाश डाला है। वे कहते हैं :—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

ज्ञानीके चारित्र, ज्ञान और दर्शन ये व्यवहारनयसे उपदिष्ट किये जाते हैं। निश्चयनयसे ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है, ज्ञानी तो मात्र शुद्ध (गुणपर्यायभेद निरपेक्ष) ज्ञायक ही है।

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :—

आस्तां तावद् बन्धप्रत्ययाद् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव न विद्यन्ते। यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्म-धर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किञ्चिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रम्, ज्ञायक एवैकः शुद्धः।

ज्ञायक जीवके बन्धके निमित्तसे अशुद्धता उपलब्ध होती है यह कथन तो रहने दो, वस्तुतः उसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही नहीं होते, क्योंकि जो अन्तेवासी अनन्त धर्मोवाले एक धर्मीको समझनेमें अपरिपक्व है उसे उसका उपदेश करते हुए आचार्योंका धर्म और धर्मीमें स्वभावसे अभेद होने पर भी संज्ञासे भेद उत्पन्न करके व्यवहारमात्रसे ही ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है और चारित्र है ऐसा उपदेश है। परमार्थसे तो अनन्त पर्यायोंको पीये हुए एक द्रव्यके होनेसे किंचित् मिलित स्वादरूप अभेद एक स्वभाववाले एक द्रव्यका अनुभव करनेवालेके न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है, वह एक शुद्ध ज्ञायक ही है। ऐसे ज्ञायकभावकी उपासना करते हुए (अपने श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रका आश्रय बनाते हुए) वह 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है। इस तथ्यको प्रकाशमें लानेके अभिप्रायसे आचार्य अमृतचन्द्र समयप्राभृत गाथा छहकी टीकामें भी कहते हैं :—

यो हि नाम स्वतःसिद्धत्वेनानादिरनन्तो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः। स संसारावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरन्तकष-

चक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमानानां पुण्य-पापनिवर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूपाणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति। एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्येत।

जो एक ज्ञायकभाव स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि है (किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है), अनन्त है (किसीके द्वारा या स्वयं ही विनाशको नहीं प्राप्त होता), निरन्तर उद्योतरूप है और विशद ज्योतिवाला है वह संसार अवस्थामें बन्धपर्यायके कथनकी दृष्टिसे क्षीर-नीरके समान कर्मपुद्गलोंके साथ एकरूप होने पर भी द्रव्यस्वभावके निरूपणकी दृष्टिसे दुरन्त कषायचक्रके उदयकी विचित्रतावश पुण्य-पापको उत्पन्न करनेवाले और विश्वरूपताको प्राप्त हुए जो प्रवर्तमान शुभाशुभ भाव हैं उनके स्वभावरूपसे नहीं परिणमन करता इसलिये न प्रमत्त है और न अप्रमत्त ही है। इस प्रकार जो ज्ञायकभाव प्रमत्त और अप्रमत्त दशासे भिन्न होकर अवस्थित है वही समस्त अन्य द्रव्योंसम्बन्धी भावोंसे भिन्नरूपसे उपासनाको प्राप्त होता हुआ (श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रका आश्रय होता हुआ) 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है।

यहाँ पर आचार्य अमृतचन्द्रने जिस ज्ञायकभावको शुद्ध कहा है उससे न तो शुद्ध और अशुद्ध पर्यायोंका ही ग्रहण होता है और न ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र गुणका ही, क्योंकि यह दोनों प्रकारका कथन सद्भूत और असद्भूत व्यवहाराश्रित होनेसे त्याज्य है। तो भी वह सद्भावरूप है यह इसीसे स्पष्ट है कि आचार्य महाराजने उसे आदि और अन्तसे रहित स्वतः सिद्ध कहा है। इससे स्पष्ट है कि अशेष विशेषोंको अन्तर्लीन करके स्थित जो ज्ञायक जीवका त्रिकाली ध्रुवस्वभाव है वही यहाँ पर 'ज्ञायक' शब्द द्वारा अभिहित करके भूतार्थरूपसे विवक्षित

किया गया है। समयप्राभृत गाथा ९ और १० में श्रुतकेवलीकी जो निश्चयपरक व्याख्या की है और गाथा १४ में जो शुद्धनयका स्वरूप बतलाया है उससे भी उक्त अर्थका ही समर्थन होता है।

इस पर शंका होती है कि जब भूतार्थ शब्दसे प्रकृतमें ज्ञायकभावका अशेष विशेष निरपेक्ष त्रिकाली ध्रुवस्वभाव लिया गया है ऐसी अवस्थामें जीव द्रव्यमें जो गुणभेद और पर्याय-भेदकी प्रतीति होती है उसे क्या सर्वथा अभूतार्थ समझा जाय? और यदि गुणभेद और पर्यायभेदको सर्वथा अभूतार्थ माना जाता है तो जीवद्रव्यके संसारी और मुक्तरूप जो नानाभेद दृष्टिगोचर होते हैं वे नहीं होने चाहिये और यदि इस भेद व्यवहारको परमार्थभूत माना जाता है तो उसका निषेध करके ज्ञायकभावके केवल त्रिकाली ध्रुवस्वभावको भूतार्थ बतलाकर मात्र उसीको आश्रय करने योग्य नहीं बतलाना चाहिये। यह तो सुस्पष्ट है कि जैनदर्शनमें न तो केवल सामान्यरूप पदार्थको स्वीकार किया गया है और न केवल विशेषरूप स्वीकार किया गया है। किन्तु उसमें पदार्थको सामान्य-विशेषात्मक मानकर ही वस्तु व्यवस्था की गई है। ऐसी अवस्थामें ज्ञायकभावके त्रिकाली ध्रुवस्वभावको भूतार्थ बतलाकर मोक्षमार्गमें उसे ही आश्रय करने योग्य बतलाना कहाँ तक उचित है यह विचारणीय हो जाता है, क्योंकि जब कि ज्ञायकभावका केवल त्रिकाली ध्रुवस्वभाव सर्वथा कोई स्वतन्त्र पदार्थ ही नहीं है ऐसी अवस्थामें मात्र उसीको आश्रय करने योग्य कैसे माना जा सकता है? उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि प्रकृतमें या तो यह मानो कि सामान्य-विशेषात्मक कोई पदार्थ न होकर सामान्यात्मक ही पदार्थ है, इसलिये मोक्षमार्गमें मात्र उसे ही आश्रय करने योग्य बतलाया

गया है और यदि पदार्थको सामान्य-विशेषात्मक माना जाता है तो केवल उसके सामान्य अंशको भूतार्थ कहकर उसके विशेष अंशको अभूतार्थ बतलाते हुए उसका निषेध मत करो। तब यही मानो कि जो जीव द्रव्यको सामान्य-विशेषात्मकरूपसे भूतार्थ जानकर उभयरूप उसको लक्ष्यमें लेता है वह सम्यग्दृष्टि है।

यह एक मौलिक प्रश्न है जिस पर यहाँ सांगोपांग विचार करना है। यह तो मानी हुई बात है कि आगममें एक जीव द्रव्य ही क्या प्रत्येक द्रव्यको जो सामान्य-विशेषात्मक या गुण-पर्यायवाला बतलाया गया है वह अयथार्थ नहीं है। संसारी जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंसे संयुक्त होकर विविध प्रकारकी नर-नारकादि पर्यायोंको धारण कर रहा है इसे किसीने अपरमार्थभूत कहा हो ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया। स्वयं आचार्य अमृतचन्द्रने समयप्राभृत गाथा १३ व १४ की टीकामें जीव द्रव्यकी इन सब अवस्थाओंको भूतार्थरूपसे स्वीकार किया है। इसलिए कोई जीवद्रव्यको या अन्य द्रव्योंको सामान्य-विशेषात्मकरूपसे जानता है तो वह अयथार्थ जानता है यह प्रश्न ही नहीं उठता। एक द्रव्यके आश्रयसे व्यवहारनयका जितना भी विषय है वह सबका सब भूतार्थ है इसमें सन्देह नहीं। फिर भी यहां पर जो व्यवहारनयके विषयको अभूतार्थ और निश्चयनयके विषयको भूतार्थ कहा गया है उसका कारण अन्य है। बात यह है कि संसारी जीव अनादि कालसे परके निमित्तसे अपने अपने स्वकालमें जब जो पर्याय उत्पन्न होती है उसे ही स्वात्मा मानता आ रहा है। परिणामस्वरूप किसी विवक्षित पर्यायके उत्पन्न होने पर रागवश वह उसकी प्राप्तिमें हर्षित होता है और उसके व्ययके सम्मुख होने पर वियोगकी कल्पनासे दुखी होता है। पर्यायोंका उत्पन्न होना और नष्ट होना यह उनका अपना स्वभाव है इसे भूल कर

वह उनके उत्पाद और व्ययको अपना ही उत्पाद और व्यय मानता आ रहा है। इन पर्यायोंमें रममाण होनेवाला मैं त्रिकाली ध्रुवस्वभाव हूं इसका उसे भान ही नहीं रहा है। इस जीवके अनादि कालसे संसारमें परिभ्रमण करनेका मूल कारण यही है।

यह तो स्पष्ट है कि इस जीवकी संसारस्वरूप जितनी भी पर्यायें प्राप्त होती हैं वे सबकी सब त्यागने योग्य हैं और यह भी स्पष्ट है कि सिद्धपर्याय उपादेय होने पर भी उसे वर्तमानमें प्राप्त नहीं है। अब विचार कीजिये कि जो पर्यायें त्यागने योग्य हैं उनका आश्रय लेनेसे तो सिद्ध पर्यायकी प्राप्ति हो नहीं सकती, क्योंकि उनका आश्रय लेनेसे संसारकी ही वृद्धि होती है[1] और जो पर्याय (सिद्धपर्याय) वर्तमानमें है नहीं उसका आश्रय लिया नहीं जा सकता, क्योंकि जो वर्तमानमें है ही नहीं उसका अवलम्बन लेना कैसे सम्भव है। परन्तु इस जीवको संसारका अन्त कर मुक्त अवस्था अवश्य प्राप्त करनी है, क्योंकि वह इसका चरम ध्येय है। तब प्रश्न होता है कि वह किसका आश्रय लेकर आगे बढ़े और मुक्ति कैसे प्राप्त करे ? इसके समाधानस्वरूप यह कहना तो बनता नहीं कि जो साधक जीव संसारका अन्त कर मुक्त हो गये हैं उनका आश्रय लेनेसे इस जीवको मुक्तिकी प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि वे पर हैं। अतएव एक तो परका आश्रय लेना बनता नहीं। और कदाचित् व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिकभावको लक्ष्यमें रखकर ऐसा मान भी लिया जाय तो क्या यह सम्भव है कि निमित्त पर दृष्टि रखनेसे इस जीवको उस द्वारा मुक्ति प्राप्त हो

---

१. यद्यपि ऐसे जीवके अस्तित्वादि गुणकी शुद्ध पर्यायें होती है तो भी वे भेदरूप होनेसे उनके आश्रयसे भी राग उत्पन्न होता है, इसलिए उनका भी आश्रय नहीं लिया जा सकता।

जायगी ? अर्थात् नहीं होगी, क्योंकि जो पर है उसपर दृष्टि रखनेसे परनिक्षेप पर्यायकी प्राप्ति हो जाय यह त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि जो इस जीवके ज्ञानादि गुण हैं उन पर दृष्टि रखनेसे मुक्तिकी प्राप्ति हो जायगी सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे भी विकल्पज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं रुक सकती और जब तक विकल्पज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं रुकेगी तब तक अभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। तब यह पुनः प्रश्न होता है कि यह जीव किसका आश्रय लेकर मोक्षके लिए उद्यम करे, क्योंकि यह जीव किसीका आश्रय लिए बिना मुक्तिको प्राप्त कर ले यह तो सम्भव नहीं है। साथ ही यह भी बात है कि जिसका आश्रय लिया जाय वह न तो काल्पनिक होना चाहिये और न गुण-पर्यायके भेदरूप ही होना चाहिये। वह आश्रयभूत पदार्थ उससे सर्वथा भिन्न हो नहीं सकता, क्योंकि जहाँ कथंचित् भेद विवक्षा भी प्रकृतमें प्रयोजनीय नहीं है वहाँ सर्वथा भेदरूप पदार्थका आश्रय लेनेसे इष्ट कार्यकी सिद्धि कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती। साथ ही एक बात और है। वह यह कि मोक्षके लिये जिस पदार्थका आश्रय लिया जाय वह अपनेसे अभिन्न होकर भी स्वयं अविकारी तो होना ही चाहिये, साथ ही नित्य भी होना चाहिए, क्योंकि जो विकारी होगा उसका आश्रय लेनेसे निरन्तर विकारकी ही सृष्टि होगी और जो अनित्य होगा उसका सर्वदा आश्रय करना बन नहीं सकेगा। अब विचार कीजिए कि ऐसा कौन सा पदार्थ हो सकता है जो अपनेसे अभिन्न होकर भी न तो विकारी है और न अनित्य ही है। विचार करने पर विदित होता है कि ऐसा पदार्थ परम पारिणामिकभाव ही हो सकता है। ज्ञायक भाव या त्रिकाली ध्रुवभाव भी उसीको कहते हैं। नियमसारके टीकाकारने जिसको कारण परमात्मा

संज्ञा रखी है वह यही है। वह निगोद पर्यायसे लेकर सिद्ध पर्याय तक सब अवस्थाओंमें समानरूपसे सदा एकरूपमें पाया जाता है, इसलिये वह स्वयं निरुपाधि है और जो स्वयं निरुपाधि होता है वह विकार रहित तो होता ही है यह भी स्पष्ट है और जो स्वयं विकार रहित होता है वह नित्य भी होता है यह भी स्पष्ट है। ऐसा नित्य और निरुपाधि स्वभावभूत जो ज्ञायक भाव है[1] वही मोक्षमार्गमें आश्रय करने योग्य है यह जान कर आचार्य कुन्दकुन्दने इसे तो भूतार्थ कहा है और इसके सिवा जितना भी भेदव्यवहार है उसे अभूतार्थ कहा है। द्रव्यमें गुणभेद और पर्यायभेद है इसमें सन्देह नहीं और इस दृष्टिसे वह भूतार्थ है यह भी सच है। परन्तु त्रिकाली ध्रुवस्वभावी ज्ञायक भावमें वह अन्तर्लीन होकर भी अविवक्षित रहता है, इस लिये इस अपेक्षासे उसमें इसकी नास्ति ही जाननी चाहिये। कहीं कहीं इस भेदव्यवहारको असत्यार्थ और मिथ्या भी कहा गया है सो ऐसा कहनेका भी यही कारण है। बात यह है कि जो साधक है उसे यह भेद जानने योग्य होकर भी आश्रय करने योग्य त्रिकालमें नहीं है, इसलिये उस परसे दृष्टि हटाकर ज्ञायकके एकमात्र त्रिकाली ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि करनेके लिये यह कहा गया है कि जितना भी भेदव्यवहार और संयोगसम्बन्ध है वह सबका सब अभूतार्थ है, असत्यार्थ है और मिथ्या है। इस प्रकार जीव द्रव्यके सामान्य-विशेषात्मक होने पर भी मोक्ष-मार्गमें ज्ञायकभावके त्रिकाली ध्रुवभावको तो क्यों भूतार्थ बतलाकर आश्रय करने योग्य कहा और भेदव्यवहारको क्यों

---

१. पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधिः स्वाभाविक एव।

पञ्चास्तिकाय गाथा ५८ टीका

अभूतार्थ बतलाकर त्यागने योग्य बतलाया इसका विचार किया।

यह तो भूतार्थ और अभूतार्थकी मीमांसा हुई। इस दृष्टिसे जब इन नयोंका विचार करते हैं तो मोक्षमार्गमें आश्रय करने योग्य जो भूतार्थ है वह एक प्रकारका होनेसे उसे विषय करनेवाला निश्चयनय तो एक ही प्रकारका बनता है। यह परमभावग्राही निश्चयनय है। इसका लक्षण बतलाते हुए नयचक्रमें कहा भी है:—

गेह्लइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोपयारपरिचत्तं।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥१९९॥

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचारसे रहित मात्र द्रव्यस्वभावको ग्रहण करता है, सिद्धिके इच्छुक पुरुष द्वारा वह परम भावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानने योग्य है ॥१९९॥

उक्त गाथामें आया हुआ 'सिद्धिकामेण' पद ध्यान देने योग्य है। इस द्वारा यह सूचित किया गया है कि जो पुरुष मुक्तिके इच्छुक हैं उन्हें एक मात्र इस नयका विषय ही आश्रय करने योग्य है। किन्तु इस नयके विषयका आश्रय करना तभी सम्भव है जब इस जीवकी दृष्टि न तो जीवकी शुद्ध अवस्था पर रहती है, न अशुद्ध अवस्था पर रहती है और न उपचरित कथनको ही वह अपना आलम्बन बनाती है, इसलिए उक्त गाथामें द्रव्यार्थिकनय (निश्चयनय) के विषयका निर्देश करते हुए उसे अशुद्ध, शुद्ध और उपचारसे रहित कहा है।

निश्चय शब्द 'निर्' उपसर्ग पूर्वक 'चि' धातुसे बना है। उसका अर्थ है जो नय सब प्रकारके चय अर्थात् गुणोंके और पर्यायोंके समुदाय, संयोगसम्बन्ध, निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध और उपादान-उपादेयसम्बन्धको प्रकाशित करनेवाले व्यवहारसे

निष्क्रान्त होकर मात्र अभेदरूप त्रिकाली ध्रुवभाव या परम पारिणामिकभावको स्वीकार करता है वह निश्चयनय है[1]। इसका किसी उदाहरण द्वारा कथन करना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि विधिपरक जिस शब्द द्वारा इसका कथन करेंगे उससे किसी अवस्था या गुणविशिष्ट वस्तुका ही बोध होगा। परन्तु मोक्ष-मार्गमें आश्रय करने योग्य जो निश्चयका विषय है वह ऐसा नहीं है, इसलिए इसका जो भी लक्षण किया जायगा वह व्यवहारका निषेध परक ही होगा। यही सब विचारकर पंचाध्यायीकारने इसका इस प्रकार लक्षण किया है:—

> व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्चः परमार्थः।
> व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥१-५९८॥
> व्यवहारः स यथा स्यात् सद् द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा।
> नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥१-५९९॥

व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है और निश्चय उसका निषेध करनेवाला है, इसलिये व्यवहारका प्रतिषेध-रूप जो भी पदार्थ है वही निश्चयनयका वाच्य है ॥१-५९८॥ जैसे द्रव्य सद्रूप है या जीव ज्ञानवान् है ऐसा विषय करनेवाला व्यवहारनय है और उसका निषेधपरक 'न' इतना मात्र निश्चयनय है जो सब नयोंमें मुख्य है॥ १-५९९॥

समयप्राभृत गाथा १४ में शुद्धनयका लक्षण करते हुए जो यह कहा है कि जो आत्माको बन्ध और परके स्पर्शसे रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलरहित, विशेषरहित और अन्य संयोग रहित ऐसे पाँच भावरूप देखता है उसे शुद्धनय (परमभावग्राही

---

१. यह व्युत्पत्ति निश्चय शब्दके ऊपरसे की गई है। (पूज्य पं० वंशीधर जी न्यायालंकार इस व्युत्पत्तिको स्वीकार करते हैं।

निश्चयनय) जानो सो इस द्वारा भी निश्चयनयका वही विषय कहा गया है जिसकी ओर पंचाध्यायीकार 'न' शब्द द्वारा इंगित कर रहे हैं। समयप्राभृतकी वह गाथा इस प्रकार है :—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठमणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥ १४ ॥

अर्थ पहले लिख ही आये हैं। इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं:—

या खल्वबद्धास्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः। सा त्वनुभूतिरात्मैवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते।

नियमसे जो अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माकी अनुभूति है वह शुद्धनय है। वह अनुभूति आत्मा ही है, इसलिए उसमें (अनुभूतिमें) एक मात्र आत्मा ही प्रकाशमान होता है।

इस शुद्धनयका सुस्पष्ट निर्देश करते हुए वे एक कलशमें कहते हैं:—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

जो परभाव अर्थात् परद्रव्य, परद्रव्यके भाव तथा परद्रव्यको निमित्तकर हुए अपने विभाव इस प्रकार समस्त परभावोंसे भिन्न है, आपूर्ण है, आदि और अन्तसे रहित है, एक है तथा जिसमें समस्त संकल्प और विकल्पोंके समूहका विलय हो गया है ऐसे आत्मस्वभावको प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदयको प्राप्त होता है ॥१०॥

यहाँ पर आचार्य अमृतचन्द्रने एक बार तो निश्चयनयका

विषय क्या है यह दिखलाते हुए उसका कथन किया है और दूसरी बार जो निश्चयनयका विषय है उसरूप आत्मानुभूतिको ही निश्चयनय कहा है सो उनके ऐसा कथन करनेका खास कारण यह है कि जब तक यह जीव निश्चयनयके विषयको ठीक तरहसे हृदयंगम करके तद्रूप आत्मानुभूतिको प्रगट करता हुआ उसीमें सुस्थित नहीं होता है तब तक वह विविध प्रकारके अध्यवसान-भावोंसे जायमान अपनी भावसंसाररूप पर्यायका अन्त कर मुक्तिका पात्र नहीं हो सकता। मुक्ति और संसारका परस्पर विरोध है। संसारके कारण विविध प्रकारके अध्यवसान भाव हैं और मुक्तिका कारण उनका त्याग है। परन्तु विविध प्रकारके अध्यवसानभावोंका त्याग हो कैसे यह प्रश्न है? यह तो हो नहीं सकता कि यह जीव एक ओर विविध प्रकारके अध्यवसान भावोंके कारणभूत व्यवहारनयको उपादेय मानकर उसका आश्रय भी लिये रहे और दूसरी ओर संसारका त्याग करनेके लिये उद्यम भी करता रहे, क्योंकि जब तक यह जीव उपादेय मानकर व्यवहारनयका आश्रय करता रहता है तब तक नियमसे अध्यवसानभावोंकी उत्पत्ति होती रहती है और जब तक इसके अध्यवसानभावोंकी उत्पत्ति होती रहती है तब तक संसारका अन्त होना असम्भव है, इसलिये जो निश्चयनयका विषय है वही आश्रय करने योग्य है ऐसा जान कर उसकी अनुभूतिको ही निश्चयनय कहा है। व्यवहारनय प्रतिषेध्य क्यों है और निश्चयनय प्रतिषेधक क्यों है इसका रहस्य भी इसीमें छिपा हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृत आदि परमागममें सर्वत्र पहले व्यवहारनयके विषयको उपस्थितकर बादमें निश्चयनयके कथन द्वारा जो उसका निषेध किया है उसका कारण भी यही है। जैसा कि उनके इस उल्लेखसे ही स्पष्ट है :—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

इस प्रकार निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है ऐसा जानो। तथा जो मुनि निश्चयनयका आश्रय लिये हुए हैं वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥ २७२ ॥

यहाँपर गाथामें आया हुआ 'णिच्छयणयासिदा' पद ध्यान देने योग्य है। इस द्वारा आचार्य महाराज स्पष्ट सूचित करते हैं कि मोक्षमार्गमें एकमात्र निश्चयनयका सहारा लेनेसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होगी, व्यवहारनयका सहारा लेनेसे नहीं। यद्यपि आचार्य महाराज निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध क्यों है इसके कारणका ज्ञान इसके पहले ही करा आये हैं पर मोक्षमार्गमें निश्चयनयका सहारा लेना ही कार्यकारी है ऐसा कहनेसे भी उक्त अर्थ फलित हो जाता है।

निश्चयनय प्रतिषेधक है और व्यवहारनय प्रतिषेध्य है यह आचार्य अमृतचन्द्रके इस वचनसे भी सिद्ध है। वे समयप्राभृत गाथा ५६ की टीकामें कहते हैं :—

निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति ।

तथा निश्चयनय द्रव्याश्रित होनेसे केवल जीवके स्वाभाविक भावका अवलम्बन लेकर प्रकाशित होता है, इसलिए वह परके सभी प्रकारके परभावका प्रतिषेध करता है।

यह तो सुविदित बात है कि जो आश्रय करने योग्य नहीं होता है वह प्रतिषेध्य होता है और जो आश्रय करने योग्य होता है वह प्रतिषेधक होता है। उदाहरणार्थ जो प्राणी स्वच्छ और शीतल जलसे अपनी तृष्णा उपशान्त करना चाहता है वह जब

किसी निर्भरिणीमें गंदले जलको देखता है तो वह जलके गंदले-पनको प्रतिषेध्य समझ कर उसके प्रतिषेधकरूप स्वच्छ एवं शीतल जलको ही स्वीकार करता है। यही बात प्रकृतमें जाननी चाहिए। यहाँ पर मलिन जलस्थानीय व्यवहारनयका विषय है और स्वच्छ एवं शीतल जलस्थानीय निश्चयनयका विषय है। इस-लिए मोक्षका इच्छुक जो आसन्न भव्य प्राणी पहले निश्चयनयके विषयको ठीक तरहसे जान कर उसीका आश्रय लेता है उसके द्वारा व्यवहारनयका विषय आश्रय करने योग्य न होनेसे अपने आप प्रतिषेध्य हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जो निश्चयनयका विषय है वही इस जीवके द्वारा आश्रय करने योग्य है, इसलिये उसके द्वारा व्यवहारनयका विषय अपने आप प्रतिषिद्ध हो जाता है। निश्चयनय आश्रय करने योग्य क्यों है इसका निर्देश करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समय-प्राभृत गाथा ११ की टीकामें पूर्वोक्त जलके दृष्टान्त द्वारा बहुत ही स्पष्ट खुलासा करते हुए स्वयं कहते हैं :—

यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोऽनु-भवितारः पुरुषाः पङ्क-पयसोर्विवेकमकुर्वन्तो बहवोऽनच्छमेव तदनु-भवन्ति। केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयसोर्विवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवन्ति। तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाव-वैश्वरूप्यं तमनुभवन्ति। भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोध मात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकस्वभा-वत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवन्ति। तदत्र ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वा-च्छुद्धनयस्य। अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः।

जिस प्रकार प्रबल कीचड़के मिलनेसे जिसका सहज एक निर्मलभाव आच्छादित है ऐसे जलका अनुभव करनेवाले बहुतसे पुरुष तो ऐसे हैं जो कीचड़ और जलका विवेक न करते हुए उस मैले जलका ही अनुभव करते हैं। परन्तु कितने ही पुरुष अपने हाथसे डाले हुए कतकफलके गिरनेमात्रसे उत्पन्न हुए कीचड़ और जलके पृथक्करण वश अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट किया गया सहज एक स्वच्छ जलस्वभाव होनेसे उस निर्मल जलका ही अनुभव करते हैं। उसी प्रकार प्रबल कर्मोंके मिलनेसे जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोहित है ऐसे आत्माका अनुभव करनेवाले बहुतसे पुरुष तो ऐसे हैं जो आत्मा और कर्मका विवेक न करते हुए व्यवहारसे विमोहित हृदयवाले होकर प्रगट हुए वैश्वरूप भावको लिए हुए उस आत्माका अनुभव करते हैं। किन्तु भूतार्थदर्शी (सहज एक ज्ञायकभावको देखनेवाले) पुरुष अपनी बुद्धिसे डाला गया जो शुद्धनय तदनुरूप बोध होनेमात्रसे आत्मा और कर्मका विवेक हो जानेके कारण अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रकट हुए सहज एक ज्ञायकस्वभाव होनेसे प्रकाशमान एक ज्ञायकभावरूप उस आत्माको अनुभव करते हैं। इसलिए यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जो भूतार्थ (सहज एक ज्ञायकभाव) का आश्रय करते हैं वे ही आत्माको सम्यक्रूपसे देखते हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि हैं। परन्तु इनसे भिन्न दूसरे पुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, क्योंकि शुद्धनय कतकस्थानीय है। अतः कर्मोंसे भिन्न आत्माको देखनेवाले जीवोंको व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

आशय यह है कि जिस प्रकार कीचड़ युक्त जलमें जल भी है और उसकी कीचड़ युक्त अवस्था भी है। अब यदि कोई पुरुष उसमेंसे जलकी स्वच्छ अवस्था प्रगट करना चाहता है तो उसे कतक फल डाल कर ही उसे प्रगट करना होगा, अन्यथा

वह स्वच्छ जलका उपभोग नहीं कर सकता। उसी प्रकार कर्म संयुक्त जीवमें जीव भी है और उसकी कर्मसंयुक्त अवस्था भी है। अब यदि कोई पुरुष उसमेंसे जीवकी कर्मरहित अवस्था प्रगट करना चाहता है तो उसे भूतार्थनयका आश्रय लेकर ही उसे प्रगट करना होगा, अन्यथा वह जीवकी कर्मरहित अवस्थाका उपभोग त्रिकालमें नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि मोक्षमार्गमें एकमात्र निश्चयनय ही अनुसरण करने योग्य है व्यवहारनय नहीं।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि व्यवहार और निश्चय इस प्रकार जो ये दो नय हैं उनमेंसे प्रकृतमें व्यवहारनय तो कर्म-संयुक्त अवस्था विशिष्ट जीवको स्वीकार करता है और निश्चयनय जीवके कर्मसंयुक्त होने पर भी कर्मसंयुक्त अवस्थाको न देखकर मात्र ध्रुवस्वभावी परम पारिणामिक भावरूप एक जीवको स्वीकार करता है, क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक नय अंशग्राही ही होता है इसलिए वे एक एक अंशको ही ग्रहण करते हैं। निश्चय-नय तो केवल सामान्य अंशको ग्रहण करता है और व्यवहारनय केवल विशेष अंशको ग्रहण करता है। साथ ही एक नियम यह भी है कि प्रत्येक द्रव्यका जो परम पारिणामिक भावरूप सामान्य अंश है वह सदा अविकारी होता है, एक होता है और द्रव्यकी सब अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहनेके कारण नित्य तथा व्यापक होता है। किन्तु जो विशेष अंश होता है वह यतः कर्मादिकके साथ सम्पर्क करता है इसलिए विकारी होता है, क्षण क्षणमें अन्य अन्य होनेसे अनेकरूप होता है और एक क्षणस्थायी होनेसे अनित्य तथा व्याप्य होता है। इस प्रकार ये दोनों नय एक द्रव्यके इन दो अंशों-को स्वीकार करते हैं। अब प्रकृतमें विचार यह करना है कि कर्म-संयुक्त यह जीव अपनी कर्मके संयोगसे रहित अवस्थाको कैसे

प्रगट करे। निरन्तर यदि वह कर्मसंयुक्त अवस्थाका ही अनुभव करता रहता है और उसीका आश्रय लिए रहता है तो वह त्रिकालमें कर्मरहित अवस्थाको प्रगट नहीं कर सकता, क्योंकि जो जिसका आश्रय लिए रहता है उससे वही अवस्था प्रगट होती है। यही कारण है कि आचार्योंने कर्मसंयुक्त अवस्थाके मेटनेके लिए निश्चयरूप एक ध्रुवस्वभावी ज्ञायकभावका आश्रय लेनेका उपदेश दिया है। यह जीव इन दोनों नयोंके द्वारा जानता तो है अपने इन दोनों अंशोंको ही। इसलिए जाननेके लिए निश्चयनय के समान व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है पर मोक्षार्थी आश्रय एकमात्र निश्चयनयका लेता है, क्योंकि उसका आश्रय लिए बिना संसारी जीवका बन्धनसे मुक्त होना सम्भव नहीं है। जानने और जानकर आश्रय लेनेमें बड़ा अन्तर है। व्यवहारनय जानने योग्य है और निश्चयनय जानकर आश्रय लेने योग्य है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इसलिए मोक्षमार्गमें व्यवहारनयको प्रतिषिद्ध क्यों कहा और निश्चयनयको प्रतिषेधक क्यों माना इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

यहाँपर कोई प्रश्न करता है कि मोक्षमार्गमें निश्चयनयके द्वारा यदि व्यवहारनय सर्वथा प्रतिषिद्ध है तो साधकके व्यवहारधर्मकी प्रवृत्ति कैसे बन सकेगी और उसके व्यवहारधर्मकी प्रवृत्ति होती ही नहीं यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि गुणस्थानोंकी भूमिकानुसार उसके व्यवहारधर्म पाया ही जाता है। दोनों नयोंकी उपयोगिताको ध्यानमें रखकर एक गाथा उद्धृतकर आचार्य अमृतचन्द्र भी समयसारकी टीकामें कहते हैं:—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एगेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

यदि तुम जैनधर्मका प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोड़ो, क्योंकि एक (व्यवहार-नय) के विना तो तीर्थका नाश हो जायगा और दूसरे (निश्चयनय) के विना तत्त्वका नाश हो जायगा।

समाधान यह है कि साधकके अपने अपने गुणस्थानानुसार व्यवहारधर्म होता है इसमें सन्देह नहीं पर एक तो वह बन्ध पर्यायरूप होनेके कारण साधककी उसमें सदाकाल हेय बुद्धि बनी रहती है। दूसरे वह रागका कर्ता न होनेसे श्रद्धामें उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानता। साधक श्रद्धामें तो निश्चयनयको ही आश्रय करने योग्य मानता है परन्तु वह जिस भूमिकामें स्थित होता है उसके अनुसार वर्तन करता हुआ उस कालमें व्यवहारधर्मका जानना भी व्यवहारनयसे प्रयोजनवान् गिनता है। इसी आशयको ध्यानमें रखकर आचार्य अमृतचन्द्रने यह वचन कहा है:—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तःपश्यतां नैष किंचित् ॥५॥

जिन्होंने साधक दशाकी इस पहली पदवीमें (शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होनेकी पूर्वकी अवस्थामें) अपना पैर रखा है उन्हें यद्यपि व्यवहारनय भले ही हस्तावलम्व होवे तथापि जो पुरुष परद्रव्य भावोंसे रहित चैतन्य चमत्कारमात्र परम अर्थको अन्तरंगमें अवलोकन करते हैं (उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभावको प्राप्त होते हैं) उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजवान् नहीं है ॥५॥

इसपर पुनः प्रश्न होता है कि यदि मोक्षमार्गमें निश्चयनयकी ही मुख्यता है तो आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारको दोनों

नयोंके पक्षसे रहित क्यों कहा ? अपने इस भावको व्यक्त करते हुए वे समयप्राभृतमें कहते हैं:—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

जीवमें कर्म बद्ध है अथवा अबद्ध है इस प्रकार तो नयपक्ष जानो । किन्तु जो पक्षातिक्रान्त कहलाता है वह समयसार (निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व) है ॥१४२॥

इसी बातको स्पष्ट करते हुए वे दूसरे शब्दोंमें पुनः कहते हैं:—

दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

नयपक्षसे रहित जीव समयसे प्रतिबद्ध होता हुआ (चित्स्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ) दोनों ही नयोंके कथनको मात्र जानता ही है, परन्तु नयपक्षको किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता ॥१४३॥

आचार्य अमृतचन्द्र भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६९॥

जो नयोंके पक्षपातको छोड़कर सदा अपने स्वरूपमें गुप्त होकर निवास करते हैं वे विकल्पजालसे रहित शान्तचित्त होते हुए साक्षात् अमृतपान करते हैं ॥६९॥

इसी प्रकार इस कथनके बाद फिर भी बहुत प्रकारसे आचार्य अमृतचन्द्रने दोनों नयोंके विषयोंको उपस्थितकर उनके दो पक्षपात बतलाये हैं और अन्तमें कहा है कि जो तत्त्ववेदी पक्षपातसे रहित होता है उसे चित्स्वरूप यह जीव निरन्तर चित्स्वरूप

ही है । अतएव जो यह कहा जाता है कि मोक्षमार्गमें साधकके लिए एकमात्र निश्चयनय आश्रय करने योग्य होनेसे उसीका पक्ष ग्रहण करना चाहिए यह कहना कहाँ तक उचित है यह विचारणीय हो जाता है। इस स्थिति पर पूरी तरहसे विचार करने पर शङ्काकार कहता है कि हमें तो आचार्य अमृतचन्द्रका यह वचन ही उपयोगी जान पड़ता है। वह वचन इस प्रकार है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

निश्चय और व्यवहार इन दो नयोंके विरोधका ध्वंस करनेवाले स्यात्पदसे लांछित जिनवचनमें मोहका स्वयं वमनकर जो रममाण होते हैं वे नयपक्षसे रहित, सनातन और अति उत्कृष्ट परम ज्योतिस्वरूप समयसारको शीघ्र देखते ही हैं ॥४॥

यह एक प्रश्न है जो प्रत्येक विचारकके चित्तमें घर किये हुए है और इस कारण वह यह मानने लगता है कि मोक्षमार्गमें जितना निश्चयनयको महत्त्व दिया जाता है उतना ही व्यवहारनयको भी महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि ऐसा किये बिना एकान्तका आग्रह हो जानेसे वह मोक्षमार्गी नहीं हो सकता ?

समाधान यह है कि जहाँ तक जीवका स्वरूप और उसकी बन्धयुक्त अवस्थाके साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव आदिको जाननेका प्रश्न है वहाँ तक तो इन दोनों नयोंके विषयको हृदयंगम कर लेना आवश्यक माना गया है इसमें सन्देह नहीं। जहाँ वह यह जानता है कि द्रव्यार्थिक दृष्टि (परमभावग्राही निश्चयनय) से ज्ञायकस्वभाव मैं एक हूँ, नित्य हूँ और ध्रुवभावरूप हूँ। ये जो नर-नारकादिरूप विविध पर्यायें और मतिज्ञानादिरूप विविध भाव दृष्टिगोचर हो

रहे हैं वे मेरे त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें नहीं हैं वहाँ वह यह भी जानता है कि व्यवहारदृष्टि (पर्यायार्थिकनय) से वर्तमानमें जो नर-नारकादि अवस्थाऐं और मतिज्ञानादि भाव दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब जीवके ही हैं । यह जीव ही अपने अज्ञानके कारण कर्मोंसे संयुक्त होकर इन विविध अवस्थाओंका पात्र हो रहा है और अपने अज्ञानका त्यागकर यह ही मोक्षका पात्र होगा। इस प्रकार यह जीव दोनों नयोंके विषयको जानता है इसमें सन्देह नहीं। यदि वह ऐसी श्रद्धा करे कि मैं सिद्धोंके समान वर्तमान पर्यायमें भी शुद्ध हूँ या वह ऐसी श्रद्धा करे कि वर्तमान पर्यायके समान मैं अपने त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें भी अशुद्ध हूँ तो वह सर्वथा एकान्त पक्षका आग्रही होनेसे जिन वचनके बाह्य श्रद्धा करनेवाला माना जावे। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जहाँ तक जाननेका सवाल है वहाँ तक वह इन दोनों नयोंके विषयको ठीक तरहसे समानरूपसे जानता है। इनमें किसी एकके पक्षको ग्रहण नहीं करता। किन्तु प्रकृतमें मात्र जानना ही तो प्रयोजनीय है नहीं। यहाँ तो उसे वर्तमानमें जो अशुद्ध अवस्था है उसमें हेय बुद्धि करके पर्यायरूपमें अपने सहजस्वरूप निज तत्त्वको प्रगट करना है। यदि उसकी यह दृष्टि न हो तो न तो वह मोक्षमार्गी ही हो सकता है और न वह साधक कहलानेका ही पात्र माना जा सकता है। इसलिए वह इन दोनों नयोंके विषयको समानरूपसे जानकर भी उपादेय मात्र निश्चयनयके विषयको ही मानता है, क्योंकि उसका आश्रय लेनेसे ही उसके धीरे धीरे तद्रूप अवस्था प्रगट होती है।

इसी भावको ध्यानमें रखकर आचार्य कुन्दकुन्द समयप्राभृतमें भी कहते हैं :—

> सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो ।
> जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

जो आत्माको शुद्ध जानता है वह शुद्ध ही आत्माको प्राप्त करता है और जो उसे अशुद्ध जानता है वह अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त करता है ॥१८६॥

इसकी पुष्टि करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र भी कहते हैं :—

> इदमेवात्र तात्पर्यं हेयो शुद्धनयो न हि ।
> नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद् बन्ध एव हि ॥१२२॥

प्रकृतमें यही तात्पर्य है कि शुद्धनय हेय नहीं है, क्योंकि उसके अत्यागसे बन्ध नहीं होता और उसके त्यागसे बन्ध होता ही है ॥१२२॥

इसलिए आचार्य कुन्दकुन्दने जहाँ यह कहा है कि कर्म जीवमें बद्ध है अथवा अबद्ध है इसे एक एक नयका पक्ष जानो वहाँ उनका वैसा कथन करनेका अभिप्राय दोनों नयोंके विषयका ज्ञान कराकर और उस सम्बन्धी उत्पन्न विकल्प (राग) को छुड़ाकर अपने ध्रुवस्वभावकी ओर झुकानेका रहा है, क्योंकि वे यह अच्छी तरहसे जानते रहे हैं कि जो यह मानता है कि मैं कर्मसे सर्वथा अबद्ध हूँ उसे कुछ करनेके लिए नहीं रह जाता है। साथ ही वे यह भी अच्छी तरहसे जानते रहे हैं कि जो यह मानता है कि मैं कर्मसे सर्वथा बद्ध हूं वह प्रयत्न करके भी कर्मसे त्रिकालमें मुक्त नहीं हो सकता, इसलिए उन्होंने एकान्तके आग्रहके साथ दोनों नयोंके विकल्पको छुड़ाकर निर्विकल्प होनेके लिए उक्त वचन कहा है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि वैसा हुए विना अनादिकालसे चली आ रही रागकी कर्तृत्वबुद्धि नहीं छूट सकती। परन्तु इसप्रकार अनेकान्तमार्गका अनुसर्ता होकर भी साधक हेयरूप व्यवहारनयका आश्रय न लेकर उपादेयरूप निश्चयनयका ही आश्रय लेता है, क्योंकि मोक्षरूप प्रयोजनकी सिद्धिके लिए

जो सर्वथा हेय है वह आश्रय करने योग्य नहीं हो सकता और जो सर्वथा उपादेय है उसका आश्रय लिए बिना इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती। अध्यात्मशास्त्रोंमें 'मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ' इत्यादि रूप प्रतीतिसे मुक्त कराकर 'मैं एक हूँ, नित्य हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञायकभाव हूँ' इत्यादिरूपसे प्रतीति सर्वत्र इसी अभिप्राय-से कराई गई है। दोनों नयोंके विषयको जानना अन्य बात है और जान कर व्यवहारनयके विषयमें हेयबुद्धि करना और निश्चयनयके विषयमें उपादेय बुद्धि कर तथा उसका आश्रय लेकर तन्मय होना अन्य बात है। पक्षातिक्रान्त होनेका भी यही तात्पर्य है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने एक ओर तो साधक जीवको नयपक्षके रागको त्याग देनेका उपदेश दिया है और दूसरी ओर निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए निश्चयनयके विषयके आश्रय लेनेका उपदेश दिया है। इस प्रकार पक्षातिक्रान्त होनेके लिए व्यवहारनय तो क्यों हेय है और निश्चयनय क्यों उपादेय है यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे नय दो प्रकारके हैं। समयसार गाथा १४२ और १४३ में सविकल्पनयके छोड़नेका उपदेश देकर निर्विकल्पनयके आश्रय लेनेकी बात कही गई है और उसी समयसारकी गाथा ११, १२ तथा १४ में आत्माकी कैसी अनु-भूतिके होने पर निर्विकल्पनयका आश्रय होता है इसका निर्देश किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब तक यह आत्मा व्यवहार-नयसे आत्मा इस प्रकारका है और निश्चयनयसे इस प्रकारका है ऐसे विकल्पोंमें उलझा रहता है तब तक शुद्ध आत्माकी अनुभूति नहीं होती। किन्तु दोनों नयोंके विषयको जान कर जब यह आत्मा शुद्धनयके विषयका आश्रय कर निर्विकल्प नयरूप परिणत होता है तब एकमात्र शुद्धानुभूति ही शेष रहती है, अन्य

सब विकल्प सुतरां पलायमान हो जाते हैं। प्रमाणके समान नय भी दो प्रकारके हैं इसका निर्देश नयचक्र पृष्ठ ६६ में एक गाथा उद्धृत कर किया गया है। गाथा इस प्रकार है—

> सवियप्प णिव्वियप्पं पमाणरूवं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
> तहविह णया वि भणिया सवियप्पा णिव्वियप्पा वि॥

जिनदेवने सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका कहा है। तथा उसी प्रकार सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे नय भी दो प्रकारके कहे हैं।

इसप्रकार शुद्धनुभूतिके कालमें आत्माके सविकल्प नयोंसे अतिक्रान्त हो जाने पर भी निश्चयनयके विषयका किस प्रकार आश्रय बना रहता है यह स्पष्ट हो जाता है।

यह परम भावग्राही निश्चयनय है। इसके सिवा निश्चयनयके जितने भी भेद शास्त्रोंमें बतलाये हैं वे सब व्यवहारनयमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। उदाहरणार्थ समयप्राभृत गाथा ८३ में कहा है कि आत्मा आत्माको ही करता है और आत्मा आत्माको ही भोगता है सो यह कथन परसे भेदज्ञान करानेके लिए किया गया है, इसलिए वह पर्यायार्थिकरूप निश्चयनय है। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर पर्याय कथनकी मुख्यता होनेसे द्रव्यमें भेद-व्यवहारकी प्रसिद्धि हुई है, इसलिए इसे व्यवहारनयका विषय ही जानना चाहिए। समयप्राभृत कलश ६२ में जो यह कहा गया है कि आत्मा ज्ञान है, वह स्वयं ज्ञान है, वह ज्ञानसे अन्य किसे करता है सो इसमें भी पर्याय कथनकी मुख्यता होनेसे इसे भी व्यवहारनयका विषय जानना चाहिए। इसी प्रकार अन्यत्र जहां कहीं एक द्रव्यके आश्रयसे पर्यायका कथन करके उसे निश्चयनयका विषय कहा भी है सो निश्चयनय भूतार्थको स्वीकार

करता है इस अभिप्रायको ध्यानमें रख कर ही कहा है। परन्तु परम भावग्राही निश्चयनयके विषयभूत भूतार्थमें और इस भूतार्थ-में मौलिक भेद है जिसका स्पष्टीकरण हम पहले कर ही आये हैं। तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चयनयके सिवा निश्चयनयके अन्य जितने भेद-प्रभेद शास्त्रोंमें दृष्टिगोचर होते हैं वे सब विशेषण युक्त वस्तुका विवेचन करनेवाले होनेसे व्यवहारनय ही जानने चाहिए। इसी बातको ध्यानमें रखकर आचार्य जयसेनने समय-प्राभृत गाथा १०२ की टीकामें यह वचन कहा है :—

अज्ञानी जीवो शुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादि-भावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणः। स चाशुद्धनिश्चयनयो यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।

अज्ञानी जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनयसे मिथ्यात्व और रागादि भावोंका ही कर्ता है, द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है। वह अशुद्ध निश्चयनय यद्यपि 'द्रव्यकर्मका कर्ता जीव है' इसे स्वीकार करनेवाले असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा निश्चय संज्ञाको प्राप्त करता है तथापि शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा वह व्यवहार ही है।

निश्चयनयके कथनमें तीन विशेषताएँ होती हैं। एक तो वह अभेदग्राही होता है, दूसरे वह एक द्रव्यके आश्रयसे प्रवृत्त होता है और तीसरे वह विशेषण रहित होता है। किन्तु व्यवहार-नयका कथन इससे उलटा होता है। अब यदि इस दृष्टिको ध्यानमें रखकर विचार करते हैं तो शुद्ध निश्चयनय ही एकमात्र निश्चयनय ठहरता है, क्योंकि उसके विषयमें गुण-पर्यायरूपसे किसी प्रकारका भेद परिलक्षित न होकर वह मात्र द्रव्यके आश्रयसे

प्रवृत्त होता है। किन्तु इसके सिवा निश्चयनयके अशुद्ध निश्चयनय आदि जितने भी प्रकार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं वे सब इन विशेषताओंको एक साथ लिए हुए दृष्टिगोचर नहीं होते, क्योंकि वे एक द्रव्यके आश्रयसे प्रवृत्त होकर भी किसी न किसी प्रकारके भेदका या उपाधि सहित वस्तुका ही कथन करते हैं, इसलिए वे भेद कथन या उपाधि सहित द्रव्य कथनकी मुख्यतासे व्यवहारनयकी परिधिमें आ जाते हैं। आचार्य जयसेनने अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा व्यवहार ही है ऐसा जो कहा है सो वह इसी अभिप्रायसे कहा है। जैसे परसंग्रहनयके सिवा अपर संग्रहनयके जितने भी अवान्तर भेद सम्भव है वे स्वयं एक अपेक्षासे अभेदका कथन करनेवाले होकर भी दूसरी अपेक्षासे भेदका ही कथन करते हैं, इसलिए वे व्यवहारनयके भेदोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं उसी प्रकार शुद्धनिश्चयनयके सिवा निश्चयनयके अन्य जितने प्रकार वतलाये गये हैं उन सबका व्यवहारनयके अवान्तर भेदोंमें अन्तर्भाव हो जाता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। पञ्चाध्यायीमें निश्चयनय एक ही प्रकारका है यह सिद्ध करनेके लिए जो निश्चयनयके दो भेद माननेवालेको मिथ्यादृष्टि कहा है सो वह इसी अभिप्रायसे कहा है कि द्रव्यके त्रिकाली ध्रुवभावमें वस्तुतः किसी प्रकारका भेद करना सम्भव नहीं है और जो गुणभेद या पर्यायभेदसे वस्तुको ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिकनय नहीं माना जा सकता है। पंचाध्यायीका वह वचन इस प्रकार है:—

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥१६-६०॥
इत्यादिकाश्च वहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते।
स हि मिथ्यादृष्टिः स्यात् सर्वज्ञावमानितो नियमात् ॥१-६६१

शुद्धनिश्चय नामवाला एक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है और अशुद्ध निश्चय नामवाला एक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है ॥१–६६०॥ इत्यादि रूपसे जिसके मतमें निश्चयनयके बहुतसे भेद कल्पित किये गये हैं वह नियमसे सर्वज्ञकी आज्ञाका अपमान करनेवाला है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही है ॥१–६६१॥

उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि समयप्राभृत आदि शास्त्रोंमें परमभावग्राही निश्चयनयके सिवा अन्य अर्थोंमें भी निश्चयनय शब्दका प्रयोग हुआ है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु वैसा कथन वहाँपर विवक्षाविशेषसे ही किया गया है, इसलिए यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो निश्चयनय एक ही है और वही मोक्षमार्गमें आश्रय करने योग्य है, क्योंकि उसका आश्रय लेकर स्वभाव सन्मुख होनेपर ही निर्विकल्प शुद्धानुभूतिका उदय होता है। इस प्रकार निश्चयनय क्या है और उसका जीवनमें साधकके लिए क्या उपयोग है इसका विचार किया।

अब प्रकृतमें व्यवहारनयकी मीमांसा करनी है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि समयप्राभृतमें व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है। वहाँ अभूतार्थका क्या अर्थ इष्ट है यह भी हम बतला आये हैं। अब उसीके आलम्बनसे यहाँ पर इस नयका और उसके भेदोंका सांगोपांग विचार करते हैं। प्रकृतमें 'व्यवहार' यह यौगिक शब्द है। यह 'वि' और 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'हृ' धातुसे बना है। इसका अर्थ है गुण और पर्याय आदिका आलम्बन लेकर अखंड वस्तुमें किसी प्रकारका भेद करना। एक तो यह विकल्पात्मक श्रुतज्ञानका एक भेद है। दूसरे यह भेदकी मुख्यतासे ही वस्तुको स्वीकार करता है, इसलिए जितना भी व्यवहारनय है वह उदाहरण सहित विशेषण-विशेष्य-

रूप ही होता है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर पंचाध्यायीमें इसका लक्षण करते हुए कहा भी है :—

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात् ।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥१-५६६॥

जितना भी उदाहरण सहित विशेषण-विशेष्यरूप नय है वह सब पर्यायार्थिकनय है। उसीका दूसरा नाम व्यवहारनय है। किन्तु द्रव्यार्थिकनय ऐसा नहीं है ॥१-५९६॥

पंचाध्यायीमें इसी विषयको अन्यरूपसे इन शब्दोंमें व्यक्त किया है :—

पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति ।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ॥१-५२१॥

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः ।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥१-५२२॥

साधारण गुण इति यदि वाऽसाधारणः सतस्तस्य ।
भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥१-५२३॥

पर्यायार्थिक यह संज्ञा अथवा व्यवहारनय यह संज्ञा एक ही अर्थकी वाचक है, क्योंकि इसमें समस्त व्यवहार उपचारमात्र है ॥ १-५२१ ॥ विधिपूर्वक भेद करनेको व्यवहार कहते हैं यह उसका निरुक्त्यर्थ है। यह परमार्थरूप नहीं है। जैसे कि गुण और गुणीमें सत्तारूपसे भेद न होने पर भेद करना व्यवहारनय है ॥ १-५२२ ॥ जिस समय सत्के साथ साधारण अथवा असाधारण गुणोंमेंसे कोई एक गुण विवक्षित होता है उस समय व्यवहारनय ठीक माना गया है ॥१-५२३॥

नयचक्रमें इसका लक्षण इन शब्दोंमें दृष्टिगोचर होता है :—

जो चिय जीवसहावो णिच्छयदो होइ सव्वजीवाणं ।
सो चिय भेदुवयारा जाण फुडं होइ ववहारो ॥२३६॥

निश्चयनयसे सब जीवोंका जो स्वभाव है वह जब भेदके द्वारा उपचरित किया जाता है तब उसे विषय करनेवाला व्यवहार नय जानो ॥२३६॥

इसी तथ्यको नयचक्रमें दूसरे शब्दोंमें यों व्यक्त किया है :—

जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स ।
सो ववहारो भणियो विवरीयो णिच्छयो होदि ॥२६२॥

जो एक वस्तुमें धर्मोंके कथंचित् भेदका उपचार करता है उसे व्यवहारनय कहा है और निश्चयनय इससे उल्टा होता है ॥२६२॥

जिसे समयप्राभृतमें अखंड वस्तु स्वभावमें न होनेसे अभूतार्थ कहा गया है उसे ही नयचक्रमें भेदोपचार शब्द द्वारा व्यवहृत किया गया है। व्यवहारनयका विषय अभूतार्थ क्यों है इसका निर्देश करते हुए पंचाध्यायीमें कहा है :—

इदमत्र निदानं किल गुणवद् द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे ।
अस्ति गुणोऽस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात् ॥१-६३४॥

तदसन्न गुणोऽस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः ।
केवलमद्वैतं सद् भवतु गुणो वा तदेव सद् द्रव्यम् ॥१-६३५॥

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः ।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ॥१-६३६॥

व्यवहारनयको अभूतार्थ कहनेका कारण यह है कि सूत्रमें द्रव्यको जो गुणवाला कहा है सो इसका तात्पर्य यह है कि गुण पृथक् हैं, द्रव्य पृथक् है और इनके संयोगसे द्रव्य प्राप्त होता

है ॥१-६३४॥ परन्तु यह असत् है, क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं और न उनका संयोग ही है। किन्तु सत् केवल अद्वैत रहा आवे जिसे चाहे गुण मान लो, चाहे द्रव्य मान लो, है वह अद्वैतरूप ही ॥१-६३५॥ इसलिए न्यायबलसे यह सिद्ध हुआ कि व्यवहार नय होकर भी अभूतार्थ है। जो केवल उसका अनुभव करनेवाले हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और पथभ्रष्ट हैं ॥१-६३६॥

इस प्रकार जहाँ पर गुणों और पर्यायोंके आश्रयसे या स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावके आश्रयसे भेदका उपचार कर जो वस्तुको विषय करता है वह व्यवहारनय है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सद्भूतव्यवहारनय यह इसीकी संज्ञा है। इसके मुख्य भेद दो हैं :—अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय। जिस पदार्थका जो गुण या शुद्ध पर्याय है उस गुण या पर्याय द्वारा ही यह नय उस पदार्थको विषय करता है, इसलिए तो इसे सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। जैसे यह कहना कि ज्ञान जीव है यह सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण है। इसमें इतनी विशेषता और है कि यदि इसमें अन्यके सम्बन्धसे दूसरा विशेषण नहीं लगाया जाता है तो यही उदाहरण अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका हो जाता है। और यदि इसे पर योगसे विशेषण सहित कर दिया जाता है तो वह उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण हो जाता है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर पञ्चाध्यायीमें अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनयका विचार करते हुए बतलाया है :—

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद् विशेषनिरपेक्षम् ॥१-५३५॥

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ॥१-५३६॥

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।
अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥१-५३७॥

जिस पदार्थकी जो आत्मभूत शक्ति है उसे जो नय अवान्तर भेद किये बिना सामान्यरूपसे उसी पदार्थकी बतलाता है वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है ॥१-५३५॥ इस विषयमें यह उदाहरण है कि जिस प्रकार जीवका ज्ञान गुण जीवोपजीवी होता है उस प्रकार वह ज्ञेयको विषय करते समय ज्ञेयोपजीवी नहीं होता ॥१-५३६॥ जैसे घटके सद्भावमें जीवका ज्ञान गुण घटकी अपेक्षा किये बिना चैतन्यमात्र ही है वैसे घटके अभावमें भी जीवका ज्ञान गुण घटकी अपेक्षा किये बिना चैतन्यमात्र ही है ॥१-५३७॥

तात्पर्य यह है कि जीवद्रव्य एक अखंड पदार्थ है। उसमें किसी एक स्वभावभूत गुणके द्वारा भेदकर विषय करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है:—

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम ।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यतः स्वगुणः ॥१-५४०॥
अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा ।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ॥१-५४१॥
असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात् ।
तदपि न विनालम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ॥१-५४२॥
तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥१-५४३॥

यतः हेतुवश स्वगुणका पररूपसे अविरोधपूर्वक उपचार करना उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है ॥१–५४०॥ जैसे अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है यह प्रमाणका लक्षण है सो यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण है। यहाँपर स्व-पर समुदायका नाम अर्थ है और ज्ञानका तदाकार होना इसका नाम विकल्प है ॥१–५४१॥ सत्सामान्य निर्विकल्प होनेके कारण उसकी अपेक्षा यद्यपि यह लक्षण असत् है तथापि आलम्बनके विना विषय रहित ज्ञानका कथन करना शक्य नहीं है ॥१–५४२॥ इसलिए ज्ञान स्वरूपसिद्ध होनेसे अन्यकी अपेक्षाके विना ही सद्रूप है तथापि हेतुके वशसे वह ज्ञान अन्य शरणकी तरह उपचरित किया जाता है ॥१–५४३॥

तात्पर्य यह है कि एक अखंड पदार्थमें असाधारण गुण द्वारा भेद करके उसे परके आलम्बनसे विशेषण सहित करना यह उपचरित सभूतव्यवहारनयका उदाहरण है। यहाँपर पञ्चाध्यायीमें मतिज्ञान आदि जीव हैं इसे उपचरित सद्भूतव्यवहार नयका उदाहरण नहीं बतलाया है सो इसका कारण है। बात यह है कि जितने भी विभावभाव हैं उन सबको अध्यात्मशास्त्रमें परभाव बतलाया गया है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे ही त्रिकाली ज्ञायकभावका आश्रय करता है जिसमें इनका लेशमात्र भी स्पर्श (सद्भाव) सम्भव नहीं है। अब यदि इस दृष्टिसे जो स्वात्मा (स्वसमय) है उसमें व्यवहारनयका आश्रय कर असाधारण गुणका आरोप किया जाता है अर्थात् भेद विवक्षित किया जाता है तो वह स्वभावभूत असाधारण सामान्य गुणके रूपमें ही हो सकता है, अन्य रूपमें नहीं। इसलिए तो पंचाध्यायीमें अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनयका

लक्षण करते हुए यह बतलाया है कि जो नय जिस पदार्थकी जो आत्मभूत शक्ति है उसे अवान्तर भेद किये विना सामान्य-रूपसे उसी पदार्थकी बतलाता है वह अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है। तथा व्यवहारनयसे एक बार स्वात्मामें ज्ञानसामान्य को अपेक्षा भेद विवक्षित कर लेने पर उसे जाननेरूप धर्मकी अपेक्षा स्व-परविकल्परूप स्वीकार करना पड़ता है। चूंकि ज्ञानमें इस धर्मका स्वके समान परयोगसे आरोप किया जाता है अतः इसे स्वीकार करनेवाले नयको उपचरित सद्भूत व्यवहार-नय कहा है। इस प्रकार पंचाध्यायीमें इन दोनों नयों के ये लक्षण किस दृष्टिसे किये गये हैं यह स्पष्ट हो जाता है। किन्तु अन्यत्र (अनगारधर्मामृत और आलापपद्धति आदि में) साधक आत्माके स्वात्मा और परात्मा ऐसे भेद विवक्षित न करके इन नयोंके लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं इसलिए वहाँ इनके लक्षण आदिका विचार दूसरे प्रकारसे किया गया है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धाके विषयकी विवक्षा हो वहाँ पर पञ्चाध्यायीके कथनानुसार व्यवहारके भेद किये जाते हैं और जहाँ लोकव्यवहारमूलक ज्ञानके विषयकी विवक्षा हो वहाँ दूसरे (आलापपद्धति और अनगारधर्मामृत आदि) शास्त्रोंके कथनानुसार व्यवहारनयके भेद किये जाते हैं। यहाँ इतना और विशेष समझना चाहिए कि पंचाध्यायीकारने यह मीमांसा स्वमतिसे ही की हो ऐसा नहीं है। किन्तु उन्होंने यह सब समयप्राभृतमें बतलाये गये स्वसमय और परसमयके स्वरूपको ध्यानमें रखकर ही लिखा है। उनके ऐसा कहनेके पीछे जो हेतु और प्रयोजन है उसका निर्देश उन्होंने स्वयं किया ही है।

यह व्यवहारनयका एक विचार है। इसके सिवा उसकी मीमांसा एक भिन्न प्रकारसे की गई है। आगे उसीका स्पष्टीकरण

करते हैं—बात यह है कि संसार अवस्थामें जीवके जो रागादि विभाव भाव होते हैं वे केवल जीवमें नहीं पाये जाते। किन्तु जब यह जीव कर्मोंसे आविष्ट रहता है तभी उनकी उपलब्धि होती है। ये भाव जीवमें ही होते हैं और जीव ही इनका उपादान है इसमें संदेह नहीं। पर होते हैं ये पुद्गल कर्मरूप निमित्तोंके सद्भावमें ही, इसलिये इनके नैमित्तिक होनेसे मूर्त होने पर भी इन्हें जीवका कहना यह भी एक व्यवहार है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य अमृतचन्द्रने समयप्राभृत गाथा २७२ की टीकामें व्यवहारनयका यह लक्षण किया है :—

पराश्रितो व्यवहारनयः।

जो परके आश्रयसे होता है अर्थात् अन्य वस्तुके गुण धर्मको अन्यके स्वीकार करता है वह व्यवहारनय है।

यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्दका परके आश्रयसे इस जीवके जो अध्यवसान भाव होता है उसे छुड़ानेका अभिप्राय है। उसी प्रसंगनें आचार्य अमृतचन्द्रने व्यवहारनयका यह लक्षण किया है।

यह व्यवहार असद्भूत है, क्योंकि जितने भी नैमित्तिक भाव होते हैं वे मूर्त होनेसे जीवके स्वभावमें उपलब्ध नहीं होते। फिर भी वे इस नय द्वारा जीवके स्वीकार किये जाते हैं, इसलिए इस दृष्टिको स्वीकार करनेवाला नय असद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर पंचाध्यायीमें इस नयका यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है—

अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः संजायन्ते बलादन्यत्र ॥१-५२६॥

अन्य द्रव्यके गुणोंकी बलपूर्वक (उपचार सामर्थ्यसे) अन्य द्रव्यमें संयोजना करना यह असद्भूतव्यवहारनय है।

इस नयका उदाहरण देते हुए पंचाध्यायीमें कहा है—

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम्।
तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ॥१-५३०॥

उदाहरणार्थ वर्ण आदिवाले मूर्तद्रव्यका कर्म एक भेद है, अतः वह नियमसे मूर्त है। उसके संयोगसे क्रोधादिक भी मूर्त हैं। फिर भी उन्हें जीवमें हुए कहना असद्भूत व्यवहार नय है ॥१-५३०॥

यहां पर यह प्रश्न होता है कि ऐसा नियम है कि एक द्रव्यके गुणधर्म अन्य द्रव्यमें संक्रमित नहीं होते। ऐसी अवस्थामें प्रकृतमें जीवके रागादि भावोंको मूर्त क्यों कहा गया है, क्योंकि मूर्त यह धर्म पुद्गलोंका है। वह पुद्गलोंको छोड़कर जीवमें त्रिकालमें संक्रमित नहीं हो सकता और जब वह जीवमें संक्रमित नहीं हो सकता तब जिन क्रोधादिभावोंका उपादान कारण जीव है उनमें वह त्रिकालमें नहीं पाया जा सकता। यदि उन भावोंके नैमित्तिक होने मात्रसे उनमें मूर्तधर्मकी उपलब्धि होती है तो अज्ञान दशामें भी क्रोधादिभावोंका कर्ता जीव न होकर पुद्गल हो जायगा और इस प्रकार इन भावोंका कर्तृत्व पुद्गलमें घटित होनेसे पुद्गल ही उन भावोंका उपादान ठहरेगा जो युक्त नहीं है। अतएव रागादि भावोंको मूर्त मानकर असद्भूतव्यवहार नयका जो लक्षण किया जाता है वह नहीं करना चाहिए। यह एक प्रश्न है। सामाधान यह है कि प्रकृतमें जीवकी रागादिरूप अवस्थासे त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव जीवको भिन्न करना है, इस लिए सब वैभाविक भावोंकी व्याप्ति पुद्गल कर्मोंके साथ घटित

हो जानेके कारण उन्हें आध्यात्मशास्त्रमें पौद्गलिक कहा गया है। और इस प्रकार वे पौद्गलिक हैं ऐसा निश्चित हो जाने पर उन्हें मूर्त माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं आती, क्यों कि मूर्त कहो या पौद्गलिक एक ही अर्थ है। ये भाव पौद्गलिक हैं इसका निर्देश स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृत गाथा ५० से लेकर ५५ तक किया है। वे गाथा ५५ में उपसंहार करते हुए कहते हैं—

> णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
> जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

जीवके...जीवस्थान नहीं है और न गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं ॥५५॥

इसको टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

...तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ॥५५॥

ये जो जीवस्थान और गुणस्थान आदि भाव हैं वे सब जीवके नहीं हैं, क्योंकि वे सब पुद्गल द्रव्यके परिणमनमय होनेसे आत्मानुभूतिसे भिन्न हैं ॥५५॥

यहां पर परभावोंके समान रागादि विभावरूप भावोंसे त्रिकाली ज्ञायक भावका भेदज्ञान कराना मुख्य प्रयोजन है। किन्तु इस प्रयोजनकी सिद्धि त्रिकाली ध्रुवस्वभावरूप ज्ञायक भावमें उनका तादात्म्य माननेपर नहीं हो सकती, क्योंकि त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें उनका अस्तित्व ही उपलब्ध नहीं होता। यदि त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें भी उनका अस्तित्व माना जाय तो उसमेंसे ज्ञानके समान उनका कभी भी अभाव नहीं हो सकता। अतएव ये जिसके सद्भावमें होते हैं उसीके परिणाम हैं ऐसा यहाँ कहा

गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य समझना चाहिए। इसी भावको पुष्ट करनेके अभिप्रायसे समयप्राभृतमें आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

इन वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावोंके साथ जीवका सम्बन्ध दूध और पानीके संयोगसम्बन्धके समान जानना चाहिए। इसलिये वे भाव जीवके नहीं हैं, क्योंकि वह उपयोग गुणके द्वारा उनसे पृथक् है ॥५७॥

यहाँ पर आचार्य महाराजने परस्पर मिश्रित क्षीर और नीर का दृष्टान्त देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार मिले हुए क्षीर और नीरमें संयोगसम्बन्ध होता है अग्नि और उष्ण गुणके समान तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार वर्णसे लेकर इन गुणस्थान पर्यन्त सब भावोंका जीवके साथ संयोग सम्बन्ध जानना चाहिए, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं।

जिस प्रकार जीवके साथ वर्णादिका संयोगसम्बन्ध है उस प्रकार जीवमें उत्पन्न हुए इन रागादि भावोंका जीवके साथ संयोग सम्बन्ध कैसे हो सकता है इस प्रश्नको उठाकर आचार्य जयसेन ने इसका समाधान किया है। वे कहते हैं—

ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् संश्लेषसम्बन्धो भवतु न चाभ्यन्तराणां रागादीनां। तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यम्? नैवम्, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया। तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः।

शंका—वर्णादिक जीवसे अलग हैं, इसलिए उनके साथ जीवका व्यवहारनयसे क्षीर और पानीके समान संश्लेष सम्बन्ध रहा आओ, आभ्यन्तर रागादिकका जीवके साथ संयोगसम्बन्ध नहीं बन सकता। इन दोनोंमें तो अशुद्ध निश्चयरूप सम्बन्ध होना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि द्रव्यकर्मबन्धकी अपेक्षा जो यह असद्भूत व्यवहार है उसकी अपेक्षा इनमें संश्लेष सम्बन्ध माना गया है। यद्यपि रागादि भावोंका जीवमें तारतम्य दिखलानेके लिए इन्हें अशुद्ध निश्चयरूप कहा जाता है। परन्तु वास्तवमें शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है यह उक्त कथनका भावार्थ है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १६ की टीकामें भी इस विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा है:—

तथैवाशुद्धनिश्चयनयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चनयेन पुद्गलबन्धः एव।

उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनयसे जो यह रागादिरूप भावबन्ध कहा जाता है वह भी शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा पुद्गलबन्ध ही है।

इनका जीवके साथ संयोगसम्बन्ध क्यों कहा गया है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए मूलाचार गाथा ४८ की टीकामें आचार्य वसुनन्दि संयोगसम्बन्धका लक्षण करते हुए कहते हैं:—

अनात्मनीनस्यात्मभावः संयोगः। संयोग एव लक्षणं येषां ते संयोगलक्षणा विनश्वरा इत्यर्थः।

अनात्मीय पदार्थमें आत्मभाव होना संयोग है। संयोग ही जिनका लक्षण है वे संयोग लक्षणवाले अर्थात् विनश्वर माने गये हैं।

प्रकृतमें आचार्य कुन्दकुन्दने रागादि भावोंको जो संयोग लक्षणवाला कहा है वह इसी अपेक्षासे कहा है, क्योंकि ये बन्धपर्यायरूप होनेसे अनात्मीय हैं अतएव मूर्त हैं। तात्पर्य यह है कि रागादि भावोंको आत्मासे संयुक्त बतलानेमें उपादानकी मुख्यता न होकर बन्धपर्यायकी मुख्यता है, क्योंकि ये पौद्गलिक कर्मोंके सद्भावमें ही होते हैं अन्यथा नहीं होते और जब कि ये पौद्गलिक कर्मोंके सद्भावमें ही होते हैं तो इन्हें मूर्तरूपसे स्वीकार करना न्यायसंगत ही है। प्रकृतमें दृष्टियाँ दो हैं—एक उपादानदृष्टि और दूसरी संयोगदृष्टि। रागादिकको अनात्मीय कहनेमें संयोगदृष्टिकी ही मुख्यता है, अन्यथा इनका त्याग करना नहीं बन सकता। प्रकृतमें इन्हें मूर्त या पौद्गलिक माननेका यही कारण है।

इस प्रकार जीवमें होकर भी क्रोधादिभाव मूर्त कैसे हैं यह सिद्ध हुआ और यह सिद्ध हो जानेपर मूर्त क्रोधादिकको जीवका कहना असद्भूत व्यवहारनय ही है ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

सद्भूतव्यवहारनयके समान यह असद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकारका है—अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय और उपचरित असद्भूतव्यवहारनय। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण करते हुए पञ्चाध्यायीमें कहा है—

> अपि वासद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा।
> क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ॥१-५४६॥

जो बुद्धिमें न आनेवाले (अव्यक्त) क्रोधादिक भाव होते हैं उन्हें जीवके स्वीकार करनेवाला नय अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है ॥१-५४६॥

मूर्त क्रोधादिकको जीवके कहना यह असद्भूत व्यवहारनय

है यह तो हम पहले ही बतला आये हैं। उसमें भी जो नय अन्य विशेषणसे रहित होकर ही उन्हें जीवका स्वीकार करता है उसमें विशेषण द्वारा अन्य उपचारको स्थान नहीं मिलता है। यतः अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिक सूक्ष्म होनेसे उस समयका ज्ञानोपयोग उन्हें नहीं जान सकता, इसलिए इसे अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय कहा गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

उक्त कथनको ध्यानमें रखकर उपचरित असद्भूतव्यवहार नयका लक्षण पञ्चाध्यायीमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद् बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥१-५४६॥

बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ॥१-५५०॥

जब जीवके क्रोधादिक औदयिकभाव बुद्धिमें आये हुए विवक्षित होते हैं तब उसरूपमें उन्हें स्वीकार करनेवाला उपचरित असद्भूतव्यवहारनय होता है ॥१-५४९॥ इस नयकी प्रवृत्तिमें यह कारण है कि जितने भी विभावभाव होते हैं वे नियमसे स्व और परहेतुक होते हैं, क्योंकि द्रव्यमें विभावरूपसे परिणमन करनेकी शक्तिविशेषके होनेपर भी वे परनिमित्तके विना नहीं होते ॥१-५५०॥

मूलमें बुद्धिजन्य क्रोधादिकको उपचरित असद्भूतव्यवहार-नयका उदाहरण बतलाया है सो यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके उपयोगमें ज्ञान और बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक ये दोनों अलग अलग परिलक्षित होते हैं तो भी उन क्रोधादिकको ज्ञानका कहना यह उपचार है। इसी उपचारको ध्यानमें रखकर

उक्त उदाहरणको उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय माना गया है।

यहां पर अन्य द्रव्यके गुणधर्मकी अन्य द्रव्यमें संयोजना करना इसे असत्भूतव्यवहारनय बतलाया है। इस परसे यह शंका होती है कि इसप्रकार तो 'जीव वर्णादिवाला है' इसे स्वीकार करनेवाली दृष्टिको भी असद्भूत व्यवहारनय मानना पड़ेगा, क्योंकि इस उदाहरणमें भी अन्य द्रव्यके गुणधर्मका अन्य द्रव्यमें आरोप किया गया है। परन्तु विचार कर देखने पर यह शंका ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वास्तवमें नयका लक्षण तो जिस वस्तुके जो गुण-धर्म हैं उन्हें उसीका बतलाना ही हो सकता है। यदि कोई भी नय एक वस्तुके गुणधर्मको अन्य वस्तुका बतलाने लगे तो वह नय ही नहीं होगा। अतः जीव वर्णादिवाला है ऐसे विचारको समीचीन नय नहीं माना जा सकता, क्योंकि वर्णादिवाला तो पुद्गल ही होता है, जीव नहीं। जीवमें तो उनका अत्यन्ताभाव ही है। फिर भी प्रकृतमें अन्य द्रव्यके गुणधर्मको अन्य द्रव्यमें आरोप करनेको जो असद्भूत व्यवहारनय कहा गया है सो इस कथनका अभिप्राय ही दूसरा है। बात यह है कि रागादिभाव जीवमें उत्पन्न होकर भी नैमित्तिक होते हैं, इसलिए बन्धपर्यायकी दृष्टिसे अतद्गुण मानकर जिस प्रकार उनका जीवमें आरोप करना बन जाता है उस प्रकार पुद्गलसे तादात्म्यको प्राप्त हुए वर्णादि गुणोंका जीवमें आरोप करना त्रिकालमें घटित नहीं होता। यदि व्यवहारका आश्रय लेकर जीवको वर्णादिवाला माना भी जाता है तो उसे स्वीकार करनेवाला नय मिथ्या नय ही होगा। उसे सम्यक् नय मानना कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि वह नय जो पृथक् सत्ताक दो द्रव्योंमें एकत्वबुद्धिका जनक हो सम्यक् नय नहीं हो

सकता। जो पदार्थ जिस रूपमें अवस्थित है उसे उसी रूपमें स्वीकार करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण माना गया है और नयज्ञान प्रमाणज्ञानका ही भेद है। यदि इन ज्ञानोंमें कोई अन्तर है तो इतना ही कि प्रमाणज्ञान अंशभेद किये विना पदार्थको समग्रभावसे स्वीकार करता है और नयज्ञान एक एक अंश द्वारा उसे स्वीकार करता है। अतः प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जो नयज्ञान विवक्षित पदार्थके गुणधर्मको उसीके वतलाता है वही नयज्ञान सम्यक् कोटिमें आता है, अन्य नयज्ञान नहीं। पंचाध्यायीमें नयका लक्षण तद्गुणसंविज्ञानरूप करनेका यही कारण है। यदि कहा जाय कि यदि ऐसी वात है तो अन्यत्र (अनगारधर्मामृत और आलापपद्धति आदि ग्रन्थोंमें) अतद्गुण आरोपको असद्भूत व्यवहारनय वतला कर 'शरीर मेरा है' इसे स्वीकार करनेवाले विकल्पज्ञानको अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय और 'धन मेरा है' इसे स्वीकार करनेवाले विकल्पज्ञानको उपचरित असद्भूत व्यवहारनय क्यों माना गया है। समाधान यह है कि मिथ्यादृष्टिके अज्ञानवश और सम्यग्दृष्टिके रागवश शरीर आदि पर द्रव्योंमें ममकाररूप विकल्प होता है इसमें सन्देह नहीं। पर क्या इस विकल्पके होनेमात्रसे वे अनात्मभूत शरीरादि पदार्थ उसके आत्मभूत हो जाते हैं ? यदि कहा जाय कि रहते तो वे हैं अनात्मभूत ही, वे (शरीरादि पदार्थ) आत्मभूत त्रिकालमें नहीं हो सकते। फिर भी मिथ्यादृष्टिकी वात छोड़िए, सम्यग्दृष्टिके भी रागवश 'ये मेरे' इस प्रकारका विकल्प तो होता ही है। इसे मिथ्या कैसे माना जाय ? समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टिके लोकव्यवहारकी दृष्टिसे रागवश 'ये मेरे' इस प्रकारका विकल्प होता है इसमें सन्देह नहीं। यहां सम्यग्दृष्टिके इस प्रकारका विकल्प ही नहीं होता यह वतलानेका प्रयोजन

नहीं है। किन्तु यहां देखना यह है कि जहां सम्यग्दृष्टिके 'ये मेरे' इस विकल्पको ही 'स्व' नहीं वतलाया है वहां शरीरादि पर द्रव्योंको उसका 'स्व' कैसे माना जा सकता है। अर्थात् त्रिकालमें नहीं माना जा सकता। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रख कर समयप्राभृतमें कहा भी है—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो वि मज्झं एयस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥

एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

जो पुरुप सचित्त, अचित्त और मिश्ररूप अन्य पर द्रव्योंके आश्रयसे ऐसा असद्भूत (मिथ्या) आत्मविकल्प करता है कि मैं इन शरीर (धन और मकान आदि) रूप हूँ, ये मुझ स्वरूप हैं, मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं, ये मेरे पहिले थे, मैं इनका पहिले था, ये मेरे भविष्यमें होंगे और मैं भी इनका भविष्यमें होऊंगा वह मूढ़ है किन्तु जो पुरुप भूतार्थको जान कर ऐसा असद्भूत आत्मविकल्प नहीं करता वह ज्ञानी है ॥२०-२२॥

इसलिए जितने भी रागादि वैभाविक भाव आत्मामें उत्पन्न होते हैं उन्हें आत्माका मानना तो श्रद्धामूलक ज्ञाननयकी अपेक्षा असद्भूत व्यवहारनयका विपय हो सकता है। किन्तु इस दृष्टिसे 'शरीर मेरा' और 'धन मेरा' ये उदाहरण असद्भूत व्यवहारनयके विपय नहीं हो सकते। पंचाध्यायीमें इसी तथ्यका विवेक कर रागादिको असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण बतलाया गया

है। शरीरादि और धनादि पर द्रव्य हैं, इसलिये वे तो आत्मामें असद्भूत हैं ही। इनके योगसे 'ये मेरे' इत्याकारक जो आत्म-विकल्प होता है वह भी ज्ञायकस्वभावमें असद्भूत है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य कुन्दकुन्दने ऐसा विकल्प करने-वालेको मूढ़-अज्ञानी कहा है और यह बात ठीक भी है, क्योंकि जो पर द्रव्य हैं उनमें इस जीवकी यदि आत्मबुद्धि बनी रहती है तो वह ज्ञानी कैसे हो सकता है। इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टिके शरीरादि पर द्रव्योंमें आत्मबुद्धि तो नहीं होती पर जहाँ तक प्रमाद दशा है वहाँ तक राग अवश्य होता है। उसका निषेध नहीं। यद्यपि यह राग भी आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिए उसे परभाव बतलाया गया है पर होता वह आत्मामें ही है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि इस तथ्यको जानता है। जानता ही नहीं है, ऐसी उसकी श्रद्धा भी होती है कि यह राग आत्मामें उत्पन्न होकर भी कर्म (और नोकर्म) के सम्पर्कमें ही उत्पन्न होता है, उनके अभावमें उत्पन्न नहीं होता, अतः यह मेरा स्वभाव न होनेसे पर है अतएव हेय है और ये जो सम्यक्त्वादि स्वभावभूत आत्माके गुण हैं वे आत्माके स्वभाव सन्मुख होनेपर ही उत्पन्न होते हैं, परनिमित्तोंका आश्रय लेनेसे त्रिकालमें उत्पन्न नहीं होते, अतः मुझे परनिमित्तोंका आलम्बन छोड़कर मात्र अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभावका ही आलम्बन लेना श्रेयस्कर है। सम्यग्दृष्टिकी ऐसी श्रद्धा होनेके कारण वह आत्मामें रागादि वैभाविक भावोंको स्वीकार तो करता है किन्तु परभावरूपसे ही स्वीकार करता है। इस प्रकार रागादि परभाव हैं फिर भी वे आत्मामें स्वीकार किये गये, इसलिए जो अन्य वस्तुके गुणधर्मको अन्यमें आरोपित करता है वह असद्भूत व्यवहारनय है इस लक्षणके अनुसार तो 'रागादि जीवके' इसे असद्भूत व्यवहार-

नयका उदाहरण मानना ठीक है पर 'शरीरादि मेरे' और 'धनादि मेरे' ऐसे विशेषण युक्त विकल्पको असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण मानना ठीक नहीं है। फिर भी अन्यत्र (अनगारधर्मामृत और आलापपद्धति आदिमें) 'शरीर मेरा, धन मेरा' इसे स्वीकार करनेवाला जो असद्भूत व्यवहारनय वतलाया गया है सो सम्यग्दृष्टिके वह लौकिक व्यवहारको स्वीकार करनेवाले ज्ञानकी मुख्यतासे वतलाया गया है, श्रद्धागुणकी मुख्यतासे नहीं। वात यह है कि लोकमें 'यह शरीर मेरा, यह धन या अन्य पदार्थ मेरा' ऐसा अज्ञानमूलक वहुजनसम्मत व्यवहार होता है और सम्यग्दृष्टि भी इसे जानता है। यद्यपि यह व्यवहार मिथ्या है, क्योंकि जिन शरीरादिके आश्रयसे लोकमें यह व्यवहार प्रवृत्त होता है उनका आत्मामें अत्यन्ताभाव है। फिर भी सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें लोकमें ऐसा व्यवहार होता है इसकी स्वीकृति है। वस इसी वातको ध्यानमें रखकर अन्यत्र 'शरीर मेरा, धन मेरा' इस व्यवहारको स्वीकार करनेवाले नयको असद्भूत व्यवहारनय कहा गया है। लोकमें इसी प्रकारके और भी वहुतसे व्यवहार प्रचलित हैं। जैसे पर द्रव्यके आश्रयसे कर्ता-कर्मव्यवहार, भोक्ताभोग्यव्यवहार, और आधार-आधेयव्यवहार आदि सो इन सव व्यवहारोंके विपयमें भी इसी दृष्टिकोणसे विचार कर लेना चाहिए। श्रद्धागुणकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाता है तो न तो 'आत्मा कर्ता है और अन्य पदार्थ इसका कर्म है' यह व्यवहार वनता है, न 'आत्मा भोक्ता है और अन्य पदार्थ भोग्य है' यह व्यवहार वनता है, तथा न 'घटादि पदार्थ आधार हैं और जलादि पदार्थ आधेय हैं' यह व्यवहार वनता है, क्योंकि एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अत्यन्ताभाव होनेसे निश्चयसे सव पदार्थ स्वतंत्र हैं, कर्ता-कर्म आदि रूप जो भी व्यवहार होता है

वह अपनेमें ही होता है। दो द्रव्योंके आश्रयसे इस प्रकारका व्यवहार त्रिकालमें नहीं हो सकता, इसलिये वह अपनी श्रद्धामें इन सब व्यवहारोंको परमार्थरूपसे स्वीकार नहीं करता। परन्तु निमित्तादिकी दृष्टिसे ये व्यवहार होते हैं ऐसा वह जानता है इतना अवश्य है, अतः श्रद्धाकी अपेक्षा इन सब व्यवहारोंका किसी नयमें अन्तर्भाव न होकर भी ज्ञानकी अपेक्षा इनका असद्भूत व्यवहारनयमें अन्तर्भाव हो जाता है। पंचाध्यायीमें इन व्यवहारोंको स्वीकार करनेवाले नयको नयाभास बतलानेका और अन्यत्र इन्हें नयरूपसे स्वीकार करनेका यही कारण है।

इस प्रकार मोक्षमार्गकी दृष्टिसे निश्चयनय और व्यवहारनयका स्वरूप क्या है इसका विचार किया। इससे ही हमें यह ज्ञान होता है कि जीवन संशोधनमें निश्चयनय क्यों तो उपादेय है और व्यवहारनय क्यों हेय है। आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षमार्गमें उपादेयरूपसे व्यवहारनयका आश्रय करनेवाले जीवको पर्यायमूढ़ कहते हैं उसका कारण भी यही है। वे प्रवचनसारमें अपने इस भावको व्यक्त करते हुए कहते हैं—

> अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
> तेहिं पुण पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥९३॥

प्रत्येक पदार्थ द्रव्यस्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और उन दोनोंसे पर्याय होती हैं। जो पर्यायोंमें मूढ़ हैं वे पर समय हैं ॥९३॥

प्रवचनसारकी उक्त गाथा द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि वस्तु स्वरूपका निर्णय करते समय जिसप्रकार अभेदग्राही द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय उपयोगी है उसी प्रकार भेदग्राही (पर्यायार्थिक) नय भी उपयोगी है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह संसारी जीव अनादि-

कालसे अपने निश्चयरूप आत्मस्वरूपको भूलकर मात्र पर्यायमूढ़ हो रहा है, अर्थात् पर्यायको ही अपना स्वरूप समझ रहा है। एक तो अज्ञानवश वह अपने स्वरूपको जानता ही नहीं, जब जो मनुष्यादि पर्याय मिलती है उसे आत्मा मानकर यह उसीकी रक्षामें प्रयत्नशील रहता है। यदि उसकी हानि होती है तो यह अपनी हानि मानता है और उसकी प्राप्तिमें अपना लाभ मानता है। यदा कदाचित् उसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान कराया भी जाता है तो भी यह अपनी पुरानी टेकको छोड़नेमें समर्थ नहीं होता। फलस्वरूप यह जीव अनादिकालसे पर्यायमूढ़ बना हुआ है और जब तक पर्यायमूढ़ बना रहेगा तब तक उसके संसारकी ही वृद्धि होती रहेगी। इसलिए इस जीवको उन पर्यायोंमें अभेदरूप अनादि-अनन्त एक भाव जो चेतना द्रव्य है उसे ग्रहण करके और उसे निश्चयनयका विषय कह कर जीव द्रव्यका ज्ञान कराया गया है और पर्यायाश्रित भेदनयको गौण किया गया है। साथ ही अभेद दृष्टिमें वे भेद दिखलाई नहीं देते, इसलिये अभेददृष्टिकी दृढ़ श्रद्धा करानेके लिए कहा गया है कि जो पर्यायनय है सो व्यवहार है, अभूतार्थ है और असत्यार्थ है। वह मोक्षमार्गमें अनुसरण करने योग्य नहीं है, अर्थात् मोक्ष मार्गमें लक्ष्य रूपसे स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसी प्रकार निमित्तादिकी अपेक्षा जो व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है वह भी उपचरित होनेसे मोक्षमार्गमें अनुसरण करने योग्य नहीं है। यद्यपि यह तो हम मानते हैं कि निमित्तादिकी अपेक्षा लोकमें जो व्यवहार होता है वह उपचरित होने पर भी इष्टार्थका बोध करानेमें सहायक है। जैसे 'घीका घड़ा' कहने पर उसी घड़ेकी प्रतीति होती है जिसमें घी भरा जाता है या 'कुम्हारको बुला लाओ' ऐसा कहने पर उसी मनुष्यकी प्रतीति होती है जो घटकी

उत्पत्तिमें निमित्त होता है, परन्तु इस व्यवहारको मोक्षमार्गमें उपादेयरूपसे स्वीकार करने पर स्वावलम्बिनी वृत्तिका अन्त होकर मात्र परावलम्बिनी वृत्तिको ही प्रश्रय मिलता है, अतएव अभूतार्थ (असत्यार्थ) होनेसे यह व्यवहार भी अनुसरणीय नहीं माना गया है।

यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि जिसने अभेददृष्टिका आश्रय कर पर्यायदृष्टि और उपचारदृष्टिको हेय समझ लिया है वह अपनी श्रद्धामें तो ऐसा ही मानता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता आदि त्रिकालमें नहीं हो सकता। जो मेरी संसार पर्याय हो रही है उसका कर्ता एकमात्र मैं हूँ और मोक्ष पर्यायको मैं ही अपने पुरुषार्थसे प्रगट करूँगा। इसमें अन्य पदार्थ अकिंचित्कर है। फिर भी जब तक उसके विकल्पज्ञानकी प्रवृत्ति होती रहती है तब तक उसे उस भूमिकामें स्थित रहनेके लिए अन्य सुदेव, सुगुरु और आप्तोपदिष्ट आगम आदि हस्तावलम्ब (निमित्त) होते रहते हैं। तभी तो उसके मुखसे ऐसी वाणी प्रगट होती है—

मुझ कारज के कारण सु आप। शिव करहु हरहु मम मोहताप।

आचार्य कुन्दकुन्दने भी इसी भावको व्यक्त करते हुए समय-प्राभृतमें कहा है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिया पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

जो शुद्धनय तक पहुँच कर श्रद्धाके साथ पूर्ण ज्ञान और चारित्रवान् हो गये हैं उन्हें तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश करने-वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरम भावमें अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रके पूर्णभावको न पहुँच कर साधक

अवस्थामें ही स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं ॥ १२ ॥

आशय यह है कि जो अभेद रत्नत्रयरूप अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं उन्हें पुद्गल संयोगके निमित्तसे होनेवाली अनेक रूपताको कहनेवाला व्यवहारनय किसी मतलबका नहीं है। किन्तु अशुद्ध नयका कथन यथापदवी विकल्पदशामें ज्ञान करानेके लिए प्रयोजनवान् है इतना अवश्य है। तात्पर्य यह है कि अनुत्कृष्ट (मध्यम) भावका जो अनुभव करता है उस साधक जीवके परिपूर्ण शुद्धनय (केवलज्ञान) की प्राप्ति न होने तक श्रद्धामें स्वभाव दृष्टिकी ही मुख्यता रहती है। वह भूलकर भी व्यवहारदृष्टिको उपादेय नहीं मानता। व्यवहारधर्मरूप प्रवृत्ति होना अन्य बात है और व्यवहारधर्मको आत्मकार्य या मोक्षमार्ग मानना अन्य बात है। सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग तो स्वभावदृष्टिकी प्राप्ति और उसमें स्थितिको ही समझता है। यदि उसकी यह दृष्टि न रहे तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं हो सकता। यही कारण है कि मोक्षमार्गमें व्यवहारदृष्टि आश्रय करने योग्य नहीं है यह कहा गया है। यह बात थोड़ी विचित्र तो लगती है कि स्वभावदृष्टिके सद्भावमें सम्यग्दृष्टिकी प्रवृत्ति प्राथमिक अवस्थामें रागरूप होती रहती है, परन्तु इसमें विचित्रताकी कोई बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार किसी विद्यार्थीके पढ़नेका लक्ष्य होनेपर भी वह सोता है, खाता है, चलता-फिरता है, और मनोविनोदके अन्य कार्य भी करता है फिर भी वह अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी मोक्षकी उपायभूत स्वभावदृष्टिको ही अपना लक्ष्य बनाता है। कदाचित् उसके रागके आश्रयसे सच्चे देव, गुरु और शास्त्रकी उपासनाके भाव होते हैं, कदाचित् धर्मोपदेश देने और सुननेके भाव होते हैं, कदाचित् आजीविकाके साधन जुटानेके

भाव होते हैं और कदाचित् उसकी अन्य भोजनादि कार्योंमें भी रुचि होती है तो भी वह अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होता। यदि वह अपने लक्ष्यसे च्युत होकर अन्य कार्योंको ही उपादेय मानने लगे तो जिस प्रकार लक्ष्यसे च्युत हुआ विद्यार्थी कभी भी विद्यार्जन करनेमें सफल नहीं होता उसी प्रकार मोक्षप्राप्तिकी उपायभूत स्वभावदृष्टिसे च्युत हुआ सम्यग्दृष्टि कभी भी मोक्षरूप आत्मकार्यके साधनेसे सफल नहीं होता। तब तो जिस प्रकार विद्यार्जनरूप लक्ष्यसे भ्रष्ट हुआ विद्यार्थी विद्यार्थी नहीं रहता उसी प्रकार मोक्षप्राप्तिकी उपायभूत स्वभावदृष्टिसे भ्रष्ट हुआ सम्यग्दृष्टि सम्यग्दृष्टि ही नहीं रहता। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके व्यवहारनय ज्ञान करनेके लिए यथापदवी प्रयोजनवान् होनेपर भी वह मोक्षकार्यकी सिद्धिमें रंचमात्र भी आश्रयणीय नहीं है। आचार्योंने जहाँ भी व्यवहारदृष्टिको बन्धमार्ग और स्वभावदृष्टिको मोक्षमार्ग कहा है वहाँ वह इसी अभिप्रायसे कहा है। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि इस प्रकार व्यवहारदृष्टिके बन्धमार्ग सिद्ध होजानेपर न तो सम्यग्दृष्टिके देवपूजा, गुरुपास्ति, दान और उपदेश आदि देनेका भाव ही होना चाहिए और न उसके व्यवहारधर्मरूप प्रवृत्ति ही होनी चाहिये सो उसका ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिके स्वभावदृष्टि हो जानेपर भी रागरूप प्रवृत्ति होती ही नहीं यह तो कहा नहीं जा सकता। कारण कि जबतक उसके रागांश विद्यमान है तबतक उसके रागरूप प्रवृत्ति भी होती रहती है और जबतक उसके रागरूप प्रवृत्ति होती रहती है तबतक उसके फलस्वरूप देवपूजादि व्यवहारधर्मका उपदेश देनेके भाव भी होते रहते हैं और उसरूप आचरण करनेके भी भाव होते

रहते हैं। फिर भी वह अपनी श्रद्धामें उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता; इसलिए उसका कर्ता नहीं होता। आगममें सम्यग्दृष्टिको अबन्धक कहा है सो वह स्वभावदृष्टिकी अपेक्षा ही कहा है, रागरूप व्यवहारधर्मकी अपेक्षासे नहीं। सम्यग्दृष्टि एक ही कालमें बन्धक भी है और अबन्धक भी है इस विषयको स्वयं आगममें स्पष्ट किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहते हैं—

> येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
> येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
> येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
> येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥
> येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
> येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

जिस अंशसे यह जीव सम्यग्दृष्टि है उस अंशसे इसके बन्धन नहीं है। किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्धन है ॥२१२॥ जिस अंशसे यह जीव ज्ञान है उस अंशसे इसके बन्धन नहीं है। किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्धन है ॥२१३॥ जिस अंशसे यह जीव चारित्र है उस अंशसे इसके बन्धन नहीं है। किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्धन है ॥२१४॥

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनयके विवेचन द्वारा यह निर्णय हो जाने पर कि मोक्षमार्गमें क्यों तो मात्र निश्चयनय उपादेय है और क्यों यथापदवी जाननेके लिए प्रयोजनवान् होने पर भी व्यवहारनय अनुपादेय है, यहां उनके आश्रयसे उपदेश

देनेकी पद्धतिकी मीमांसा करनी है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि निश्चयनयमें अभेदकथनकी मुख्यता होनेसे वह परसे भिन्न ध्रुवस्वभावी एकमात्र ज्ञायकभाव आत्माको ही स्वीकार करता है। प्रकृतमें परका पेट बहुत बड़ा है। उसमें स्वात्मातिरिक्त अन्य द्रव्य अपने गुण-पर्यायके साथ तो समाये हुए हैं ही। साथ ही जिन्हें व्यवहारनय (पर्यायार्थिकनय) स्वात्मारूपसे स्वीकार करता है वे भी इस नयमें पर हैं, इसलिए निश्चयनय स्वात्मारूपसे न तो गुणभेदको स्वीकार करता है, न पर्यायभेदको ही स्वीकार करता है और न निमित्ताश्रित विभावभावोंको ही स्वीकार करता है। संयोग पर उसकी दृष्टि ही नहीं है। ये सब उसकी दृष्टिमें पर हैं, इसलिए वह इन सब विकल्पोंसे मुक्त अभेदरूप और नित्य एकमात्र ज्ञायकस्वभाव आत्माको ही स्वीकार करता है। कार्यकारण पद्धतिकी अपेक्षा विचार करने पर जब वह ज्ञायक स्वभाव आत्माके सिवा अन्य सबको पर मानता है तब वह अन्यके आश्रयसे कार्य होता है इस दृष्टिकोण-को कैसे स्वीकार कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता, इसलिए उसकी अपेक्षा एकमात्र यही प्रतिपादन किया जाता है कि जो कुछ भी कार्य होता है वह अपने उपादानसे ही होता है। वही उसका निज भाव है और वही अपनी परिणमनरूप सामर्थ्यके द्वारा कार्यरूप परिणत होता है। निमित्त है और वह अन्यका कुछ करता है यह कथन इसे स्वीकार ही नहीं है। यह तो निश्चयनयकी तत्त्वविवेचनकी पद्धति है। किन्तु व्यवहारनयकी तत्त्वविवेचनकी पद्धति इससे भिन्न प्रकारकी है। यह गुणभेद और पर्यायभेदरूप तो आत्माको स्वीकार करता ही है। साथ ही जो विभाव भाव और संयुक्त अवस्था है उनरूप भी आत्माको मानता है। इस नयका बल निमित्तों पर अधिक है। इसलिए

इस नयकी अपेक्षा यह कार्य इन निमित्तोंसे हुआ यह कहा जाता है। यह कथन इसी नयमें शोभा पाता है कि यदि निमित्त न हों तो कार्य भी नहीं होगा, निश्चयनयमें नहीं। निश्चयनयसे तो यही कहा जायगा कि जब तक निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती तब तक पूर्वके किसी भी भावको व्यवहार रत्नत्रय कहना संगत नहीं है। और जब निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाती है तब उसके पूर्व जो नव तत्त्वोंकी श्रद्धा और ज्ञान आदि भाव होते हैं उन्हें भी भूत नैगमनयसे व्यवहार रत्नत्रय कहा जाता है, क्योंकि जब तक निश्चय प्रगट नहीं होता तब तक व्यवहार किसका ? अभव्योंने अनन्तवार द्रव्य मुनिपदको धारण किया पर उनका चित्त रागमें अटका रहनेसे उन्हें इष्टार्थकी प्राप्ति नहीं हुई। अतएव व्यवहार रत्नत्रय कार्यसिद्धिमें वस्तुतः साधक है ऐसी श्रद्धा छोड़कर त्रिकाली द्रव्यस्वभावकी उपासना द्वारा निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति करनी चाहिए। इस जीवको निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होने पर व्यवहार रत्नत्रय होता ही है। उसे प्राप्त करनेके लिए अलगसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता। व्यवहार रत्नत्रय स्वयं धर्म नहीं है। निश्चय रत्नत्रयके सद्भावमें उसमें धर्मका आरोप होता है इतना अवश्य है। उसी प्रकार रूढ़िवश जो जिस कार्यका निमित्त कहा जाता है उसके सद्भावमें भी तब तक कार्यकी सिद्धि नहीं होती जब तक जिस कार्यका वह निमित्त कहा जाता है उसके अनुरूप उपादानकी तैयारी न हो। अतएव कार्यसिद्धिमें निमित्तोंका होना अकिंचित्कर है। जो संसारी प्राणी निमित्तोंको मिलानेके भाव तो करते हैं पर उपादानकी सम्हाल नहीं करते वे इष्टार्थकी सिद्धिमें सफल नहीं होते और अनन्त संसारके पात्र बने रहते हैं। अतएव निमित्त कार्यसिद्धिमें साधक हैं ऐसी श्रद्धा छोड़कर अपने उपादानको

मुख्यरूपसे लक्ष्यमें लेना चाहिए। उपादानके ठीक होनेपर निमित्त मिलते ही हैं, उन्हें मिलाना नहीं पड़ता। निमित्त स्वयं कार्यसाधक नहीं है। किन्तु उपादानके कार्यके अनुरूप व्यापार करनेपर जो बाह्य सामग्री उसमें हेतु होती है उसमें निमित्तपनेका व्यवहार किया जाता है। निमित्त-नैमित्तिकभावकी यह व्यवस्था अनादिकालसे बन रही है। कोई उसमें उलट-फेर नहीं कर सकता, अतएव प्रत्येक कार्य स्वकालमें उपादानके अनुसार अपने पुरुषार्थसे होता है यही श्रद्धा करना हितकारी है। इस प्रकार दोनों नयोंकी अपेक्षा विवेचन करनेकी यह पद्धति है, अतः जहाँ जिस नयकी अपेक्षा विवेचन किया गया हो उसे उसीरूपमें ग्रहण करना चाहिए। उसमें अन्यथा कल्पना करना उचित नहीं है। निश्चय कथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित (अयथार्थ) है, अतः उपचरित कथनसे दृष्टिको परावृत्त करनेके लिए वक्ता यदि मोक्षप्राप्तिमें परम साधक निश्चय रत्नत्रयकी दृष्टिसे तत्त्वका विवेचन करता है तो इससे व्यवहारधर्मका कैसे लोप होता है यह हमारी समझके बाहर है। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि निश्चय रत्नत्रयके अनुरूप तत्त्वका निर्णय हो जानेपर उसकी यथापदवी उपासना करनेवाले व्यक्तिकी जब जो व्यवहार धर्मरूप प्रवृत्ति होती है वह शुभ रूप पुण्यवर्धक ही होती है। प्रायः अशुभमें तो उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय क्या है, उनके अनुसार तत्त्वविवेचनकी पद्धति क्या है और मोक्ष-मार्गमें क्यों तो निश्चयनय आश्रयणीय है और क्यों व्यवहारनय आश्रयणीय नहीं है इसका सांगोपांग ऊहापोह किया।

—:※:—

अनेकान्त-स्याद्वादमीमांसा

एक कालमें देखिए अनेकान्तका रूप।
एक वस्तुमें नित्य ही विधि-निषेधस्वरूप ॥

पिछले प्रकरणमें यद्यपि हमने निश्चयनय और व्यवहारनय-क्या है इसका विवेचन करनेके साथ इस बातका भी विचार किया कि मोक्षमार्गमें मात्र निश्चयनय क्यों आश्रयणीय है और व्यवहारनय क्यों आश्रयणीय नहीं है। फिर भी प्रकृतमें अनेकान्त-की दृष्टिसे इस तत्त्वकी गवेषणा करना आवश्यक है, क्योंकि मोक्षमार्गमें व्यवहारनय गौण होनेके कारण उसे आश्रय करने योग्य न मानने पर एकान्तका प्रसंग आता है ऐसा कुछ मनीषियोंका मत है। यद्यपि आगममें ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं जिनके बलपर यह कहा जा सकता है कि मोक्षमार्गमें मात्र निश्चयनयका अवलम्बन लेना ही कार्यकारी है। उदाहरणार्थ समयप्राभृतमें आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षका हेतु एकमात्र परमार्थ (निश्चयनय) का अलम्बन है इस बातका समर्थन करते हुए कहते हैं :—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

निश्चयनयके विषयको छोड़कर विद्वान व्यवहारनयका आलम्बन लेकर प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु परमार्थका आश्रय करने-वाले यतियोंका ही कर्मक्षय होता है ऐसा नियम है ॥१५६॥

इसी बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

ज्ञान एक द्रव्यका स्वभाव है, इसलिए ज्ञानका परिणमन सदा ज्ञानरूपसे होनेके कारण एकमात्र वही मोक्षका हेतु है ॥१०६॥ किन्तु कर्मका स्वभाव अन्य द्रव्यरूप है इसलिये ज्ञानका परिणमन कर्मरूपसे नहीं होनेके कारण कर्म मोक्षका हेतु नहीं है ॥१०७॥

वे पुनः इसी विषयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

सर्वत्राध्यवसायमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव परमं निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥

सभी पदार्थोंमें जो अध्यवसान है उस सभीको जिनेन्द्रदेवने त्यागने योग्य कहा है इसलिए हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवने परके आश्रयसे होनेवाले सभी प्रकारके व्यवहारको छुड़ाया है। फलस्वरूप जो सत्पुरुष हैं वे सम्यक् प्रकार एक निश्चयको ही निश्चलरूपसे अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपनी महिमामें स्थिरताको क्यों नहीं धारण करते ?

मोक्षकार्यकी सिद्धि निश्चयनयका अवलम्बन लेनेसे ही क्यों होती है इस बातका स्पष्ट निर्देश करते हुए नयचक्रमें कहा है—

णिच्छयदो खलु मोक्खो बंधो ववहारचारिणो जम्हा ।
तम्हा णिव्वुदिकामो ववहारं चयदु तिविहेण ॥३८१॥

यतः निश्चयनयका आश्रय करनेसे मोक्ष होता है और व्यवहारका आचरण करनेवालेके बन्ध होता है अतः मोक्षकी इच्छा रखनेवाले जीवको मन, वचन और कायसे व्यवहारका त्याग कर देना चाहिए, अर्थात् उसमें हेय बुद्धि कर लेनी चाहिये ॥३८१॥

मोत्तूणं वहिविसयं आदा वि वट्टदे काउं ।
तइया संवर णिज्जर मोक्खो वि य होइ साहुस्स ॥३८३॥

जब कोई साधु बाह्य विषयको छोड़कर आत्माको विषय कर स्थित होता है तब उसके संवर, निर्जरा और मोक्ष होता है ॥३८३॥

निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म होता है, व्यवहारनयके आश्रयसे नहीं इसका खुलासा करते हुए आचार्य देवसेनकृत नयचक्रकी टीका (प्रकाशक श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री सोलापुर १९४९) में भी कहा है—

ननु प्रमाणलक्षणो योऽसौ व्यवहारः स व्यवहार-निश्चयमनुभयं च गृह्णन्नप्यधिकविषयत्वात्कथं न पूज्यनीयो ? नैवम्, नयपक्षातीतमात्मानं कर्तुमशक्यत्वात् । तद्यथा-निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदं न करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाभावे व्यवहारलक्षणभावक्रियां निरोद्धुमशक्तः । अतएव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवासावात्मानमिति । तथा प्रोच्यते—निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानन्दं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोति तमिति पूज्यतमः । अतएव निश्चयनयः परमार्थप्रतिपादकत्वाद् भूतार्थः । अत्रैवाविश्रान्तान्तर्दृष्टिर्भवत्यात्मा ।

शंका—जो यह प्रमाणलक्षण व्यवहार है वह व्यवहार, निश्चय और अनुभयको ग्रहण करता हुआ अधिक विषयवाला होनेसे पूज्य क्यों नहीं है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रमाणलक्षण व्यवहार आत्माको नयपक्षसे अतिक्रान्त करनेमें समर्थ नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—वह निश्चयको ग्रहण करके भी अन्ययोगव्यवच्छेद नहीं करता और अन्ययोगव्यवच्छेदके अभावमें वह व्यवहारलक्षण भावक्रियाको रोकनेमें असमर्थ है। अतएव वह आत्माको ज्ञानस्वरूप चैतन्यमें स्थापित करनेके लिए असमर्थ ही है। उसी प्रकार कहते हैं—निश्चयनय तो एकत्वको प्राप्त करनेके साथ ज्ञानस्वरूप चैतन्यमें स्थापित कर परमानन्दको उत्पन्न करता हुआ वीतराग करके स्वयं निवृत्त होता हुआ उसे (आत्माको) नयपक्षसे अतिक्रान्त करता है, इसलिए यह उत्तम-प्रकारसे पूज्य है। अतएव निश्चयनय परमार्थका प्रतिपादक होनेसे भूतार्थ है। इसीमें यह आत्मा अविश्रान्तरूपसे अन्तर्दृष्टि होता है।

नयचक्रमें इस आशयकी एक गाथा भी उद्धृत की गई है। वह इस प्रकार है :—

ववहारादो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले ॥१॥

व्यवहारसे बन्ध होता है, क्योंकि स्वभावसंयुक्त जीव ही मोक्ष है, इसलिए स्वभावकी आराधना करनेके कालमें व्यवहारको गौण करना चाहिए ॥ १ ॥

स्वभावआराधनाका काल कहो या मोक्षमार्ग कहो एक ही अभिप्राय है। तदनुसार उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि मोक्ष-

मार्गमें स्वभावका आश्रय त्रिकालमें नहीं छोड़ना चाहिए, प्रत्युत स्वभावको उपादेय समझ कर उसी पर अपनी दृष्टि स्थिर रखनी चाहिए। कदाचित् चित्तकी अस्थिरतावश रागादिरूप विकल्प उत्पन्न हो तो उसे अनुपादेय समझ कर अर्थात् अपना स्वरूप न समझ कर उससे निवृत्त होनेका ही प्रयत्न करना चाहिए। स्वभावका अवलम्बन कर प्रवृत्ति करना ही उपादेय है और रागादिभावोंका अवलम्बन कर प्रवृत्ति करना उपादेय नहीं है ऐसी श्रद्धाके साथ जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है वही सकल औपाधिक भावोंसे निवृत्त होकर मोक्षका अधिकारी होता है। प्रकृतमें निश्चयनयके आश्रय करनेका और व्यवहारनयके आश्रय छोड़नेका यही तात्पर्य है। इस प्रकार उक्त प्रमाणोंके प्रकाशमें हम देखते हैं कि मोक्षमार्गमें एकमात्र निश्चयनयको ही आश्रय करने योग्य बतलाया गया है, व्यवहारनयको नहीं, फिर भी जो महानुभाव इस कथन पर एकान्तका आरोप करते हैं उनका वह वक्तव्य कहां तक ठीक है इसका सर्व प्रथम यहां पर विचार करना है। किन्तु इसका विचार 'अनेकान्त' के अर्थका निर्णय किये विना नहीं हो सकता, इसलिए सर्व प्रथम उसीकी मीमांसा करते हैं—अनेकान्त शब्द अनेक और अन्त इन दो शब्दोंके मेलसे बना है। उसका सामान्य अर्थ है—अनेके अन्ता यस्यासौ अनेकान्तः—जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं। प्रकृतमें ऐसा समझना चाहिए कि 'अनेकान्त शब्दका वाच्य केवल किसी विवक्षित जीवादि पदार्थका सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र आदि अनेक धर्मोंवाला होना मात्र नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थमें अनेक धर्मोंका स्वीकार अनेक दर्शनकारोंने स्वीकार किया है। यदि अनेकान्तका मात्र उक्त अर्थ लिया जाता है तो एक पदार्थको अनेक धर्मवाला माननेवाले जितने भी दर्शन हैं वे

सब अनेकान्तवादी ठहरते हैं। ऐसी अवस्थामें जैनदर्शनकी अनेकान्तवादीके रूपमें जो प्रसिद्धि है उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता। साथ ही अनेकान्तका ऐसा अर्थ स्वीकार करनेपर एक पदार्थकी अन्य पदार्थसे व्यावृत्ति तथा एक ही पदार्थमें एक गुणकी अन्य गुणसे या पर्यायसे व्यावृत्ति, एक पर्यायकी अन्य पर्याय आदिसे व्यावृत्ति आदि दिखलाना नहीं बन सकता। अतः प्रकृतमें जैनदर्शनमें अनेकान्तकी जो स्वतन्त्र व्याख्या की गई है उसे समझकर ही इसका कथन करना चाहिये। आचार्य अमृत-चन्द्र समयप्राभृतकी टीकामें इसका लक्षण करते हुए कहते हैं:—

तत्र यदेव तत् तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत् तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्ति-द्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

प्रकृतमें जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है तथा जो नित्य है वही अनित्य है इस प्रकार एक वस्तुमें वस्तुत्वको उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना अनेकान्त है।

यद्यपि प्रकृतमें जो वस्तु तत्स्वरूप हो वही अतत्स्वरूप हो इसमें विरोध दिखलाई देता है, क्योंकि एक ही वस्तुमें परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंके स्वीकार करनेमें स्पष्ट बाधा प्रतीति होती है। परन्तु इसमें बाधाकी कोई बात नहीं है, क्योंकि यहाँपर वस्तुको जिस अपेक्षासे तत्स्वरूप स्वीकार किया है उसी अपेक्षासे उसे अतत्स्वरूप नहीं स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है, इसलिए जिस प्रकार एक ही व्यक्तिमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे पितृत्व और पुत्रत्व आदि विविध धर्मोंका सद्भाव बन

जाता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिक दृष्टिसे तत्स्वरूप है, क्योंकि अनन्त काल पहले वह जितना और जैसा था उतना और वैसा ही वर्तमान कालमें भी दृष्टिगोचर होता है और वर्तमान काल में वह जितना और जैसा है उतना और वैसा ही वह अनन्तकाल तक बना रहेगा। उसमेंसे कोई एक प्रदेश या गुण खिसक जाता हो और उसका स्थान कोई अन्य प्रदेश या गुण ले लेता हो ऐसा नहीं है, इसलिए तो वह सदाकाल तत्स्वरूप ही है। किन्तु इस प्रकार उसके तत्स्वरूप सिद्ध होनेपर भी पर्यायरूपसे भी वह नहीं बदलता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि जो बालक जन्मके समय होता है। कालान्तरमें वह वही होकर भी अन्य रूप भी होजाता है, अन्यथा उसमें बालक, युवा और वृद्ध इत्यादिरूपसे विविध अवस्थाएँ दृष्टिगोचर नहीं हो सकतीं, इसलिए विवक्षा भेदसे तत् और अतत् इन दोनों धर्मोंको एक ही वस्तुमें स्वीकार करनेमें कोई बाधा नहीं आती। मात्र अन्वयको स्वीकार करनेवाले द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे विचार करनेपर तो प्रत्येक पदार्थ हमें तत्स्वरूप ही प्रतीत होता है और उसी पदार्थको व्यतिरेकको स्वीकार करनेवाले पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे देखनेपर वह मात्र अतत्स्वरूप ही प्रतीत होता है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ तत्स्वरूप भी है और अतत्स्वरूप भी है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूपसे अस्तिरूप है, इसलिए तो वह सत् है और उसमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावका सर्वथा अभाव है इसलिए इस दृष्टिसे वह असत् है। प्रत्येक पदार्थकी नित्यानित्यता और एकानेकता इसी प्रकार साध लेनी चाहिये, क्योंकि जब हम किसी पदार्थका द्रव्यदृष्टिसे अवलोकन करते हैं तो वह जहाँ हमें एक और नित्य प्रतीत होता है वहाँ

उसे पर्यायदृष्टिसे देखनेपर उसमें अनेकता और अनित्यता भी प्रमाणित होती है।

शास्त्रोंमें प्रकृत विषयको पुष्ट करनेके लिए अनेक उदाहरण दिये गये हैं। विचार करने पर विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है। इस दृष्टिसे उसका विचार करनेपर उसमें द्रव्यभेद, क्षेत्रभेद, कालभेद और भावभेद सम्भव नहीं है, अन्यथा वह अखण्ड एक पदार्थ नहीं हो सकता, इसलिए द्रव्यार्थिकदृष्टि (अभेददृष्टि) से उसका अवलोकन करनेपर वह तत्स्वरूप, एक, नित्य और अस्तिरूप ही प्रतीतिमें आता है। किन्तु जब उसका नाना अवयव, अवयवोंका पृथक् पृथक् क्षेत्र, प्रत्येक समयमें होनेवाला उनका परिणामलक्षण स्वकाल और उसके रूप-रसादि या ज्ञान दर्शनादि विविध भाव इन सबकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो वह एक अखण्ड पदार्थ अतत्स्वरूप, अनेक, अनित्य और नास्तिरूप ही प्रतीतिमें आता है। प्रत्येक पदार्थ तद्भिन्न अन्य अनन्त पदार्थोंसे पृथक् होनेके कारण उसमें उन अनन्त पदार्थोंका अत्यन्ताभाव है यह तो स्पष्ट है ही, अन्यथा उसका स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा स्वरूपास्तित्व आदि ही सिद्ध नहीं हो सकता और न उन अनन्त पदार्थोंमें अपने अपने द्रव्यादिकी अपेक्षा भेदक रेखा ही खींची जा सकती है। आचार्य समन्तभद्रने अत्यन्ताभावके नहीं मानने पर किसी भी द्रव्यका विवक्षित द्रव्यादिरूपसे व्यपदेश करना सम्भव नहीं है यह जो आपत्ति दी है वह इसी अभिप्रायको ध्यानमें रख कर ही दी है। साथ ही गुण-पर्यायोंके किंचित् मिलित स्वभावरूप वह स्वयं भी एक है और एक नहीं है, नित्य है और नित्य नहीं है, तत्स्वरूप है और तत्स्वरूप नहीं है तथा अस्तिरूप है और अस्तिरूप नहीं है, क्योंकि द्रव्यार्थिकदृष्टिसे उसका अवलोकन

करनेपर जहाँ वह एक, नित्य, तत्स्वरूप और अस्तिरूप प्रतीतिमें आता है वहाँ पर्यायार्थिकदृष्टिसे उसका अवलोकन करनेपर वह एक नहीं है अर्थात् अनेक है, नित्य नहीं है अर्थात् अनित्य है, तत्स्वरूप नहीं है अर्थात् अतत्स्वरूप है और अस्तिरूप नहीं है, अर्थात् नास्तिरूप है ऐसा भी प्रतीतिमें आता है। अन्यथा उसमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभावकी सिद्धि न हो सकनेके कारण न तो उसका विवक्षित समयमें विवक्षित आकार ही सिद्ध होगा और न उसमें जो गुणभेद और पर्यायभेदकी प्रतीति होती है वह भी बन सकेगी। आचार्य समन्तभद्रने प्रागभावके नहीं माननेपर कार्यद्रव्य अनादि हो जायगा, प्रध्वंसाभावके नहीं माननेपर कार्यद्रव्य अनन्तताको प्राप्त हो जायगा और इतरेतराभावके नहीं माननेपर वह एक सर्वात्मक हो जायगा यह जो आपत्ति दी है वह इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ही दी है। स्वामी समन्तभद्र 'प्रत्येक पदार्थ कथंचित् सत् है और और कथंचित् असत् है' इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं:—

> सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
> असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

ऐसा कौन पुरुष है जो, चेतन और अचेतन समस्त पदार्थजात स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा सत्स्वरूप ही है, ऐसा नहीं मानता और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा असत्स्वरूप ही है, ऐसा नहीं मानता, क्योंकि ऐसा स्वीकार किये बिना किसी भी इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकती ॥१५॥

उक्त व्यवस्थाको स्वीकार नहीं करनेपर इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था किस प्रकार नहीं बन सकती इस विषयको स्पष्ट करते हुए

विद्यानन्दस्वामी उक्त श्लोककी टीकामें कहते हैं:—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य, स्वरूपादिव पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसंगात् तत्स्वात्मवत्, पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः, स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियमविरोधात्।

इसमें सर्वप्रथम तो वस्तुका वस्तुत्व क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य विद्यानन्दने कहा है कि जिस व्यवस्थासे स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन हो वही वस्तुका वस्तुत्व है। फिर भी जो इस व्यवस्थाको नहीं मानना चाहता उसके सामने जो आपत्तियाँ आती हैं उनका खुलासा करते हुए वे कहते हैं—

१. यदि स्वरूपके समान पररूपसे भी वस्तुको अस्तिरूप स्वीकार किया जाता है तो जितने भी चेतनादिक पदार्थ हैं वे जैसे स्वरूपसे चेतन हैं वैसे ही वे अचेतन आदि भी हो जावेंगे।

२. पररूपसे जैसे उनका असत्त्व है उसी प्रकार स्वरूपसे भी यदि उनका असत्त्व मान लिया जाता है तो स्वरूपास्तित्वके नहीं बननेसे सर्वथा शून्यताका प्रसंग आ जायगा।

३. तथा स्वद्रव्यके समान परद्रव्यरूपसे भी यदि सत्त्व मान लिया जाता है तो द्रव्योंका प्रतिनियम होनेमें विरोध आ जायगा।

यतः उक्त दोष प्राप्त न हों अतः प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्यको स्वरूपसे सद्रूप ही और पररूपसे असद्रूप ही मानना चाहिए। एक घट द्रव्यके आश्रयसे भट्टाकलंकदेवने घटका स्वात्मा क्या

और परमात्मा क्या इस विषयपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इससे समयप्राभृत आदि शास्त्रोंमें स्वसमय और परसमयका जो स्वरूप बतलाया गया है उस पर मौलिक प्रकाश पड़ता है, इसलिए यहाँ पर घटका स्वात्मा क्या और परमात्मा क्या इसका विविध दृष्टियोंसे ऊहापोह करना इष्ट समझकर तत्त्वार्थवार्तिक (अ० १, सूत्र ६) में इस सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा है उसके भावको यहाँ उपस्थित करते हैं—

१. जो घट बुद्धि और घटशब्दकी प्रवृत्तिका हेतु है वह स्वात्मा है और जिसमें घटबुद्धि और घटशब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती वह परात्मा है। घट स्वात्माकी दृष्टिसे अस्तित्वरूप है और परात्माकी दृष्टिसे नास्तित्वरूप है।

२. नामघट, स्थापनाघट, द्रव्यघट और भावघाट इनमेंसे जब जो विवक्षित हो वह स्वात्मा और तदितर परात्मा। यदि उस समय विवक्षितके समान इतररूपसे भी घट माना जाय या इतर रूपसे जिस प्रकार वह अघट है उसी प्रकार विवक्षित रूपसे भी वह अघट माना जाय तो नामादि व्यवहारके उच्छेदका प्रसंग आता है।

३. घट शब्दके वाच्य समान धर्मवाले अनेक घटोंमेंसे विवक्षित घटके ग्रहण करने पर जो प्रतिनियत आकार आदि है वह स्वात्मा और उससे भिन्न अन्य परात्मा। यदि इतर घटोंके आकारसे वह घट अस्तित्वरूप हो जाय तो सभी घट एक घटरूप हो जायँगे और ऐसी अवस्थामें सामान्यके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारका लोप ही हो जायगा।

४. द्रव्यार्थिकदृष्टिसे अनेक क्षणस्थायी घटमें जो पूर्वकालीन कुशूलपर्यन्त अवस्थाएँ होती हैं वे और जो उत्तरकालीन

कपालादि अवस्थाएँ होती हैं वे सब परात्मा और उनके मध्यमें अवस्थित घटपर्याय स्वात्मा। मध्यवर्ती अवस्थारूपसे वह घट है, क्योंकि घटके गुण-क्रिया आदि उसी अवस्थामें होते हैं। यदि कुशूलान्त और कपालादिरूपसे भी घट होवे तो घट अवस्थामें भी उनकी उपलब्धि होनी चाहिए। और ऐसी अवस्थामें घटकी उत्पत्ति और विनाशके लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसके अभावका प्रसंग आता है। इतना ही क्यों, यदि अन्तरालवर्ती अवस्थारूपसे भी वह अघट हो जावे तो घटकार्य और उससे होनेवाले फलकी प्राप्ति नहीं होनी चाहिये।

५. उस मध्य कालवर्ती घटस्वरूप व्यंजनपर्यायमें भी घट प्रति समय उपचय और अपचयरूप होता रहता है, अतः ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एक क्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है और उसी घटकी अतीत और अनागत पर्यायें परात्मा हैं। यदि प्रत्युत्पन्न क्षणकी तरह अतीत और अनागत क्षणसे भी घटका अस्तित्व माना जाय तो सभी घट वर्तमान क्षणमात्र हो जायँगे। या अतीत अनागतके समान वर्तमान क्षणरूपसे भी असत्त्व माना जाय तो घटके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारका ही लोप हो जायगा।

६. अनेक रूपादिके समुच्चयरूप उसी वर्तमान घटमें पृथुबुध्नोदराकारसे घट अस्तित्वरूप है, अन्यरूपसे नहीं, क्योंकि उक्त आकारसे ही घट व्यवहार होता है, अन्यसे नहीं। यदि उक्त आकारसे घट न होवे तो उसका अभाव ही हो जायगा और अन्य आकारसे घट होवे तो उस आकारसे रहित पदार्थमें भी घटव्यवहार होने लगेगा।

७. रूपादिके सन्निवेशविशेषका नाम संस्थान है। उसमें चक्षुसे घटका ग्रहण होने पर रूपमुखसे घटका ग्रहण हुआ

इसलिए रूप स्वात्मा है और रसादि परात्मा हैं। वह घटरूपसे अस्तित्वरूप है और रसादिरूपसे नास्तित्वरूप है। जब चक्षुसे घटको ग्रहण करते हैं तब यदि रसादि भी घट हैं ऐसा ग्रहण हो जाय तो रसादि भी चक्षुग्राह्य होनेसे रूप हो जायँगे और ऐसी अवस्थामें अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी। अथवा चक्षु इन्द्रियसे रूप भी घट है ऐसा ग्रहण न होवे तो वह चक्षु इन्द्रियका विषय ही न ठहरेगा।

८. शब्दभेदसे अर्थभेद होता है, अतः घट, कुट आदि शब्दोंका अलग अलग अर्थ होगा। जो घटनक्रियासे परिणत होगा वह घट कहलायेगा और जो कुटिलरूप क्रियासे परिणत होगा वह कुट कहलायेगा। ऐसी अवस्थामें घटन क्रियाका कर्तृभाव स्वात्मा है और अन्य परात्मा। यदि अन्यरूपसे भी घट कहा जाय तो पटादिसे भी घट व्यवहार होना चाहिए और इस तरह सभी पदार्थ एक शब्दके वाच्य हो जायँगे। अथवा घटन क्रियाको करते समय भी वह अघट होवे तो घट व्यवहार-की निवृत्ति हो जायगी।

९. घट शब्दके प्रयोगके बाद उत्पन्न हुआ घटरूप उपयोग स्वात्मा है, क्योंकि वह अन्तरंग है और अहेय है तथा बाह्य घटाकार परात्मा है, क्योंकि उसके अभावमें भी घटव्यवहार देखा जाता है। वह घट उपयोगाकारसे है अन्यरूपसे नहीं। यदि घट उपयोगाकारसे भी न हो तो वक्ता और श्रोताके उपयोगरूप घटाकारका अभाव हो जानेसे उसके आश्रयसे होनेवाला व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। अथवा इतररूपसे भी यदि घट होवे तो पटादिकको भी घटत्वका प्रसङ्ग आ जायगा।

१०. चैतन्यशक्तिके दो आकार होते हैं—ज्ञानाकार और

ज्ञेयाकार। प्रतिविम्बसे रहित दर्पणके समान ज्ञानाकार होता है और प्रतिविम्बयुक्त दर्पणके समान ज्ञेयाकार होता है। उसमें घटरूप ज्ञेयाकार स्वात्मा है, क्योंकि इसीके आश्रयसे घट व्यवहार होता है और ज्ञानाकार परात्मा है, क्योंकि वह सर्वसाधारण है। यदि ज्ञानाकारसे घट माना जाय तो पटादि ज्ञानके कालमें भी ज्ञानाकारका सन्निधान होनेसे घटव्यवहार होने लगेगा और यदि घटरूप ज्ञेयाकारके कालमें भी घट नास्तित्वरूप माना जाय तो उसके आश्रयसे इतिकर्तव्यताका लोप हो जायगा।

यह एक ही पदार्थमें एक कालमें नयभेदसे सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्मकी व्यवस्था है। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थमें जब जो धर्म विवक्षित होता है तब उसकी अपेक्षा वह अस्तित्वरूप होता है और तदितर अन्य धर्मोंकी अपेक्षा वह नास्तित्वरूप होता है। अस्तित्व धर्मका नास्तित्व धर्म अविनाभावी है, इसलिए जहां किसी एक विवक्षासे अस्तित्व धर्म घटित किया जाता है वहां तद्भिन्न अन्य विवक्षासे नास्तित्व धर्म होता ही है। न तो केवल अस्तित्व ही वस्तुका स्वरूप है और न केवल नास्तित्व ही। सत्ताका लक्षण करते हुए आचार्योंने उसे सप्रतिपक्ष कहा है वह इसी अभिप्रायसे कहा है। उदाहरणार्थ जब हम किसी विवक्षित मनुष्यको नाम लेकर बुलाते हैं तो उसमें उससे भिन्न अन्य मनुष्योंको बुलानेका निषेध गर्भित रहता ही है। या जैसे हम किसी विवक्षित पर्यायके ऊपर दृष्टि डालते हैं तो उसमें तद्भिन्न पर्यायोंका अभाव गर्भित रहता ही है। या जब हम किसीके भव्य होनेका निर्णय करते हैं तो उसमें अभव्यताका अभाव गर्भित है ही। इसलिए कहीं पर मात्र विधिद्वारा किसी धर्म विशेषका सत्त्व स्वीकार किया गया हो तो उसमें तदितरका अभाव गर्भित

ही है ऐसा समझना चाहिए। एक वस्तुमें विवक्षित धर्मकी अपेक्षासे अस्तित्व और अन्यकी अपेक्षासे नास्तित्व यही अनेकान्त है। इससे विवक्षित वस्तुमें धर्मविशेषकी प्रतिष्ठा होकर उसमें अन्यका निषेध हो जाता है। यहां जिस प्रकार सदसत्त्वकी अपेक्षा अनेकान्तका निर्देश किया है उसी प्रकार तदतत्त्व, एकानेकत्व और भेदाभेदत्व आदिकी अपेक्षा भी उसका निर्देश कर लेना चाहिए। इस विषयको स्पष्ट करते हुए नाटकसमयसार-के स्याद्वाद अधिकारमें पण्डितप्रवर बनारसीदास जी कहते हैं—

> द्रव्य क्षेत्र काल भाव चारों भेद वस्तु ही में
> अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानिये।
> परके चतुष्क वस्तु न अस्ति नियत अंग
> ताको भेद द्रव्य परयाय मध्य जानिये॥
> दरब जो वस्तु क्षेत्र सत्ताभूमि काल चाल
> स्वभाव सहज मूल सकति बखानिये।
> याही भांति पर विकलप बुद्धि कलपना
> व्यवहार दृष्टि अंश भेद परमानिये॥ १०॥

यह स्याद्वादरूप वचनके आलम्बन द्वारा अनेकान्त तत्त्वकी सामान्य मीमांसा है। इसके प्रकाशमें जब हम समयप्राभृतका अवलोकन करते हैं तब हमें उसमें पद-पद पर इस सिद्धान्तके दर्शन होते हैं। उसमें सर्व प्रथम आचार्य कुन्दकुन्दने आत्मा-में परसे भिन्न एकत्वको दिखलानेकी प्रतिज्ञा करके उस द्वारा इसी अनेकान्तका सूचन किया है। वे यह नहीं कहते कि मैं जिसका कोई प्रतिपक्षी ही नहीं ऐसे एकत्वको दिखलाऊंगा। यदि वे ऐसी प्रतिज्ञा करते तो यह एकान्त हो जाता जो मिथ्या होनेसे इष्टार्थकी सिद्धिमें प्रयोजक न होता।

इसलिये वे प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं कि मैं आत्माके जिस एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला हूँ उसका परसे भेद दिखलाते हुए ही प्रतिपादन करूँगा। यदि कोई समझे कि वे इस प्रतिज्ञा वचनको ही करके रह गये हैं सो भी बात नहीं है, क्योंकि जहाँ पर भी उन्होंने आत्माके ज्ञायकस्वभावकी स्थापना की है वहाँ पर उन्होंने परको स्वीकार करके उससें परका नास्तित्व दिखलाते हुए ही उसकी स्थापना की है। इसी प्रकार प्रकृतमें प्रयोजनीय अन्य तत्त्वका कथन करते समय भी उन्होंने गौण-मुख्यभावसे विधि-निषेध दृष्टिको साध कर ही उसका कथन किया है। अब इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम समयप्राभृतके कुछ उदाहरण उपस्थित कर देना चाहते हैं:—

१—'ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो' इत्यादि गाथाको लें। इस द्वारा आत्मामें ज्ञायकस्वभावका 'अस्तित्वधर्म द्वारा और प्रमत्ताप्रमत्तभावका 'नास्तित्वधर्म द्वारा प्रतिपादन किया गया है। दृष्टियाँ दो हैं—द्रव्यार्थिकदृष्टि और पर्यायार्थिकदृष्टि। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्माका अवलोकन करनेपर वह ज्ञायकस्वभाव प्रतीतिमें आता है, क्योंकि यह आत्माका त्रिकालाबाधित स्वरूप है। किन्तु पर्यायार्थिकदृष्टिसे उसी आत्माका अवलोकन करनेपर वह प्रमत्तभाव और अप्रमत्तभाव आदि विविध पर्यायरूप प्रतीत होता है। इन दोनोंरूप आत्मा है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यहाँ पर बन्धपर्यायरूप प्रमत्तादि क्षणिक भावोंसे रुचि हटाकर इस आत्माको अपने ध्रुवस्वभावकी प्रतीति करानी है, इसलिए मोक्षमार्गमें द्रव्यार्थिकदृष्टिकी मुख्यता होकर पर्यायार्थिकदृष्टि (व्यवहारनय) गौण हो जाती है। यही कारण है कि यहाँपर द्रव्यार्थिकदृष्टिकी मुख्यता होनेसे आत्मामें ज्ञायकस्वभावकी अस्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराई गई है और आत्माके

त्रिकालाबाधित ज्ञायकस्वभावमें प्रमत्तादि भाव नहीं हैं यह जानकर आत्मामें इनकी नास्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराई गई है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतमें द्रव्यार्थिकनयका विषय विवक्षित होनेसे और पर्यायार्थिकनयका विषय अविवक्षित होनेसे विवक्षित का 'अस्तित्व' द्वारा और अविवक्षितका 'नास्तित्व' द्वारा कथन कर अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

२. अब 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स' इत्यादि गाथाको लें। इसमें सर्वप्रथम उस ज्ञायकस्वभाव आत्मामें पर्यायार्थिकदृष्टिसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य आदि विविध धर्मोंकी प्रतीति होती है यह दिखलानेके लिए व्यवहारनयसे उनका सद्भाव स्वीकार किया गया है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टिसे उसी आत्माका अवलोकन करनेपर ये भेद उसमें लक्षित न होकर एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी आत्मा प्रतीतिमें आता है, इसलिए यहाँपर भी गाथाके उत्तरार्धमें ज्ञायकस्वभाव आत्माकी अस्तित्व धर्मद्वारा प्रतीति कराकर उसमें अनुपचरित सद्भूत व्यवहारका 'नास्तित्व' दिखलाते हुए अनेकान्तको ही स्थापित किया गया है।

३. जब कि मोक्षमार्गमें निश्चयके विषयमें व्यवहारनयके विषयका असत्त्व ही दिखलाया जाता है तो उसके प्रतिपादनकी आवश्यकता ही क्या है ऐसा प्रश्न होनेपर 'जह ण वि सक्कमणज्जो' इत्यादि गाथामें दृष्टान्त द्वारा उसके कार्यक्षेत्रकी व्यवस्था की गई है और नौवीं तथा दसवीं गाथामें दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें घटित करके बतलाया गया है। इन तीनों गाथाओंका सार यह है कि व्यवहारनय निश्चयनयके विषयका ज्ञान करानेका साधन (हेतु) होनेसे प्रतिपादन करने योग्य तो अवश्य है परन्तु अनुसरण

करने योग्य नहीं है। क्यों अनुसरण करने योग्य नहीं है इस बातका समर्थन करनेके लिए ११ वीं गाथामें निश्चयनयकी भूतार्थता और व्यवहारनयकी अभूतार्थता स्थापित की गई है। यहाँपर जब व्यवहारनय है और उसका विषय है तो निश्चयनयके समान यथावसर उसे भी अनुसरण करने योग्य मान लेनेमें क्या आपत्ति है ऐसा प्रश्न होनेपर १२ वीं गाथा द्वारा उसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि मोक्षमार्गमें उपादेय रूपसे व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य तो कभी भी नहीं है। हाँ गुणस्थान परिपाटीके अनुसार वह जहाँ जिस प्रकारका होता है उतना जाना गया प्रयोजनवान् अवश्य है। इस प्रकार इस वक्तव्य द्वारा भी व्यवहारनय और उसका विषय है यह स्वीकार करके तथा उसका त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें असत्त्व दिखलाते हुए अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

४. गाथा १३ में जीवादिक नौ पदार्थ हैं यह कहकर व्यवहार नयके विषयकी स्वीकृति देकर भी भूतार्थरूपसे वे जाने गये सम्यग्दर्शन हैं यह कहकर मोक्षमार्गमें एकमात्र निश्चयनयका विषय ही उपादेय है यह दिखलाया गया है। इसके बाद गाथा १४ में भूतार्थरूपसे नौ पदार्थोंके देखनेपर एकमात्र अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माके ही दर्शन होते हैं, अतएव इस प्रकार आत्माको देखनेवाला जो नय है उसे शुद्धनय कहते हैं यह कहकर व्यवहारनयके विषयको गौण और निश्चनयके विषयको मुख्य करके पुनः अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

५. १५ वीं गाथामें उक्त विशेषणोंसे युक्त आत्माको जो देखता है वह पूरे जिनशासनको देखता है यह कहकर पूर्वोक्त

प्रतिपादित मोक्षमार्गकी महिमा गाई गई है। व्यवहारनय है और उसका विषय भी है परन्तु उससे मुक्त होनेके लिए व्यवहार-नयके विषय परसे अपना लक्ष्य हटाकर निश्चयनयके विषय पर अपना लक्ष्य स्थिर करो। ऐसा करनेसे ही व्यवहाररूप बन्ध-पर्याय छूट कर निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मुक्तिकी प्राप्ति होगी। जिस महान् आत्माने व्यवहाररूप बन्धपर्यायको गौण करके निश्चय रत्नत्रयकी आराधना द्वारा साक्षात् निश्चय रत्नत्रयको प्राप्त किया है उसीने तत्त्वतः पूरे जिनशासनको देखा है। सोचिए तो कि इसके सिवा जिनशासनका देखना और क्या होता है। जैनधर्मके विविध शास्त्रोंको पढ़ लिया, किसी विषयके प्रगाढ़ विद्वान हो गये यह जिनशासनका देखना नहीं है। जिनशासन तो रत्नत्रयस्वरूप है और उसकी प्राप्ति व्यवहारको गौण किये बिना तथा निश्चयपर आरूढ़ हुए बिना हो नहीं सकती, अतः जिसे पूरे जिनशासनको अपने जीवनमें देखना है उसे हेय या बन्धमार्ग जानकर व्यवहारको गौण और मोक्षमार्गमें उपादेय जानकर निश्चयको मुख्य करना ही होगा तभी उसे निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जिनशासनके अपने जीवनमें दर्शन होंगे। यह इस गाथाका भाव है। इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा द्वारा भी गौण-मुख्यभावसे उसी अनेकान्तका उद्घोष किया गया है।

६. 'दंसण-णाण-चरित्ताणि' यह सोलहवीं गाथा है। इसमें सर्वप्रथम साधुको निरन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्रके सेवन करनेका उपदेश देकर व्यवहारका सूचन किया है। परन्तु विचार कर देखा जाय तो ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं हैं, इसलिए इस द्वारा भी तत्स्वरूप अखण्ड आत्मा सेवन करने योग्य है यह सूचित किया गया है। तात्पर्य यह है कि निश्चयका ज्ञान करानेके लिए व्यवहार द्वारा ऐसा

उपदेश दिया जाता है इसमें सन्देह नहीं पर उसमें मुख्यता निश्चयकी ही रहती है। इसके विपरीत यदि कोई उस व्यवहारकी ही मुख्यता मान ले तो उसे तत्त्वरूप अखण्ड और अविचल आत्माकी प्रतीति और प्राप्ति त्रिकालमें नहीं हो सकती। इस गाथाका यही भाव है। इस विषयको स्पष्टरूपसे समझनेके लिए गाथाके उत्तरार्धपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है, क्योंकि गाथाके पूर्वार्धमें जो कुछ कहा गया है उसका उत्तरार्धमें निषेध कर दिया है। सो क्यों? इसलिए नहीं कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि पर्यायदृष्टिसे भी अभूतार्थ हैं, बल्कि इसलिए कि व्यवहारनयसे देखने पर ही उनकी सत्ता है। निश्चयनयसे देखा जाय तो ज्ञायकस्वभाव आत्माको छोड़कर वे अन्य कुछ भी नहीं हैं। इसलिए इस कथन द्वारा भी एक अखण्ड और अविचल आत्मा ही उपासना करने योग्य है यही सूचित किया गया है। इस प्रकार विचार करके देखा जाय तो इस गाथा द्वारा भी व्यवहारको गौण करके और निश्चयको मुख्य करके अनेकान्त ही सूचित किया गया है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने व्यवहारसे क्या कहा जाता है और निश्चयसे क्या है इसकी सन्धि मिलाते हुए सर्वत्र अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की है। इतना अवश्य है कि बहुतसा व्यवहार तो ऐसा होता है जो अखण्ड वस्तुमें भेदमूलक होता है। जैसे आत्माका ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदिरूपसे भेद-व्यवहार या बन्धपर्यायकी दृष्टिसे आत्मामें नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि रूपसे पर्यायरूप भेदव्यवहार। ऐसे भेदद्वारा एक अखण्ड आत्माका जो भी कथन किया जाता है, पर्यायकी मुख्यतासे

आत्मा वैसा है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि आत्मा जब जिस पर्यायरूपसे परिणत होता है उस समय वह तद्रूप होता है, अन्यथा आत्माके संसारी और मुक्त ये भेद नहीं बन सकते, इसलिये जब भी आत्माके ज्ञायक स्वभावमें उक्त व्यवहारका 'नास्तित्व' कहा जाता है तब भेदमूलक व्यवहार गौण है और त्रिकाली ध्रुवस्वभावकी मुख्यता है यह दिखलाना ही उसका प्रयोजन रहता है। परन्तु बहुतसा व्यवहार ऐसा भी होता है जो आत्मामें निमित्तादिकी दृष्टिसे या प्रयोजन विशेषसे आरोपित किया जाता है। यह व्यवहार आत्मामें है नहीं, पर निमित्तादिकी दृष्टिसे उसमें स्थापित किया गया है यह उक्त कथनका भाव है। इस विषयको ठीक तरहसे समझनेके लिए स्थापना निक्षेपका उदाहरण पर्याप्त होगा। जैसे किसी पाषाणकी मूर्तिमें इन्द्रकी स्थापना करने पर यही तो कहा जायगा कि वास्तवमें वह पाषाण-की मूर्ति इन्द्रस्वरूप है नहीं, क्योंकि उसमें आज्ञा, ऐश्वर्य आदि आत्मगुणोंका अत्यन्ताभाव है। फिर भी प्रयोजनविशेषसे उसमें इन्द्रकी स्थापना की गई है उसी प्रकार निमित्तादिकी अपेक्षा आरोपित व्यवहार जानना चाहिए। निमित्तादिकी दृष्टिसे आरोपित व्यवहार, जैसे कुम्हारको घटका कर्ता कहना। प्रयोजन विशेषसे आरोपित व्यवहार, जैसे शरीरकी स्तुतिको तीर्थंकरकी स्तुति कहना या सेनाके निकलने पर राजा निकला ऐसा कहना आदि।

विचार कर देखा जाय तो रागादिरूप जीवके परिणाम और कर्मरूप पुद्गल परिणाम ये एक दूसरेके परिणमनमें निमित्त (उपचरित हेतु) होते हुए भी तत्त्वतः जीव और पुद्गल परस्परमें कर्तृ-कर्मभावसे रहित हैं। ऐसा तो है कि जब विवक्षित मिट्टी

अपने परिणामस्वभावके कारण घटरूपसे परिणत होती है तब कुम्हारकी योग-उपयोगरूप पर्याय स्वयमेव उसमें निमित्त होती है। ऐसी वस्तुमर्यादा है। परन्तु कुम्हारकी उक्त पर्याय घट पर्यायकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेमात्रसे उसकी कर्ता नहीं होती, और न घट उसका कर्म होता है,क्योंकि अन्य द्रव्यमें अन्य द्रव्यके कर्तृत्व और कर्मत्व धर्मका अत्यन्त अभाव है। फिर भी लोक-व्यवहारवश कुम्हारकी विवक्षित पर्यायने मिट्टीकी घट पर्यायको उत्पन्न किया इस प्रकार उस पर मिट्टीकी घट पर्यायके कर्तृत्वधर्मका और घटमें कुम्हारके कर्मत्वधर्मका आरोप (स्थापना) किया जाता है। यद्यपि शास्त्रकारोंने भी इसके अनुसार लौकिक दृष्टिसे वचन प्रयोग किये हैं परन्तु है यह व्यवहार असत् ही। यह तो निमित्तादिकी दृष्टिसे आरोपित व्यवहारकी चरचा हुई। इसका विशेष खुलासा हम कर्तृ-कर्ममीमांसा प्रकरणमें कर आये हैं और वहां इसके समर्थनमें प्रमाण भी दे आये हैं, इसलिए यहां पर इस विषयमें अधिक नहीं लिखा है।

अब प्रयोजनविशेषसे आरोपित व्यवहारके उदाहरणोंका विश्लेषण कीजिए—जितने भी संसारी जीव हैं उनके एक कालमें कमसे कम दो और अधिकसे अधिक चार शरीरोंका संयोग अवश्य होता है। यहां तक कि तीर्थंकर सयोगी-अयोगी जिन भी इसके अपवाद नहीं हैं। अब विचार कीजिए कि जीवके साथ एकक्षेत्रावगाहीरूपसे सम्बन्धको प्राप्त हुए उन शरीरोंमें जो अमुक प्रकारका रूप होता है, उनका यथासम्भव जो अमुक प्रकारका संस्थान और संहनन होता है इसका निमित्तकारण पुद्गलविपाकी कर्मोंका उदय ही है, जीवकी वर्तमान पर्याय नहीं तो भी शरीरसे प्राप्त हुए रूप आदिको देखकर उस द्वारा तीर्थंकर केवली जिनको

स्तुति की जाती है और कहा जाता है कि अमुक तीर्थंकर केवली लोहित वर्ण हैं, अमुक तीर्थंकर केवली शुक्ल वर्ण हैं और अमुक तीर्थंकर केवली पीतवर्ण हैं आदि। यह तो है कि जब शरीर पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है तो उसका कोई न कोई वर्ण अवश्य होगा। पुद्गलकी पर्याय होकर उसमें कोई न कोई वर्ण न हो यह नहीं हो सकता। परन्तु विचार कर देखा जाय तो तीर्थंकर केवलीकी पर्यायमें उसका अत्यन्त अभाव ही है, क्योंकि तीर्थंकर केवली जीवद्रव्यकी एक पर्याय है जो अनन्त ज्ञानादि गुणोंसे विभूषित है। उसमें पुद्गलद्रव्यके गुणोंका सद्भाव कैसे हो सकता है? अर्थात् त्रिकालमें नहीं हो सकता। फिर भी एक तीर्थंकर केवलीसे संयोगको प्राप्त हुए शरीरमें अन्य तीर्थंकर केवलीसे संयोगको प्राप्त हुए शरीरमें वर्णका भेद दिखलानेरूप प्रयोजन-से यह व्यवहार किया जाता है कि अमुक तीर्थंकर केवली लोहित वर्ण हैं और अमुक तीर्थंकर केवली पीतवर्ण हैं आदि। जैसा कि हम लिख आये हैं कि तीर्थंकर केवली जीव द्रव्यकी एक पर्याय है। उसमें वर्णका अत्यन्त अभाव है। फिर भी लोकानुरोधवश प्रयोजन विशेषसे तीर्थंकर केवलीमें उक्त प्रकारका व्यवहार किया जाता है जो तीर्थंकर केवलीमें सर्वथा असत् है, इसलिए प्रयोजन विशेषसे किया गया यह आरोपित असत् व्यवहार ही जानना चाहिये।

सेनाके निकलनेपर राजा निकला ऐसा कहना आरोपित असद् व्यवहारका दूसरा उदाहरण है। विचार कर देखा जाय तो सेना निकली यह व्यवहार स्वयं उपचरित है। उसमें भी सेनासे राजामें अत्यन्त भेद है। वह सेनाके साथ गया भी नहीं है। अपने महलमें आराम कर रहा है। फिर भी लोकानुरोधवश

प्रयोजनविशेषसे सेनाके निकलनेपर राजा निकला या राजाकी सवारी निकली यह व्यवहार किया जाता है जो सर्वथा असत् है, इसलिए प्रयोजन विशेषसे किये गये इस व्यवहारको भी आरोपित असद् व्यवहार ही जानना चाहिए।

इसी प्रकार लोकमें और भी बहुतसे व्यवहार प्रचलित हैं, क्योंकि वे किसी द्रव्यके न तो गुण ही हैं और न पर्याय ही हैं, इसलिए वे वन्ध्यासुतव्यवहार या आकाश-कुसुमव्यवहारके समान असत् ही हैं। इसलिए जो व्यवहार विवक्षित पदार्थोंमें पर्यायदृष्टिसे प्रतीतिमें आता है वह मोक्षमार्गमें अनुपादेय होनेसे आश्रय करने योग्य नहीं माना गया है अतएव उसे गौण करके अनेकान्तमूर्ति ज्ञायकस्वभाव आत्माकी स्थापना करना तो उचित है, किन्तु जो व्यवहार वस्तुभूत न होनेसे सर्वथा असत् है, मात्र लौकिकदृष्टिसे ज्ञानमें उसकी स्वीकृति है। उसका मोक्षमार्गमें सर्वथा निषेध ही करना चाहिये। अनेकान्तकी प्रतिष्ठा करते समय आत्मामें ऐसे व्यवहारको गौण करनेका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जो व्यवहार भूतार्थ होता है उसे ही नय विशेषके आश्रयसे गौण किया जाता है। किन्तु जिसकी लोकमें सत्ता ही नहीं है उसे गौण करनेका अर्थ ही उसकी सत्ताको स्वीकार करना है जो युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए जितना भी मिथ्या व्यवहार है उसे दूरसे ही त्याग कर और जितना पर्यायदृष्टिसे भूतार्थ व्यवहार है उसे गौण करके एकमात्र ज्ञायकस्वभाव आत्माकी उपासना ही मोक्षमार्गमें तरणोपाय है ऐसा निर्णय यहाँपर करना चाहिए।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि वर्णादि तो पुद्गलके धर्म हैं, इसलिए आत्मामें ज्ञायकस्वभावके अस्तित्वको दिखलाकर उसमें उनके नास्तित्वको दिखलाना तो उचित प्रतीत होता है। परन्तु आत्मामें

ज्ञायकभावके अस्तित्वका कथन करते समय उसमें प्रमत्तादि भावों के नास्तित्वका कथन करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ये दोनों भाव (ज्ञायक भाव और प्रमत्तादि भाव) एक द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं, इसलिए एक द्रव्यवृत्ति होनेसे ज्ञायकभावके अस्तित्वके कथनके समय इन भावोंका निषेध नहीं बन सकता, अतएव इस दृष्टिसे अनेकान्तका कथन करते समय 'कथंचित् आत्मा ज्ञायक भावरूप है और कथंचित् प्रमत्तादि भावरूप है' ऐसा कहना चाहिए। यह कहना तो बनता नहीं कि आत्मामें प्रमत्तादि भावोंकी सर्वत्र व्याप्ति नहीं देखी जाती, इसलिए आत्मामें उनका निषेध किया है, क्योंकि कहींपर (प्रमत्तगुणस्थान तक) प्रमत्तभावकी और आगे अप्रमत्तभावकी व्याप्ति बन जानेसे आत्मामें ज्ञायक-भावके साथ इनका सद्भाव मानना ही पड़ता है ?

यह एक प्रश्न है। समाधान यह है कि इस अनेकान्तस्वरूप प्रत्येक पदार्थका कथन शब्दोंसे दो प्रकारसे किया जाता है। एक क्रमिकरूपसे और दूसरा यौगपद्यरूपसे। कथन करनेका तीसरा कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न भिन्न अर्थरूप विवक्षित होते हैं उस समय एक शब्दमें अनेक धर्मोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। परन्तु जब उन्हीं अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिकी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है तब एक ही शब्दके द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्डभावसे युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। विकलादेश नयरूप है और सकलादेश प्रमाणरूप। इसलिए वस्तुके स्वरूपके स्पर्शके लिए सकलादेश और विकलादेश दोनों ही कार्यकारी हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए। एक ही वचनप्रयोग जिसे हम सकलादेश कहते हैं वह विकला-

देशरूप भी होता है। यह वक्ताके अभिप्राय पर निर्भर है कि वह विवक्षित वचनप्रयोग किस दृष्टिसे कर रहा है। यथावसर उसे समझनेकी चेष्टा तो की न जाय और उसपर एकान्त कथनका आरोप किया जाय यह उचित नहीं है। अतएव वक्ता कहाँ किस अभिप्रायसे वचनप्रयोग कर रहा है इसे समझकर ही पदार्थका निर्णय करना चाहिए।

'कथंचित् जीव है ही' यह वचनप्रयोग सकलादेश भी है और विकलादेशरूप भी। यदि इस वाक्यमें स्थित 'है' पद अन्य अशेष धर्मोंको अभेदवृत्तिसे स्वीकार करता है तो यही वचन सकलादेशरूप हो जाता है और इस वाक्यमें स्थित 'है' पद मुख्यरूपसे अपना ही प्रतिपादन करता है तथा शेष धर्मोंको 'कथंचित्'पद द्वारा गौणभावसे ग्रहण किया जाता है तो यही वचन विकलादेशरूप हो जाता है। कौन वचन सकलादेशरूप है और कौन वचन विकलादेशरूप यह वचनप्रयोगपर निर्भर न होकर वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। अतएव 'जीव ज्ञायकभावरूप ही है' ऐसा कहने पर यदि इस वचनमें अभेदवृत्तिकी मुख्यता है तो यही वचन सकलादेशरूप हो जाता है और इस वचनमें कथंचित् पद द्वारा गौणभावसे अन्य अशेष धर्मोंको स्वीकार किया जाता है तो यही वचन विकलादेशरूप भी हो जाता है ऐसा यहाँ पर समझना चाहिए।

यद्यपि यह बात तो है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें जहाँ ज्ञायक-स्वभाव आत्माकी स्वीकृति है वहाँ उसमें संसार अवस्था और मुक्ति अवस्थाकी भी स्वीकृति है। वह जीवकी संसार और मुक्त अवस्थाका अभाव नहीं मानता। संसारमें जो उसकी नर-नारकादि और मतिज्ञान-श्रुतज्ञानादि रूप विविध अवस्थाएँ होती हैं उनका

भी अभाव नहीं मानता। यदि वह वर्तमानमें उनका अभाव माने तो वह मुक्तिके लिए प्रयत्न करना ही छोड़ दे। सो तो वह करता नहीं, इसलिए वह इन सबको स्वीकार करके भी इन्हें आत्मकार्यकी सिद्धिमें अनुपादेय मानता है, इसलिए वह इनमें रहता हुआ भी इनका आश्रय न लेकर त्रिकाली नित्य एकमात्र ज्ञायकस्वभावका आश्रय स्वीकार करता है। निश्चयनय और व्यवहारनयके विषयको जानना अन्य बात है और जानकर निश्चयनयके विषयका अवलम्बन लेना अन्य बात है। मोक्ष-मार्गमें इस दृष्टिकोणसे हेयोपादेयका विवेक करके स्वात्मा और परात्माका निर्णय किया गया है। यदि लौकिक उदाहरण द्वारा इसे समझना चाहें तो यों कहा जा सकता है कि जैसे किसी गृहस्थका एक मकान है। उसमें उसके पढ़ने-लिखने और उठने-बैठनेका स्वतंत्र कमरा है। वह घरके अन्य भागको छोड़कर उसीमें निरन्तर उठता-बैठता और पढ़ता-लिखता है। वह कदाचित् मकानके अन्य भागमें भी जाता है। उसकी सार-सम्हाल भी करता है। परन्तु उसमें उसकी विवक्षित कमरेके समान आत्मीय बुद्धि न होनेसे वह मकानके शेष भागमें रहना नहीं चाहता। ठीक यही अवस्था सम्यग्दृष्टिकी होती है। जो उसे वर्तमानमें नर-नारक आदि वर्तमान पर्याय मिली हुई है। वह उसीमें रह रहा है। अभी उसका पर्यायरूपसे त्याग नहीं हुआ है। परन्तु उसने अपनी बुद्धि द्वारा द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत ज्ञायकस्वभाव आत्मा ही मेरा स्वात्मा है ऐसा निर्णय किया है, इसलिए वह व्यवहारनयके विषयभूत अन्य अशेष परभावोंको गौण कर मात्र उसीका आश्रय लेता है। कदाचित् रागरूप पर्यायकी तीव्रतावश वह अपने स्वात्माको छोड़कर परात्मामें भी जाता है तो भी वह उसमें क्षणमात्र भी टिकना नहीं

चाहता। उस अवस्थामें भी वह अपना तरणोपाय स्वात्माके अवलम्बनको ही मानता है। अतएव इस दृष्टिकोणसे विचार करने पर सम्यग्दृष्टिका विवक्षित आत्मा स्वात्मा अन्य परात्मा यही अनेकान्त फलित होता है। इसमें 'आत्मा कथंचित् ज्ञायक भावरूप है और कथंचित् प्रमत्तादि भावरूप है' इसकी स्वीकृति आ ही जाती है। परन्तु ज्ञायक भावमें प्रमत्तादिभावोंकी 'नास्ति' है, इसलिए इस अपेक्षासे यह अनेकान्त फलित होता है कि 'आत्मा ज्ञायक भावरूप है अन्य रूप नहीं।' आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्माको ज्ञायकभावरूप मानने पर अनेकान्तकी सिद्धि किस प्रकार होती है इसका निर्देश करते हुए लिखा है—

तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात् बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात् सहक्रम-प्रवृत्तानन्तचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्यव्याप्त-सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभवन-शक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावाभवनशक्तिस्वभाव-वत्वेनासत्त्वात् अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव।

आत्माके ज्ञानमात्र होने पर भी भीतर प्रकाशमान ज्ञानरूपसे तत्पना है और बाहर प्रकाशित होते हुए अनन्त ज्ञेयरूप आकारसे भिन्न पररूपसे अतत्पना है। सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चैतन्य अंशोंके समुदायरूप अविभागी द्रव्यकी अपेक्षा एकपना है और अविभागी एक द्रव्यमें व्याप्त हुए सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चैतन्य-अंशरूप पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक-पना है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होनेकी शक्तिरूप

स्वभाववाला होनेसे सत्पना है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप नहीं होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला होनेसे असत्पना है तथा अनादिनिधन अविभागी एक वृत्तिरूपसे परिणत होनेके कारण नित्यपना है और क्रमशः प्रवर्तमान एक समयवर्ती अनेक वृत्त्यंशरूपसे परिणत होनेके कारण अनित्यपना है, इसलिए ज्ञानमात्र आत्मवस्तुको स्वीकार करने पर तत्-अतत्पना, एक-अनेकपना, सदसत्पना और नित्यानित्यपना स्वयं प्रकाशित होता ही है।

अतएव अनेकान्तके विचारके प्रसंगसे मोक्षमार्गमें निश्चयनयके विषयको आश्रय करने योग्य मानने पर एकान्तका दोष कैसे नहीं आता इसका विचार किया। इसके विपरीत जो बन्धु अनेकान्तको एक वस्तुके स्वरूपमें घटित न करके 'भव्य भी हैं' और अभव्य भी हैं' इत्यादि रूपसे या 'कुछ पर्यायें अमुक कालमें अमुकरूप हैं और कुछ पर्यायें तद्भिन्न दूसरे कालमें दूसरे रूप हैं' इत्यादि रूपसे अनेकान्तको घटित करते हैं उन्हें अनेकान्तको शब्द श्रुतमें बाँधनेवाली स्याद्वादकी अंगभूत सप्तभंगीका यह लक्षण ध्यानमें ले लेना चाहिये:—

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।

प्रश्नके अनुसार एक वस्तुमें प्रमाणसे अविरुद्ध विधि और प्रतिषेधरूप धर्मोंकी कल्पना सप्तभंगी है।

सप्तभंगीमें प्रथम भंग विधिरूप होता है और दूसरा भंग निषेधरूप होता है। विधि अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा प्रतिषेध्य अर्थात् पर्यायार्थिक। आचार्य कुन्दकुन्दने द्रव्यार्थिकको प्रतिषेधक और

व्यवहारको प्रतिषेध्य इसी अभिप्रायसे लिखा है। जिस दृष्टिमें भेदव्यवहार है उसके आश्रयसे बन्ध है और जिसमें भेदव्यवहार का लोप है या अभेदवृत्ति है उसके आश्रयसे बन्धका अभाव है यह उनके उक्त कथनका तात्पर्य है। इस प्रकार अनेकान्त और उसे वचनव्यवहारका रूप देनेवाला स्याद्वाद क्या है उसकी संक्षेपमें मीमांसा की।

केवलज्ञानस्वभावमीमांसा

दर्पणमें ज्यों पड़त है सहज वस्तुका बिम्ब।
केवलज्ञान पर्याय त्यों निखिल ज्ञेय प्रतिबिम्ब ॥

अब जो अपरिमित माहात्म्यसे सम्पन्न है ऐसे केवलज्ञान स्वभावकी मीमांसा करते हैं। यह तो हम इन्द्रियोंसे ही जानते हैं कि जिनका सम्बन्ध स्पर्शन इन्द्रियसे होता है उनके स्पर्श और हलके-भारीपन आदिका ज्ञान उस इन्द्रियसे होता है। जिनका सम्बन्ध रसना इन्द्रियसे होता है उनके खट्टे-मीठे आदि रसका ज्ञान रसनेन्द्रियसे होता है, जिनका सम्बन्ध घ्राण इन्द्रियसे होता है उनकी सुगन्ध और दुर्गन्धका ज्ञान घ्राण इन्द्रियसे होता है, जो पदार्थ आँखोंके सामने आते हैं उनके वर्ण और आकार आदिका ज्ञान चक्षु इन्द्रिय द्वारा होता है और जिन शब्दोंका सम्बन्ध श्रोत्र इन्द्रियसे होता है उनका ज्ञान इस इन्द्रिय द्वारा होता है। साथ ही हम यह भी अनुभव करते हैं कि निकटवर्ती या दूरवर्ती, अतीतकालीन या भविष्यत्कालीन तथा वर्तमानकालीन

जो पदार्थ इत्थंभूत या अनित्थंभूत मनके विषय होते हैं उन्हें हम मनसे जानते हैं। इन्द्रियाँ केवल वर्तमानकालीन अपने विषयोंको जानती हैं जब कि मन वर्तमानकालीन विषयोंके साथ अतीत और भविष्यत्कालीन विषयोंको भी जानता है, इसलिए वह अनुमान द्वारा आकाश आदि पदार्थोंकी अनन्तताका भी बोध करनेमें समर्थ होता है। यह कौन नहीं जानता कि आजके वैज्ञानिकोंका ज्ञान इतर लोगोंके समान परोक्ष ही है। फिर भी उन्होंने अपने ज्ञानमें इतना अतिशय उत्पन्न कर लिया है जिस द्वारा उन्होंने अनुमान लगाकर अनेक सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थोंके अस्तित्वकी सूचना दी है। आकाशके अस्तित्वको और उसकी अनन्तताको भी उन्होंने स्वीकार किया है। यह क्या है? ज्ञानके अपरिमित माहात्म्यके सिवा इसे और क्या संज्ञा दी जा सकती है? जब इन्द्रिय और मनसम्बन्धी ज्ञानकी यह सामर्थ्य है तब जो अतीन्द्रिय ज्ञान अपने स्वाभाविकरूपमें होगा उसकी क्या सामर्थ्य होगी, विचार कीजिये।

यह तो सब कोई जानते हैं कि ज्ञान जड़का धर्म तो है नहीं, क्योंकि वह किसी भी जड़ पदार्थमें दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जड़के रासायनिक संयोगोंका भी फल नहीं है, क्योंकि जहाँ चेतनाका अधिष्ठान होता है वहीं उसकी उपलब्धि होती है। विश्वमें अब तक अन्य अनेक प्रकारके प्रयोग हुए। उन प्रयोगों द्वारा अनेक प्रकारके चमत्कार भी सामने आये। हाइड्रोजन बम बना, परमाणुके विस्फोटकी भी बात कही गई और अन्तरीक्षमें ऐसे बाण छोड़े गये जो पृथिवीकी परिधिके बाहर गमन करनेमें समर्थ हुए आदि। किन्तु आज तक कोई भी वैज्ञानिक यह दावा न कर सका कि मैंने चेतनाका निर्माण कर लिया है या

चेतनाको पकड़ लिया है। यद्यपि वर्तमान कालमें भौतिकवादियोंके लिए चेतना रहस्यका विषय बना हुआ है। वर्तमान कालमें ही क्या अतीत कालमें भी वह इनके लिए रहस्यका विषय रहा है और हम तो अपने अन्तःसाक्षीस्वरूप अनुभवके आधार पर यह भी कह सकते हैं कि भविष्य कालमें भी वह इनके लिए रहस्यका विषय बना रहेगा, क्योंकि भौतिक पदार्थोंके आलम्बनसे उसे पकड़नेकी जितनी भी चेष्टाएँ की जायेंगी वे सब विफल होंगी। इसमें संदेह नहीं कि अतीत कालमें ऐसे अगणित मनुष्य हो गये हैं जिन्होंने उसका साक्षात्कार किया और लोकके सामने ऐसा मार्ग रखा जिस पर चलकर उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। किन्तु शुद्ध भौतिकवादी इस पर भरोसा नहीं करते और नाना युक्तियों प्रयुक्तियों द्वारा उसके अस्तित्वके खण्डनमें लगे रहते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जिस बुद्धिके द्वारा वे इसके लोप करनेका प्रयत्न करते हैं उसका आधारभूत पदार्थ ही तो आत्मा है जो शरीरसे पृथक् है। मुर्दा शरीरसे सचेतन शरीरमें जो अन्तर प्रतीत होता है वह एक मात्र इसीके कारण प्रतीत होता है। यह अन्तर केवल शरीरमेंसे प्राणवायुके निकल जानेके कारण नहीं होता। किन्तु उसके भीतर जो स्थायी तत्त्व निवास करता है उसके निकल जानेके कारण होता है। इससे ज्ञानमय स्वतंत्र द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। इस प्रकार ज्ञानका आश्रयभूत जो स्वतंत्र द्रव्य है वह आत्मा है और वह शरीर आदि भौतिक पदार्थोंसे जुदा है यह ज्ञात हो जाता है।

यद्यपि आत्माकी यह स्थिति है तो भी वह अनादिकालसे अपने अज्ञानवश पुद्गल द्रव्यके साथ संयुक्त होनेके कारण अपने स्वरूपको भूल कर हीन अवस्थाको प्राप्त हो रहा है। किन्तु जब वह अपने प्रयत्न द्वारा अपनी इस अवस्थाका अन्त कर

स्वाभाविक दशाको प्राप्त होता है तब उसके पर्यायरूपसे ज्ञानमें जो न्यूनता आ जाती है वह भी निकल जाती है और वह अलोकसहित लोकमें स्थित त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको युगपत् जानने लगता है। ज्ञानकी इस सामर्थ्यका निरूपण करते हुए वर्गणाखण्ड प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहा है—

सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति ॥८२॥

उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवलदर्शनसे युक्त भगवान् स्वयं देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगति, गति, चयन, उपपाद बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारके युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं ॥८२॥

इसी विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

केवली भगवान् केवलज्ञानरूपसे परिणत होते हैं, इसलिए उनके सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें प्रत्यक्ष हैं। अर्थात् अलोक सहित लोकमें स्थित त्रिकालवर्ती ऐसा कोई भी द्रव्य और उसकी पर्यायें नहीं हैं जिन्हें वे प्रत्यक्ष नहीं जानते। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे उन्हें अवग्रह आदि पूर्वक होनेवाली क्रियाओंका आलम्बन लेकर जानते हैं ॥२१॥

आचार्य गृद्धपिच्छ इस विषयको स्पष्ट करते हुए तत्वार्थ सूत्रमें कहते हैं—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥१–२९॥

केवलज्ञान सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंको जानता है।

इसकी व्याख्या करते हुए पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धिमें कहते हैं।

जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि, पुद्गलद्रव्याणि च ततोऽप्यनन्तानि अणुस्कन्धभेदभिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासंख्येयस्तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभुवः प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु। द्रव्यं पर्यायजातं वा न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमितमाहात्म्यं हि तत्।

जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, उनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं, धर्म, अधर्म और आकाश ये मिलकर तीन हैं और काल असंख्यात हैं। इन सब द्रव्योंकी पृथक् पृथक् तीनों कालोंमें होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं। इन सबमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्यायसमूह है जो केवलज्ञानके विषयके बाहर हो। वह नियमसे अपरिमित माहात्म्यवाला है।

केवलज्ञान ऐसी सामर्थ्यवाला है यह केवल अध्यात्म जगत्में ही स्वीकार किया गया हो ऐसी बात नहीं है, दार्शनिक जगत्में भी इस तथ्यको स्वीकार किया गया है। स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामें कहते हैं—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, राम-रावण आदि अन्तरित पदार्थ और स्वर्गलोक तथा नरकलोक आदि दूरवर्ती पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमानसे जाने जाते हैं। जैसे अग्नि। तात्पर्य यह है कि जो जो अनुमानके विषय होते हैं वे वे किसीके प्रत्यक्ष ज्ञानके भी विषय होते हैं। जैसे किसी प्रदेश विशेषमें अग्निका अनुमानकर हम उसे प्रत्यक्षसे उपलब्ध कर लेते हैं उसी प्रकार ये सूक्ष्म आदि पदार्थ भी अनुमानके विषय होनेसे किसीके प्रत्यक्षके विषय हैं यह निश्चित होता है जो सर्वज्ञकी सिद्धि करता है ॥५॥

अलोक सहित त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ केवलज्ञानमें ऐसे ही प्रतिभासित होते हैं जैसे दर्पणके सामने आया हुआ कोई पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होता है। यद्यपि दर्पण अपने स्थानमें रहता है और प्रतिबिम्बित होनेवाला पदार्थ अपने स्थानमें रहता है। न तो दर्पण पदार्थमें जाता है और न पदार्थ दर्पणमें आता है। फिर भी सहज ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि पदार्थके दर्पणके सामने आने पर स्वभावसे दर्पणमें वह स्वयं प्रतिबिम्बित होने लगता है। उसी प्रकार केवल-ज्ञानका स्वभाव सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जाननेका है। दर्पणके समान यहां पर भी न तो सब पदार्थ केवलज्ञानमें आते हैं और न केवलज्ञान सब पदार्थोंमें जाता है। फिर भी पदार्थों और केवलज्ञानका ऐसा ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध है कि इस आत्मामें केवलज्ञानके पर्यायरूपसे प्रकट होने पर वह सब पदार्थों और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंको स्वभावसे जानने लगता है।

यहां प्रश्न होता है कि केवलज्ञान सब पदार्थोंको स्पर्श किये

विना उन्हें कैसे जानता है। समाधान यह है कि केवलज्ञान जानता तो अपनेको ही है परन्तु उसकी प्रत्येक समयकी जो पर्याय होती है वह प्रतिविम्व युक्त दर्पणके समान सव पदार्थोंके आकार (प्रतिभासको) लिए हुए ही होती है, इसलिए प्रत्येक समयमें उस पर्यायका ज्ञान होनेसे व्यवहारसे यह कहा जाता है कि केवलज्ञान प्रत्येक समयमें सव द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती सव पर्यायोंको युगपत् जानता है। ज्ञानमें स्वाभाविक ऐसी अपूर्व सामर्थ्य है इसका भान तो हम छद्मस्थोंको भी होता है। उदाहरणार्थ चक्षुइन्द्रियको लीजिए। वह योग्य सन्निकर्षमें स्थित विविध प्रकारके पदार्थोंको उनके आकार, रूप और कौन किस स्थानमें स्थित है इन सव विशेषताओंके साथ देखती है तो क्या चक्षु इन्द्रिय उन पदार्थोंके पास जाती है या वे पदार्थ अपने अपने स्थानको छोड़कर चक्षुइन्द्रियके पास आते हैं? उत्तर स्वरूप यही कहोगे कि न तो चक्षुइन्द्रिय उन पदार्थोंके पास जाती है और न वे पदार्थ चक्षुइन्द्रियके पास ही आते हैं। फिर भी वह उन पदार्थोंको जानती है। इससे सिद्ध है कि ज्ञानमात्रका यह स्वभाव है कि वह अपने स्थानमें रहते हुए भी अपनेमें प्रतिभासित होनेवाले सव पदार्थोंको जाने। जव सामान्य ज्ञानकी यह सामर्थ्य है तव जो केवलज्ञान अशेप प्रतिवन्धक कारणोंका अभाव होकर प्रगट हुआ है उसमें ऐसी सामर्थ्य हो इसमें आश्चर्यकी वात ही कौन सी है।

इस पर वहुतसे मनीषी यह शंका करते हैं कि आकाश अनन्त है और अतीत तथा अनागत काल भी अनन्त है। ऐसी अवस्थामें केवलज्ञानके द्वारा यदि उनकी अनन्तताका ज्ञान हो जाता है तो उन सवको अनन्त मानना ठीक नहीं है? यदि इस प्रश्नको और अधिक फैलाया जाय तो यह भी कहा जा

सकता है कि यदि केवलज्ञान सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको युगपत् जानता है तो न तो जीव पदार्थ अनन्तानन्त माने जा सकते हैं और न पुद्गल परमाणु ही अनन्तानन्त माने जा सकते हैं। आकाश तथा भूत और भविष्यत्काल अनन्त हैं यह भी नहीं कहा जा सकता है। इतना ही क्यों बहुतसे मनीषी ऐसा भी प्रश्न करते हुए देखे जाते हैं कि जब छह माह आठ समयमें छ सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं तब एक समय ऐसा भी आ सकता है जब मोक्षका मार्ग ही बन्द हो जायगा। संसारमें केवल अभव्य जीव ही रह जावेंगे ? यों तो जो अपने छद्मस्थ ज्ञानकी सामर्थ्यके साथ केवलज्ञानकी सामर्थ्यकी तुलना कर निष्कर्ष निकालनेमें पटु हैं ऐसे मनीषियोंके द्वारा इस प्रकारके प्रश्न पहिले भी उठा करते थे। किन्तु जबसे सब द्रव्योंकी क्रमबद्ध (क्रमनियमित) पर्यायें होती हैं यह तथ्य प्रमुखरूपसे सबके सामने आया है तबसे ऐसे प्रश्न एक दो विद्वानोंकी ओरसे भी उपस्थित किए जाने लगे हैं। उनके मनमें यह शल्य है कि केवलज्ञानको सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंका ज्ञाता मान लेनेपर सब द्रव्योंकी पर्यायें क्रमबद्ध सिद्ध हो जायँगी। किन्तु वे ऐसा नहीं होने देना चाहते, इसलिए वे केवलज्ञानकी सामर्थ्यके ऊपर ही उक्त प्रकारकी शंकाएँ करने लगे हैं। किन्तु वे ऐसे प्रश्न करते हुए यह भूल जाते हैं कि जैनधर्ममें तत्त्वप्ररूपणाका मुख्य आधार ही केवलज्ञान है। जिस केवलज्ञानके द्वारा जानकर भगवान्ने यह प्ररूपणा की कि जीव अनन्तानन्त हैं, पुद्गल उनसे भी अनन्तगुणे हैं, धर्म और अधर्म द्रव्य एक एक होकर भी प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात हैं, कालाणु भी असंख्यात हैं और आकाश द्रव्य एक होकर भी प्रदेशोंकी अपेक्षा अनन्त है। तथा इन सब द्रव्योंके गुण और तीनों कालोंमें

होनेवाली पर्यायें अनन्तानन्त हैं। आज वही केवलज्ञान शंकाका विषय बनाया जा रहा है और यह शंका केवलज्ञानको नहीं माननेवालोंकी ओरसे उठाई जाती हो ऐसा नहीं है। किन्तु जो केवलज्ञानके सद्भावको मानते हैं उनकी ओरसे उठाई जाने लगी है यही आश्चर्यकी बात है। यद्यपि हम यह मानते हैं कि केवलज्ञानको सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जाननेवाला मानकर भी क्रमबद्ध पर्यायोंकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आलम्बनसे न करके कार्यकारण परम्पराको ध्यानमें रखकर की जानी चाहिए। परन्तु केवल पर्यायोंकी क्रमबद्धता (क्रमनियमितता) न सिद्ध हो जावे, इसी डरसे केवलज्ञानकी सामर्थ्यपर ही शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि केवलज्ञान एक दर्पणके समान है। जिस प्रकार दर्पणके सामने जितने पदार्थ स्थित होते हैं वे सब अखण्डभावसे उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। वे वर्तमानमें जैसे हैं वैसे तो प्रतिबिम्बित होते ही हैं। साथ ही वे अपनी अतीत और अनागत शक्तिको अपने गर्भमें समाये रहनेके कारण उस सहित प्रतिबिम्बित होते हैं। दर्पणका ऐसा स्वभाव ही है कि वह अपने सामने आये हुए पदार्थोंके आकारको ग्रहणकर[1] तद्रूप परिणम जाय। ठीक यही अवस्था केवलज्ञानकी है। अलोक सहित लोकमें स्थित जितने

---

१. यहाँ 'पदार्थोंके आकारको ग्रहणकर' ऐसा शब्द प्रयोग किया है सो इसका यह अर्थ नहीं करना चाहिये कि पदार्थोंका आकार उनसे विलग होकर दर्पणमें आ जाता है और वे पदार्थ अपने आकारको खो बैठते हैं। वस्तुतः पदार्थोंका आकार उन्हींमें रहता है, उनसे अलग नहीं होता और दर्पणका आकार दर्पणमें रहता है, पदार्थोंके आकारको ग्रहण नहीं करता। फिर भी दर्पणके समक्ष अन्य पदार्थोंके आनेपर स्वभावतः उसका भीतरी

पदार्थ हैं वे अपनी अपनी वर्तमान पर्यायके साथ उसमें प्रतिभासित तो होते ही हैं। साथ ही वे अतीत और अनागत शक्ति समुच्चयको अपने गर्भमें समाये रहनेके कारण उस सहित प्रतिभासित होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने ज्ञानको ज्ञेयगत और ज्ञेयको ज्ञानगत कहकर जो उसकी व्यापकता सिद्ध की है सो उसका कारण भी यही है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवलज्ञान अनन्त ज्ञेयोंमें जाता है और अनन्त ज्ञेय केवलज्ञानमें आते हैं। किन्तु इसका यही तात्पर्य है कि केवलज्ञानकी प्रत्येक समयकी जो पर्याय होती है वह अखण्ड ज्ञेयरूप प्रतिभासको लिए हुए होती है और ज्ञानका स्वभाव जानना होनेके कारण केवलज्ञान अपनी उस पर्यायको समग्रभावसे जानता है, इसलिए केवलज्ञान अपने इस ज्ञान द्वारा त्रिकालवर्ती और अलोकसहित त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंका ज्ञाता होनेसे सर्वज्ञ संज्ञाको धारण करता है। ज्ञानमें और दर्पणमें यही अन्तर है कि दर्पणमें अन्य पदार्थ प्रतिबिम्बित तो होते हैं परन्तु वह उनको जानता नहीं। किन्तु केवलज्ञानमें अन्य अनन्त पदार्थ अपने अपने त्रिकालवर्ती शक्तिरूप और व्यक्तरूप आकारोंके साथ प्रतिभासित भी होते हैं और वह उनको जानता भी है, इसलिए केवलज्ञानने आकाशकी अनन्तताको जान लिया या तीनों कालोंको जान लिया, अतः उनको अनन्त मानना ठीक नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जो पदार्थ जिस रूपमें अवस्थित हैं उसी रूपमें वे अपने

परिणमन जैसा अन्य पदार्थोंका आकार होता है वैसा हो जाता है, इसलिए उसे ध्यानमें रखकर ऐसा भाषाव्यवहार किया जाता है। यद्यपि वह व्यवहार अयथार्थ है फिर भी उससे मुख्यार्थका बोध हो जाता है, इसलिए ग्राह्य माना गया है।

आकारको केवलज्ञानमें समर्पित करते हैं और केवलज्ञान भी उन्हें उसी रूपमें जानता है।

यहाँपर हमने दर्पणका उदाहरण देकर केवलज्ञानके विषयको स्पष्ट किया है। इस विषयमें आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्ड-श्रावकाचारका यह मङ्गल श्लोक द्रष्टव्य है—

> नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
> सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

जिन्होंने अपनी आत्मामेंसे कलिलको पूरी तरहसे नष्ट कर दिया है और जिनका ज्ञान अलोक सहित तीनों लोकोंके लिए दर्पणके समान है उन श्री वर्धमान तीर्थंकरको नमस्कार हो ॥१॥

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें मङ्गलाचरणके प्रसंगसे इसी तथ्यको प्रकट करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य भी कहते हैं—

> तज्जयति परमज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
> दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

जिसमें दर्पणतलके समान समस्त अनन्त पर्यायोंके साथ पदार्थ समूह युगपत् प्रतिभासित होता है वह केवलज्ञानरूपी परम ज्योति जयवन्त होओ ॥१॥

इन दोनों समर्थ आचार्योंने केवलज्ञानके लिए दर्पणकी उपमा क्यों दी है इसका विशेष व्याख्यान हम पहले कर ही आये हैं। उसका तात्पर्य इतना ही है कि जैसे प्रत्येक पदार्थका आकार पदार्थमें रहते हुए भी दर्पणकी पर्याय स्वयं ऐसे परिणमनको प्राप्त हो जाती है जैसा कि विवक्षित पदार्थका आकार होता है। वैसे ही प्रत्येक समयके उपयोगात्मक केवलज्ञानका यह स्वभाव है कि वह प्रत्येक समयमें होनेवाली अपनी पर्यायके माध्यमसे

सब पदार्थों और उनकी वर्तमान, अतीत और अनागत पर्यायोंको जानता रहे। सब आचार्योंने 'उपयोगात्मक ज्ञान ज्ञेयाकार होता है' यह जो कहा है वह इसी अभिप्रायसे कहा है और यहाँपर जो पूर्वोक्त दोनों आचार्योंने केवलज्ञानको दर्पणकी उपमा दी है वह भी इसी अभिप्रायसे दी है।

केवलज्ञान है और वह सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको युगपत प्रतिसमय जानता है इसमें सन्देह नहीं। यदि ऐसा न माना जाय तो वह स्वयं को भी पूरी तरहसे नहीं जान सकता, क्योंकि एक समयमें केवलज्ञानकी जो पर्याय होती है वह ही स्वयं अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको लिए हुए ही होती है। यतः वह प्रत्येक समयमें अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदरूप अपनी प्रत्येक समयकी पर्यायको पूरी तरहसे जानता है, अतः अनन्तानन्तका ज्ञान उसके बाहर नहीं है यह सिद्ध होता है[1] और जब अनन्तानन्तका ज्ञान उसके बाहर नहीं है तब वह लोकमें द्रव्यकी अपेक्षा जो अनन्तनान्त हैं उनको भी जानता है, प्रदेशोंकी अपेक्षा जो अनन्तानन्त हैं उनको भी जानता है, सब द्रव्योंकी जो अनन्तानन्त पर्यायें हैं उनको भी जानता है और सब द्रव्योंके जो अनन्तानन्त गुण हैं उनको भी जानता है इसमें सन्देहके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। इसी भावको ध्यानमें रखकर आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें कहा है—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥

---

१. यहाँ केवलज्ञानकी जो अतीत अनागत पर्यायें हैं और वर्तमानमें ज्ञानगुणके सिवा अन्य गुणोंकी जो पर्यायें हैं उनकी विवक्षा न कर यह कथन किया है।

जो तीन लोकके त्रिकालवर्ती सब पदार्थोंको युगपत् नहीं जानता वह पर्याय सहित एक द्रव्यको भी नहीं जान सकता ।।४८।।

इस तथ्यको दूसरे शब्दोंमें प्रकट करते हुए वे आगे कहते हैं :—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ।।४९।।

यदि वह अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको तथा अनन्त द्रव्य-समूहको एक साथ नहीं जानता है तो सबको कैसे जान सकेगा ।।४९।।

केवलज्ञानके अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं और वे उल्लिखित द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंसे अनन्तगुणे हैं इस बातका निर्देश त्रिलोकसारके द्विरूपवर्गधारा प्रकरणमें किया है । वहाँ लिखा है—

तिविह जहण्णाणंतं वग्गसलादलछिदी सगादिपदं ।
जीवो पोग्गल काला सेढी आगास तप्पदरं ।।६९।।

धम्माधम्मागुरुलघु इगजीवस्सागुरुलघुस्स होंति तदो ।
सुहुमाणि अपुण्णणाणे अवरे अविभागपडिच्छेदा ।।७०।।

अवरा खाइयलद्धी वग्गसलागा तदो सगद्धछिदी ।
अइसगछप्पणतुरियं तदियं विदियादि मूलं च ।।७१।।

सइमादिमूलवग्गे केवलमंतं पमाणजेट्ठमिणं ।
वरखइयलद्धिणामं सगवग्गसला हवे ठाणं ।।७२।।

भाव यह है कि तीन प्रकारकी जघन्य अनन्तराशि, वर्ग-शलाका आदि उत्पन्न होनेके बाद क्रमसे अनन्त अनन्त स्थान जाने पर जीवराशि, पुद्गलराशि, कालके समय, श्रेणिरूप आकाश,

प्रतराकाश, धर्म और अधर्मद्रव्यके अगुरुलघु अविभागप्रतिच्छेद, एक जीवके अगुरुलघु अविभागप्रतिच्छेद, सूक्ष्म निगोदिया जीवके जघन्य ज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद, जघन्य क्षायिकलब्धिके अविभाग प्रतिच्छेद और अन्तमें केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद उत्पन्न होते हैं। यह अनन्तानन्तका उत्कृष्ट प्रमाण है।

इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो केवलज्ञानके विषयके बाहर है। उसका माहात्म्य अपरिमित है। लोक-अलोकके जितने पदार्थ और उनकी पर्यायें हैं उससे भी अनन्तगुणे पदार्थ और उनकी पर्यायें यदि हों तो उन्हें भी उसमें जाननेकी सामर्थ्य है। इससे अनन्तानन्त जीव, उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल, कालके समय, आकाशके प्रदेश और इन सबकी पर्यायें सान्त हो जाते हैं ऐसा नहीं है। अनन्त शब्दका अर्थ है—जिसका गणनाकी अपेक्षा और कालकी अपेक्षा कभी अन्त न हो। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर तत्त्वार्थवार्तिक (अ० ५, सू० ९) में कहा भी है—

न हि ज्ञातं इत्यस्य अर्थः सान्तम्, अनन्तस्य अनन्तेन ज्ञातत्वात्।

अनन्तको जान लिया इसका अर्थ सान्त नहीं है, क्योंकि अनन्तका अनन्तरूपसे ज्ञान होता है।

अनादिकालसे संसारका प्रवाह चालू है। पर अभी तक एक निगोद शरीरमें जितनी जीवराशि है उसके अनन्तवें भागप्रमाण जीव मोक्षको नहीं गये हैं। आगे अनन्त कालके बाद भी यदि मोक्ष जानेवाले जीवोंकी गणना की जायगी तब भी ऐसे जीवोंका यही परिमाण रहेगा। इसका उल्लंघन नहीं होगा। यह हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि हम लोगोंके मानसिक ज्ञानमें यह बात आसानीसे नहीं बैठ सकती पर वस्तुस्थिति यही है इसमें

सन्देह नहीं। एक निगोद शरीरमें इतने जीव हैं इसका निर्देश करते हुए मूलाचार पर्याप्ति अधिकारमें कहा भी है—

एयणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण विदीदकालेण ॥१६३॥

निगोदिया जीवोंके एक शरीरमें संख्यासे देखे गये जीव सिद्धोंसे और समस्त अतीत कालसे अनन्तगुणे हैं ॥१६३॥

माना कि केवलज्ञान जाननेवाला है और सकल पदार्थ उसके ज्ञेय हैं, इसलिये केवलज्ञानसे जैसा जानते हैं, मात्र इसी कारण पदार्थोंका वैसा परिणमन नहीं होता, क्योंकि उनका परिणमन अपनी कार्यकारणपरम्पराके अनुसार होता है। केवलज्ञान आकर उन्हें परिणमाता हो और तब वे परिणमन करते हों यह नहीं है। वह उनके परिणमनमें निमित्त भी नहीं है। परन्तु जो पदार्थ जिस रूपमें अवस्थित हैं और जिन कारणोंसे उनका जब जैसा परिणमन होता है यह उसी प्रकार उन्हें जानता है। इसलिए फलितार्थ रूपमें भैया भगवतीदासजी ने जो यह वचन कहा है—

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुं न होसी काहे होत अधीरा रे॥

सो ठीक ही कहा है। सम्यग्दृष्टिकी ऐसी ही श्रद्धा होती है। तभी उसके जीवनमें वस्तुस्वभावकी प्रतीतिके साथ केवलज्ञानस्वभावकी प्रतीति दृढ़मूल होकर वह उसके उत्थानमें सहायक बनती है। हमें पर्यायरूपमें ऐसे केवलज्ञानस्वभावकी शीघ्र ही प्राप्ति होओ यही भावना है।

—::::::—

उपादान-निमित्तसंवाद—

[भैया भगवतीदास जी]

मंगलाचरण पूर्वक उपादन-निमित्तसंवाद कथनकी प्रतिज्ञा—

पाद प्रणमि जिनदेवके एक उक्ति उपजाय।
उपादान अरु निमित्तको कहूँ संवाद बनाय ॥१॥

जिनेन्द्रदेवके चरणोंको प्रणाम कर तथा एक उक्तिको उपजा कर उपादान और निमित्तका संवाद बनाकर कहता हूँ ॥ १ ॥

प्रश्न

पूछत है कोऊ तहां उपादान किह नाम।
कहो निमित्त कहिये कहा कबके है इह ठाम ॥२॥

संवादके प्रारम्भमें कोई पूछता है कि उपादान किसका नाम है और बतलाओ निमित्त किसे कहते हैं। ये दोनों इस लोकमें कबके हैं ॥२॥

समाधान

उपादान निज शक्ति है जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग तें बन्या अनादि बनाव ॥३॥

उपादान अपनी शक्तिका नाम है, वह जीवका मूल स्वभाव है तथा पर संयोगका नाम निमित्त है। इन दोनोंका यह बनाव अनादिकालसे बन रहा है ॥३॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

निमित्त कहै मोकों सबै जानत है जगलोय।
तेरो नाव न जान ही उपादान को होय ॥४॥

निमित्त कहता है कि जगके सब लोग मुझे जानते हैं परन्तु उपादान कौन है इस प्रकार तेरा नाम भी नहीं जानते ॥४॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै रे निमित्त तू कहा करै गुमान।
मोकों जानैं जीव वे जो हैं सम्यक्वान ॥५॥

उपादान कहता है हे निमित्त! तूं क्या गुमान करता है, जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं वे मुझे जानते हैं ॥५॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहैं जीव सब जगत के जो निमित्त सोई होय।
उपादानकी बात को पूछे नाहीं कोय ॥६॥

जगतके सब जीव कहते हैं कि जो (जैसा) निमित्त होता है वही (वैसा ही) कार्य होता है। उपादानकी बातको कोई नहीं पूछता ॥६॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काज।
कहा भयौ जग ना लखै जानत हैं जिनराज ॥७॥

उपादानके बिना हे निमित्त! तूं एक भी कार्य नहीं कर सकता। इसे जगत नहीं देखता तो क्या हुआ, यह सब जिनराज जानते हैं ॥७॥

[यहाँ पर निमित्तमें कर्तृत्वका आरोपकर कविवरने उपादानके

द्वारा यह कहलाया है कि उपादानके विना हे निमित्त! तूँ एक भी कार्य नहीं कर सकता।]

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

देव जिनेश्वर गुरु यती अरु जिन आगम सार।
इह निमित्त तें जीव सब पावत हैं भवपार ॥८॥

जिनेश्वर देव, दिगम्बर गुरु और उत्कृष्ट जिनागम इन निमित्तों से सब जीव इस लोकमें संसारसे पार होते हैं ॥ ८ ॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

यह निमित्त इस जीव के मिल्यो अनन्तीवार।
उपादान पलट्यो नहीं तो भटक्यो संसार ॥९॥

ये निमित्त इस जीवको अनन्तवार मिले हैं किन्तु उपादान नहीं पलटा अतः संसारमें भटकता रहा ॥ ९ ॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कै केवलि कै साधुके निकट भव्य जो होय।
सो क्षायिक सम्यक् लहै यह निमित्त बल जोय ॥१०॥

या तो केवली भगवानके निकट या साधु (श्रुतकेवली) के निकट जो भव्य जीव होता है वह क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, इसे निमित्तका बल जानना चाहिए ॥ १० ॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

केवलि अरु मुनिराज के पास रहैं बहु लोय।
पै जाकौ सुलट्यो धनी क्षायिक ताकौ होय ॥११॥

केवली भगवान् और मुनिराजके पास बहुतसे लोग रहते हैं,

परन्तु जिसका आत्मा सुलट जाता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है ॥ ११ ॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

हिंसादिक पापनि किये जीव नर्कमें जाहिं।
जो निमित्त नहिं काम को तो इम काहे कहाहिं ॥१२॥

जो निमित्त कार्यकारी नहीं है तो यह क्यों कहा जाता है कि हिंसादिक पाप करनेसे जीव नरकमें जाते हैं ॥ १२ ॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

हिंसामें उपयोग जहां रहे ब्रह्मके राच।
तेई नर्कमें जात हैं मुनि नहिं जाहिं कदाच ॥१३॥

जहाँ आत्माका उपयोग हिंसामें रममाण होता है वही नरकमें जाता है, मुनि (भावमुनि) कदापि नरकमें नहीं जाते ॥ १३ ॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

दया दान पूजा किये जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूठौ कहो यह क्यों माने लोय ॥१४॥

दया, दान और पूजा करनेसे जीव जगमें सुखी होता है। यदि निमित्तको झूठा कहते हो तो लोग इसे क्यों मानते हैं ॥१४॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

दया दान पूजा भली जगत माहिं सुखकार।
जहं अनुभवको आचरण तहं यह बन्ध विचार ॥१५॥

दया, दान और पूजा भली है तथा जगतमें सुखकी करनेवाली है। किन्तु जहाँ पर अनुभवका आचरण है वहाँ यह बन्धरूप है ऐसा जानना चाहिए ॥ १५ ॥

तुम्हारा सम्बन्ध अनादि कालसे हो रहा है इसलिये अपन दोनोंमेंसे वलवान् किसे कहना। दोनों समान हैं ऐसा तो मान लो ॥२२॥

[निमित्तके कहनेका तात्पर्य यह है कि जब हमारा और तुम्हारा अनादिकालसे सम्बन्ध हो रहा है तो केवल स्वयंको वलवान् नहीं कह सकते। कार्य उत्पत्तिमें दोनोंका स्थान बराबर है।].

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै वह बली जाकौ नाश न होय।
जो उपजत विनसत रहे बली कहाते सोय ॥२३॥

उपादान कहता है कि जिसका नाश नहीं होता वह वलवान् है। जो उत्पन्न होता है और विनाशको प्राप्त हो जाता है वह वलवान् कैसे हो सकता है ॥२३॥

निमित्तकी ओरसे उत्तर

उपादान ! तुम जोर हो तो क्यों लेत अहार।
पर निमित्तके योग सों जीवत सब संसार ॥२४॥

हे उपादान ! यदि तुम बलवान् हो तो आहार क्यों लेते हो ? सब संसारी जीव पर निमित्तके योगसे जीते हैं ॥२४॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

जो अहार के जोग सों जीवत है जग माहिं।
तो वासी संसार के मरते कोऊ नाहिं ॥२५॥

यदि आहारके योगसे जगतमें सब जीव जीते हैं तो संसार-वासी कोई भी जीव नहीं मरता ॥२५॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

सूर सोम मणि अग्नि के निमित्त लखैं ये नैन ।
अंधकार में कित गयो उपादान दृग दैन ॥२६॥

ये नेत्र सूर्य, चन्द्रमा, मणि और अग्निके निमित्तसे देखते हैं। यदि विना निमित्तके देखा जा सकता है तो दृष्टि प्रदान करनेवाला उपादान अन्धकारमें कहाँ चला जाता है ॥२६॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

सूर सोम मणि अग्नि जो करे अनेक प्रकाश ।
नैनशक्ति विन ना लखैं अंधकार सम भास ॥२७॥

सूर्य, चन्द्रमा, मणि और अग्नि अनेकप्रकारका प्रकाश करते हैं तथापि देखनेकी शक्तिके विना दिखलाई नहीं देता, सब अन्धकारके समान भासित होता है ॥ २७ ॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहै निमित्त वे जीव को मो विन जगके माहिं ।
सबै हमारे वश परे हम विन मुक्ति न जाहिं ॥२८॥

निमित्त कहता है कि जगत्में ऐसे कौन जीव हैं जो मेरे विना हों ? सब जीव हमारे वश पड़े हुए हैं। मेरे विना मोक्ष भी नहीं जाते ॥ २८ ॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै रे निमित्त ! ऐसे बोल न बोल ।
तोको तज निज भजत हैं ते ही करें किलोल ॥२६॥

उपादान कहता है कि हे निमित्त ! ऐसी वाणी मत बोल । जो तुझे त्यागकर अपने आत्माका भजन करते हैं वे ही किलोल करते हैं—अनन्त सुखका भोग करते हैं ॥ २६ ॥

निमित्त की ओरसे प्रश्न

कहै निमित्त हमको तजैं ते कैसे शिव जात।
पंच महाव्रत प्रगट है और हु क्रिया विख्यात ॥३०॥

निमित्त कहता है कि जो हमारा त्याग कर देते हैं वे मोक्ष कैसे जा सकते हैं? मुक्तिके लिए निमित्तरूपसे पाँच महाव्रत तो प्रगट हैं ही और दूसरी क्रियायें भी प्रसिद्ध हैं ॥३०॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

पंच महाव्रत जोग त्रय और सकल व्यवहार।
परकौ निमित्त खपायके तब पहुंचे भव पार ॥३१॥

पाँच महाव्रत, तीन योग और सकल व्यवहाररूप जो पर-निमित्त है उसे खपा करके ही यह जीव संसारसे पार होता है ॥ ३१ ॥

[यहाँ पर पाँच महाव्रत आदिरूप बाह्य व्यापारसे चित्तवृत्ति हटाकर अन्तर्दृष्टि होना ही निमित्तोंको खपा देना है।]

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहै निमित्त जगमें बड़यौ मोतैं बड़ो न कोय।
तीन लोक के नाथ सब मो प्रसाद तैं होय ॥३२॥

निमित्त कहता है कि जगतमें मैं बड़ा हूँ, मुझसे बड़ा कोई नहीं है, जो जो तीन लोकके नाथ होते हैं वे सब मेरे प्रसादसे होते हैं ॥३२॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

उपादान कहै तू कहा चहुं गतिमें ले जाय।
तोप्रसाद तैं जीव सब दुःखी होहिं रे भाय ॥३३॥

उपादान कहता है कि तूँ कौन ? तूं ही तो चारों गतियोंमें लेजाता है। हे भाई! तेरे ही प्रसादसे सब जीव दुखी होते हैं ॥३३॥

[निमित्ताधीन दृष्टि होनेसे यह जीव चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है और अनन्त दुःखोंका पात्र होता है यह दिखलानेके लिए यहां पर ये कार्य व्यवहारनयसे निमित्तके कहे गये हैं]

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

कहै निमित्त जो दुख सहै सो तुम हमहि लगाय।
सुखी कौन तें होत है ताको देहु बताय ॥३४॥

निमित्त कहता है कि जीव जो दुख सहता है उसका दोष तुम हमी पर लगाते हो। किन्तु किस कारणसे जीव सुखी होता है उस कारणको भी तो बतलाओ ॥३४॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

जो सुख को तूं सुख कहै सो सुख तो सुख नाहिं।
ये सुख दुख के मूल हैं सुख अविनाशी माहिं ॥३५॥

जिस सुखको तूं सुख कहता है वह सुख सुख नहीं है। ये सांसारिक सुख दुखके मूल (कारण) हैं। सच्चा सुख अविनाशी आत्माके भीतर है ॥३५॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

अविनाशी घट घट वसे सुख क्यों विलसत नाहिं।
शुभ निमित्त के योग विन परे परे विललाहिं ॥३६॥

अविनाशी आत्मा घट-घटमें निवास करता है फिर सुख प्रकाशमें क्यों नहीं आता। शुभ निमित्तका योग न मिलनेसे परे परे विललाते हैं अर्थात् दुखी होते हैं ॥३६॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

शुभ निमित्त इस जीव को मिल्यो कइ भवसार।
पै इक सम्यग्दर्श विन भटकत फिर्यो गँवार ॥३७॥

इस जीवको शुभ निमित्त कई भवोंमें मिले, परन्तु एक सम्यग्दर्शनके विना यह मूर्ख हुआ भटक रहा है ॥३७॥

निमित्तकी ओरसे प्रश्न

सम्यग्दर्श भये कहा त्वरित मुक्ति में जाहिं।
आगे ध्यान निमित्त है ते शिव को पहुँचाहिं ॥३८॥

सम्यग्दर्शन होनेसे क्या जीव शीघ्र ही मोक्षमें चले जाते हैं? आगे भी ध्यान निमित्त है। वह मोक्षमें पहुँचाता है ॥३८॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

छोर ध्यान की धारणा मोर योग की रीत।
तोरि कर्म के जाल को जोर लई शिव प्रीत ॥३९॥

जो जीव ध्यानकी धारणाको छोड़कर और योगकी परिपाटीको मोड़कर कर्मके जालको तोड़ देते हैं वे मोक्षसे प्रीति जोड़ते हैं अर्थात् मोक्ष जाते हैं ॥३९॥

निमित्तकी हारमें उपादानकी जीत

तब निमित्त हार्यो तहाँ अब नहिं जोर बसाय।
उपादान शिवलोक में पहुँच्यो कर्म खपाय ॥४०॥

तब वहाँ निमित्त हार जाता है। अब उसका कुछ जोर नहीं चलता। और उपादान कर्मोंका क्षयकर शिवलोकमें पहुँच जाता है ॥४०॥

उपादान जीत्यौ तहां निज बल कर परकास।
सुख अनन्त ध्रुव भोगवै अन्त न वरन्यौ तास ॥४६॥

उस अवस्थाके होनेपर अपने बल (वीर्य) का प्रकाश कर उपादान जीत जाता है और उस अनन्त शाश्वत सुखका भोग करता है जिसका अन्त नहीं कहा गया है ॥४६॥

अन्तिम निष्कर्ष

उपादान अरु निमित्त ये सब जीवन पै वीर।
जो निज शक्ति संभार ही सो पहुंचै भवतीर ॥४७॥

उपादान और निमित्त ये सभी जीवोंके हैं, किन्तु जो वीर अपनी शक्तिकी सम्हाल करते हैं वे संसारसे पार होते हैं ॥४७॥

उपादानकी महिमा

'भैया'[1] महिमा ब्रह्म की कैसे बरनी जाय।
वचन अगोचर वस्तु है कहिबो वचन बताय ॥४८॥

हे भाई! ब्रह्म (आत्मा) की महिमाका कैसे वर्णन किया जाय? वचन-अगोचर वस्तु है, उसको वचन बनाकर कहा है ॥४८॥

संवादका फल

उपादान अरु निमित्त को सरस बन्यो संवाद।
समदृष्टि को सरल है मूरख को बकवाद ॥४९॥

उपादान और निमित्तका यह सरस संवाद बना है। यह सम्यग्दृष्टिके लिए सरल है। परन्तु मूर्ख (अज्ञानी) के लिए बकवाद प्रतीत होगा ॥४९॥

---

१. 'भैया' यह कविवरकी स्वयंकी उपाधि है। वे इस दोहेमें स्वयंको सम्बोधित करके कह रहे हैं।

संवादकी प्रामाणिकताका निर्देश

जो जानै गुण ब्रह्म के सो जानै यह भेद ।
साख जिनागमसो मिलै तो मत कीज्यो खेद ॥४५॥

जो ब्रह्मके गुणोंको जानता है वही इसके रहस्यको जानता है। इस (संवाद) को साक्षी जिनागमसे मिलती है इसलिए खेद नहीं करना ॥४५॥

ग्रन्थकर्ताका नाम और स्थान

नगर आगरा अग्र है जैनी जन को वास ।
तिह थानक रचना करी 'भैया' स्वमति प्रकाश ॥४६॥

आगरा नगर मुख्य है। वहाँ जैनी लोगोंका निवास है। उस स्थानमें भैया भगवतीदासने अपनी मतिके प्रकाशके अनुसार यह रचना की है ॥४६॥

रचनाकाल

संवत् विक्रम भूप को सत्तरहसै पंचास ।
फाल्गुन पहले पक्ष में दशों दिशा परकाश ॥४७॥

विक्रम सम्वत् १७५० के फाल्गुन मासके प्रथम पक्षमें दशों दिशामें प्रकाशके अर्थ इस संवादकी रचना की गई है ॥४७॥

कविवर भैया भगवतीदासने उपादान और निमित्तका यह संवाद लिखा है। यह केवल संवाद ही नहीं है। किन्तु इसमें उन्होंने विवेचनका जो क्रम रखा है उससे प्रतीत होता है कि संसारी जीवके मोक्षमार्गके सन्मुख होनेपर उसके मनसे निमित्तका विकल्प किस प्रकार हटकर उपादानका जोर बढ़ जाता है। उनके विवेचनकी खूबी यह है कि बाह्यमें कहाँ किस अवस्थाके

होनेमें कौन निमित्त है इसे भी वे बतलाते जाते हैं और साथ ही वे यह भी बतलाते जाते हैं कि उपादानकी तैयारी बिना तदनुरूप अन्तरङ्ग अवस्थाका प्रकाश होना त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है, इसलिए जो उपादानकी तैयारी है वही उस अवस्थाके प्रकाशका मुख्य हेतु है। यदि उपादानकी वैसी तैयारी न हो तो उस अवस्थाके अनुरूप निमित्त भी नहीं मिलते, इसलिए कार्य सिद्धिमें मुख्य प्रयोजक उपादानको ही समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीवको इस सत्यका दर्शन होजाता है, इसलिए वह अपने अन्तरंगकी तैयारीको ही कार्यका प्रयोजक मानकर उसीकी उपासनामें दृढ़ प्रतीज्ञ होता है। वह निमित्तोंके मिलानेकी फिक्रको छोड़ देता है। निमित्त पर हैं उनमेंसे कब कौन पदार्थ किस कार्यके होनेमें निमित्त होनेवाला है यह साधारणतया छद्मस्थके ज्ञानके बाहर है, क्योंकि जो पदार्थ लोकमें लघु माने जाते हैं वे भी कभी कभी उत्तम कार्यके होनेमें निमित्त होते हुए देखे जाते हैं। साथ ही जो पदार्थ लोकमें अमुक कार्यके होनेमें निमित्त रूपसे कल्पित किये गये हैं उनके सद्भावमें वह कार्य होता ही है यह निर्णय करना भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार जहाँ निमित्तोंके विषयमें यह स्थिति है वहाँ उपादानके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस उपादानसे जो कार्य होता है वह निश्चित है। इसलिये जो मोक्षमार्गके इच्छुक प्राणी हैं उन्हें निमित्त मिलानेकी फिक्र छोड़कर अपने उपादानकी सम्हालकी ओर ही ध्यान देना चाहिए। उसकी सम्हाल होनेपर निमित्तोंकी सम्हाल अपने आप हो जाती है। उनके लिए अलगसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उदाहरणार्थ मान लो एक आदमीको शव देखनेसे वैराग्य धारण करनेकी इच्छा हुई, दूसरे आदमीको अपना सफेद केश देखनेसे वैराग्यको धारण करनेकी इच्छा हुई, तीसरे आदमीको

घरकी कलहसे ऊबकर वैराग्यको धारण करनेकी इच्छा हुई और चौथे आदमीको दूसरेके वैभव देखनेसे वैराग्यको धारण करनेकी इच्छा हुई। अब यहाँपर विचार कीजिये कि ये सब वैराग्यको धारण करनेकी इच्छाके अलग अलग निमित्त होते हुए भी इनमेंसे किस निमित्तको बुद्धिपूर्वक मिलाया गया है। यहाँ यही तो कहा जायगा कि उन मनुष्योंके वैराग्यके योग्य भीतरकी तैयारी थी, इसलिये वैसी इच्छा होनेमें ये निमित्त होगये और यदि उस योग्य भीतरकी तैयारी न होती तो ये होते हुए भी निमित्त नहीं होते।

उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य बाह्यरूपमें मुनिलिङ्गको स्वीकार करता है पर उसके भावलिङ्ग नहीं होता। इसके विपरीत कोई मनुष्य जिस कालमें भावलिङ्गको स्वीकार करता है उस कालमें उसके द्रव्यलिङ्ग होता ही है। इससे स्पष्ट है कि उपादानके साथ कार्यकी व्याप्ति है निमित्तके साथ नहीं। इसलिए इससे यही तो निष्कर्ष निकला कि कार्यकी सिद्धिमें जैसा उपादानका नियम है वैसा निमित्तका कोई नियम नहीं है और जो जिसका नियामक नहीं वह उसका साधक नहीं माना जाता। अतएव कार्य अपने योग्य उपादानसे ही होता है यही निर्णय करना चाहिए। सम्यग्दृष्टिका यही भाव रहता है, इसलिए वह संसारसे पार हो जाता है और मिथ्यादृष्टि निमित्तोंकी उठाधरीमें लगा रहता है इसलिए वह संसारमें गोते लगाता रहता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव निमित्तोंकी उठाधरीकी फिक्रसे मुक्त होकर एकमात्र अपने उपादानकी सम्हाल करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। जिस प्रकार पण्डित प्रवर भैया भगवतीदासजी ने इस अन्तरंग रहस्यको प्रकाशमें लानेके लिए

यह संवाद लिखा है उसी प्रकार पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने भी इस विषयकी मीमांसा करते हुए सात दोहे लिखे हैं जो इस प्रकार है :—

[पण्डित प्रवर बनारसीदासजी]

निमित्तकी ओरसे अपना समर्थन

गुरु उपदेश निमित्त बिन उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पांव बिन चलवे को आधीन ॥१॥

हो जाने था एक ही उपादान सों काज।
थकै सहाई पौन बिन पानी मांहि जहाज ॥२॥

जैसे आदमी दूसरे पैरके बिना चलनेके लिए पराधीन है उसी प्रकार गुरुके उपदेशके बिना उपादान भी बलहीन है ॥१॥

अकेले उपादानसे ही कार्य हो जाना चाहिए था (परन्तु देखनेमें तो ऐसा आता है कि) पानीमें पवनकी सहायताके बिना जहाज थक जाता है ॥२॥

उपादानकी ओरसे उत्तर

ज्ञान नैन किरिया चरण दोऊ शिवमग धार।
उपादान निश्चय जहां तहां निमित्त व्यवहार ॥३॥

सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र और सम्यक्चारित्र रूपी पग ये दोनों मिलकर मोक्षमार्गको धारण करते हैं। जहां उपादानस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहां निमित्तस्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग होता ही है ॥३॥

उक्त तथ्यका पुनः समर्थन

उपादान निजगुण जहां तहं निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाणविधि विरला बूझे कोय ॥४॥

जहाँ पर उपादानस्वरूप आत्मगुण होता है वहाँ परपदार्थ निमित्त स्वतः होता है। यह भेदज्ञानरूप प्रमाणकी विधि है। इसे कोई विरला (भेदज्ञानी) जीव ही जानता है ।।४।।

[निश्चयनय केवल उपादानको स्वीकार करता है और व्यवहारनय निमित्तको स्वीकार करता है । किन्तु प्रमाण इन दोनोंको स्वीकार करता है सो उसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पर उपादान कार्यरूप परिणत होता है वहाँ पर परपदार्थ, स्वयमेव निमित्त होता है। उसे जुटाना नहीं पड़ता ।]

कार्यका विवेक

उपादान बल जहं तहां नहिं निमित्त को दाव ।
एक चक्र सां रथ चले रविको यहै स्वभाव ।।५।।

जहाँ तहाँ उपादानका बल है। निमित्तका दाव नहीं लगता, क्योंकि सूर्यका यही स्वभाव है कि उसका रथ एक चक्रसे चलता है ।। ५ ।।

[यहाँ उक्त कथन द्वारा यह दिखलाया गया है कि उपादान स्वयं कार्यरूप होता है। कार्यरूप होनेमें निमित्तको कोई स्थान नहीं। वह कार्यके होनेमें निमित्त है इतने मात्रसे यह नहीं कहा जा सकता कि उससे कार्य होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तु व्यवस्थाका कोई नियामक नहीं रह जाता ।]

सधै वस्तु असहाय जहां तहां निमित्त है कौन ।
ज्यों जहाज परवाह में तिरै सहज विन पौन ।।६।।

जिस प्रकार पानीके प्रवाहमें जहाज विना पवनके सहज चलता है उसी प्रकार जहाँ प्रत्येक कार्यकी दूसरेकी सहायताके

विना सिद्धि होती है वहाँ निमित्त कौन होता है ॥६॥

[यहाँपर वस्तुका असहाय स्वभाव बतलाया गया है। उत्पाद और व्यय यह पानीका प्रवाह है तथा वस्तु यह जहाज है। जिस प्रकार पानीके प्रवाहमें जहाज स्वभावसे गमन करता है उसी प्रकार वस्तु अपनी योग्यतासे सदृशपने ध्रुव रहकर उत्पाद-व्ययरूप प्रवाहमें वहती है। अन्यकी सहायता मिले तो यह परिणमन हो और अन्यकी सहायता न मिले तो परिणमन न हो ऐसा नहीं है। इसलिए वस्तुस्वभावकी दृष्टिसे प्रत्येक परिणमन स्वभावसे ही होता है। ऐसा समझना चाहिए।]

उपादान विधि निरवचन है निमित्त उपदेश।
वसै जु जैसे देश में धरे सु तैसे भेष ॥७॥

उपादान विधि निर्वचन है और निमित्त कथन मात्र है। जो जैसे देशमें (जिस अवस्थामें) निवास करता है (रहता है) वह उसी भेषको (उसी अवस्थाको) स्वयं धारण करता है ॥७॥

—:❀❀:—